

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



एम.ए. (पूर्वाब्ध)

विषय : राजनीति विज्ञान

प्रथम पत्र : राजनीतिक सिद्धांत

संवर्ग

- संवर्ग-1 राजनीतिक सिद्धान्त, लोकतंत्र, अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, न्याय, कर्तव्य बोध, नागरिकता।
- संवर्ग-2 सम्प्रभुता, राज्य और नागरिक समाज, सत्ता और प्राधिकार, वैधीकरण या बाध्यीकरण, सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह, राजनीतिक हिंसा
- संवर्ग-3 क्लासिकी उदारवाद, कल्याणकारी राज्य, स्वतंत्रतावाद, मार्क्सवाद-1, मार्क्सवाद-2, समाजवाद
- संवर्ग-4 रुढ़िवाद, कट्टरतावाद, राष्ट्रवाद, बहुसांस्कृतिवाद, फासीवाद, नारीवाद
- संवर्ग-5 गांधीवाद तथा शांतिवाद, जनसमुदाय तथा गणतंत्रवाद, भूमण्डलीकृत विश्व में राजनीतिक सिद्धान्त

Expert Committee

Sr.No.	Name	Designation	Organization
1.	Prof. K.S. Saxena	Retd. Professor	Rajasthan University, Jaipur
2.	Prof. Kanta Katariya	Professor	Jai Narayan Vyas University, Jodhpur
3.	Dr. Rajesh Sharma	Associate Professor	Rajasthan University, Jaipur
4.	Prof. Anil Dhar	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
5.	Dr. Jugal Kishore Dadhich	Associate Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
6.	Prof. A.P. Tripathi	Professor,	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN No. - 978-93-83634-54-5

लेखक

डॉ. मधुबाला बारैठ

सहायक आचार्य, एस.एस. जैन सुबोध कॉलेज, रामबाग, सर्किल
जयपुर (राजस्थान)

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 750

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :

आदित्य प्रिन्टर्स एवं स्टेशनर्स, जयपुर

विषय-सूची

क्र. सं.	ईकाई	पृष्ठ संख्या
1-	राजनीतिक सिद्धांत क्या है इसका अध्ययन क्यों करें?	01-05
2-	लोकतंत्र	06-18
3-	अधिकार	19-25
4	स्वतंत्रता	26-30
5	समानता	31-34
6	न्याय	35-40
7	कर्तव्य बोध	41-43
8	नागरिकता	44-48
9	सम्प्रभुता	49-53
10	राज्य व नागरिक समाज	54-57
11	शक्ति एवं सत्ता	58-61
12	वैधीकरण व राजनीतिक दायित्व	62-65
13	सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा	66-71
14	राजनीतिक हिंसा	72-77
15	परंपरागत उदारवाद	78-81
16	कल्याणकारी राज्य	82-86
17	स्वेच्छातंत्रवाद	87-90
18	माक्सवाद-1 : माक्स, लेनिन, माओ	91-101
19	माक्सवाद-2 : ल्यूकॉच, ग्राम्स्की और फ्रैंकफर्ट स्कूल	102-107
20	समाजवाद	108-112

21	रुढ़िवाद	113-115
22	कट्टरतावाद	116-117
23	राष्ट्रवाद	118-121
24	बहुसंस्कृतिवाद	122-124
25	फासीवाद	125-128
26	नारीवाद	129-132
27	गांधीवाद तथा शांतिवाद	133-135
28	समुदायवाद व नागरिक गणतंत्रवाद	136-139
29	भूमंडलीकरण विश्व में राजनीतिक सिद्धान्त	140-142

राजनीतिक सिद्धान्त क्या है इसका अध्ययन क्यों करें?

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ स्वरूप

1.4 परंपरा व शास्त्री राजनीतिक सिद्धान्त

1.4.1 आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त

1.4.2 समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त

1.4.3 राजनीतिक सिद्धान्त का विषय क्षेत्र

1.4.4 राजनीतिक सिद्धान्त की सार्थकता

1.5 निष्कर्ष

1.1 उद्देश्य— प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत यह समझाने का प्रयास किया जाएगा कि—

- राजनीतिक सिद्धान्त क्या है?
- राजनीतिक सिद्धान्त का विकास किस प्रकार हुआ?
- राजनीति सिद्धान्त के विभिन्न क्षेत्र में किस प्रकार का अध्ययन किया गया?
- वर्तमान युग में राजनीति सिद्धान्त व राजनीतिक दर्शन की रूप में राजनीति सिद्धान्त की क्या सार्थकता है?

1.2 प्रस्तावना— मानव जीवन के विविध पक्ष हैं यथा सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक धार्मिक तथा राजनीतिक। राजनीति सिद्धान्त मानव के जीवन के राजनीतिक पक्ष को विभिन्न वैज्ञानिक वह तार्किक तरीके से समझने का एक प्रयास है। अतीत काल से लेकर वर्तमान तक न केवल युगों व परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ वरन् राजनीतिक सिद्धान्त की अवधारणा में भी परिवर्तन हुआ। जैसे राज्य का स्थान राजनीतिक व्यवस्था ने तथा भ्रातृत्व का स्थान सामाजिक पूंजी ने ले लिया है। इसी प्रकार से कई नवीन विचारधाराओं का उदय हुआ है। जैसे समतावाद, स्वेच्छातंत्रवाद, समुदायवाद।

1.3 राजनीति सिद्धान्त का अर्थ व स्वरूप— आज के युग में 'राजनीति सिद्धान्त' शब्दावली का प्रयोग विस्तृत अर्थ में होता है। राजनीति सिद्धान्त, राजनीति के अथवा उसके विषय से जुड़ा एक सिद्धान्त है। यह राजनीति का विज्ञान है, उसका दर्शन है। और उसका इतिहास भी है। अपने शाब्दिक रूप में यह दो शब्दों से मिलकर बना है, राजनीति व सिद्धान्त। सामान्यतः राजनीति से तात्पर्य एक ऐसी प्रक्रिया से है। जिसमें समाज के दुर्लभ संसाधनों पर आधिपत्य जमाने हेतु दो या दो से अधिक पक्षों द्वारा सहयोग व प्रतिस्पर्धा की माननीय गतिविधि का संचालन किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि राजनीति का सम्बन्ध तनावों, प्रतिस्पर्धा व सहयोग के तत्वों से होता है। तनाव क्योंकि राजनीति का उदय विभिन्न विचारों, विरोधी हितों, प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्तियों, अलग-अलग प्राथमिकताओं व जरूरतों के कारण होता है, सहयोग क्योंकि राजनीति इस तथ्य को स्वीकार करती है कि मिलजुल कर एक साथ काम करना सदैव अच्छा होता है, सांझी क्रियाओं से ही किसी लक्ष्य की प्राप्ति होती है। विभिन्न विचारों के राजनीतिक को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है यथा—

हन्ना ओरंट के अनुसार "राजनीति मिलजुल कर काम करने की कला है। यह एक ऐसी कला है जिसके द्वारा तनावों का निपटारा किया जाता है, हितों में सामंजस्य पैदा किया जाता है, निर्णय निर्माण किये जाते हैं।"

वील के अनुसार "राजनीति सामूहिक चयन की वह प्रक्रिया है, जो भिन्न-भिन्न विचारों में तालमेल बिटाती है। तथा जो सूझ-बूझ, सौदेबाजी, विचार विमर्श तथा सम्मति के माध्यमों से निर्णय कराती है।"

इसी प्रकार से सिद्धान्त को कई बार सामान्यीकरणों के एक समूह के रूप में जाना जाता है। अर्थात् सिद्धान्त किसी समस्या के समाधान के लिए प्रस्तावित चिन्तन या विचार के लिए प्रयुक्त क्रमबद्ध ज्ञान है। अतः इस प्रकार राजनीति सिद्धान्त राजनीति के भिन्न-भिन्न पक्षों का क्रमबद्ध व व्यवस्थित अध्ययन है। राजनीति विज्ञान शब्दकोष के अनुसार "राजनीति सिद्धान्त राजनीतिक घटनाचक्र का मूल्यांकन है, उसकी व्याख्या तथा उसकी भविष्यवाणी करने वाले चिन्तन का समूह है।

डेविड हैल्ड ने अपनी पुस्तक "Political Theory Today" में लिखा है कि "राजनीति सिद्धान्त राजनीतिक जीवन विषयक अवधारणाओं व सामान्य सिद्धान्त का ताना-बाना है। जिसमें हम सरकार, राज्य व समाज की मुख्य विशेषताओं

उनकी प्रकृति व उद्देश्य से सम्बन्धित विचारों, मान्यताओं व वक्तव्यों तथा मनुष्यों के राजनीतिक सामर्थ्य का अध्ययन करते हैं।”

एण्ड्यू हैकर के अनुसार “राजनीति सिद्धान्त एक ओर बिना किसी पक्षपात के अच्छे राज्य तथा अच्छे समाज और दूसरी ओर राजनीतिक एवं सामाजिक वास्तविकताओं की पक्षपातरहित जानकारी की तलाश है।”

इसी प्रकार सेबाइन ने अपने लेख “What is Political theory” में कहा है कि “व्यापक अर्थों में राजनीति सिद्धान्त राजनीति से सम्बन्धित अथवा राजनीति से प्रासंगिक है तथा संकीर्ण अर्थों राजनीति सिद्धान्त राजनीतिक समस्याओं की विधिवत छानबीन है।” अतः इस प्रकार समाज के सारे सदस्यों के लिए नियमों का निर्माण, सबके अधिकार कर्तव्यों व दायित्वों का निर्धारण, सावर्जनिक जीवन को उन्नत करने के उपाय इत्यादि के लिए किन तात्त्विक नियमों का पालन किया जाता है, और किया जाना चाहिए इन सबका क्रमबद्ध व्यवस्थित व वैज्ञानिक अध्ययन ही राजनीति सिद्धान्त है।

राजनीति सिद्धान्त में तीन प्रमुख कृत्य स्वीकार किये जाते हैं—

1. वर्णन (Description)
2. समालोचना (Criticism)
3. पुनर्निर्माण (Reconstruction)

इन कृत्यों के आधार पर राज सिद्धान्त के दो मुख्य अंग माने जा सकते हैं—

1. **राजनीति विज्ञान**— इसके अन्तर्गत राजनीति सिद्धान्त के वर्णन कृत्य को सम्पादित किया जाता है।
2. **राजनीति दर्शन**— इसके अन्तर्गत राजनीति सिद्धान्त के समालोचना व पुनर्निर्माण के कृत्य पर बल दिया जाता है। अतः इस प्रकार “उत्तम जीवन क्या है” यह राजनीति दर्शन या चिन्तन का विषय है। तो उत्तम जीवन को किस प्रकार से स्थापित या प्राप्त किया जाए। ये राजनीति विज्ञान का कार्यक्षेत्र है। एक विज्ञान के रूप में बिना कोई प्रत्यक्ष एवं परोक्ष टिप्पणी किए। राजनीति सिद्धान्त राजनीतिक वास्तविकताओं पर उनका विवरण प्रदान करता है। तथा एक दर्शन के रूप में राजनीति सिद्धान्त सभी के लिए एक बेहतर व उत्तम जीवन तथा उचित व्यवहार के नियम सुझाता है। राजनीति सिद्धान्त के विकास व सार को ध्यान में रखते हुए उसे तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है— शास्त्रीय राजनीति सिद्धान्त, आधुनिक राजनीति सिद्धान्त व समकालीन राजनीति सिद्धान्त। हर श्रेणी की अपनी अलग विशिष्टताएं देखी जा सकती है —

1.4 परम्परागत या शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धान्त:— परम्परागत राजनीति सिद्धान्त का उदय पश्चिम में यूनानी विचारकों, सुकरात, प्लेटो, अरस्तु से माना जा सकता है। यह श्रेणी 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से 19वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक देखी जा सकती है। इस श्रेणी की निम्न विशेषताएं थी—

1. जन सामान्य से जुड़ी बातों के विषय में विश्वस्त जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया क्रमबद्ध अन्वेषण।
2. यूनानी “पॉलिस”, रोमन, “रैस पब्लिका”, तथा मध्यकाल में “कॉमनवील” शब्दों का प्रयोग यह बोध कराता है कि इस काल में राजनीति से तात्पर्य सामान्य या सार्वजनिक भागेदारी था।
3. परम्परागत राजनीति सिद्धान्त राज्य रूपी सम्पूर्ण तत्व के अध्ययन को महत्व देता था। तथा उसके अंगों द्वारा क्या कार्य किये जायेंगे, उसके अन्तर्गत शासक-शासितों के कैसे सम्बन्ध होंगे। इत्यादि अध्ययन के महत्वपूर्ण विषय माने गये।
4. परम्परागत राजनीति सिद्धान्त राज्य के अध्ययन पर केन्द्रित होने के कारण राज्य में स्थिरता, सन्तुलन सामंजस्य बनाए रखने पर जोर देता था। यही कारण है कि पारम्परिक राजनीतिक विचारकों ने संघर्ष अराजकता, अस्थिरता के कारणों पर न केवल विचार किया अपितु उनसे बचने के उपायों को सुझाने पर जोर दिया।
5. परम्परागत राजनीति सिद्धान्त अधिकांशतः नैतिक व आदर्शात्मक था। इसमें राजनीतिक दर्शन व चिन्तन पर बल दिया गया। यह सभी समस्याओं के समाधान में नैतिकता पर बल देता था जैसे प्लेटो व अरस्तु जहां आदर्श नैतिक राज्य पर बल देते थे वहीं सेंट आगस्टाइन ने ईश्वर कृत राज्य को आदर्श बताया। परम्परागत राजनीति सिद्धान्त में तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया गया। सरकार के विभिन्न रूपों की खोज करना। तथा राजनीतिक प्रणालियों को वर्गों में विभाजित करना। तथा विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन कर सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक प्रणाली की खोज करना आदि। इस राजनीति सिद्धान्त की विशेषताएं रहीं।

1.4.1 आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त:— इस श्रेणी की शुरुआत 19वीं सदी के मध्य से मानी जा सकती है। यह प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद, विज्ञानवाद, व्यवहारवाद व उत्तर व्यवहारवाद यह प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद, विज्ञानवाद, व्यवहारवाद व उत्तर

व्यवहारवाद जैसी अवधारणाओं पर आधारित था। आधुनिक राजनीति सिद्धान्त उदारवादी व मार्क्सवादी दो मुख्य किन्तु विपरित मुख्य धाराओं का संयोजन था। जिन्हें निम्न विशेषताओं से युक्त माना गया—

(क) उदारवादी राजनीति सिद्धान्त— उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित था यथा—

1. मानवीय व्यवहार के अध्ययन पर केन्द्रित। मानव व्यवहार का अध्ययन किया जा सकता है व उसकी निश्चित नियमितता का सामान्यीकरण सम्भव है।
2. तथ्य व आंकड़े अध्ययन का आधार हैं, तथ्यों का संग्रहीकरण किया जा सकता है, उनकी व्याख्या की जा सकती है व उनकी कसौटी पर परिकल्पनाओं का परीक्षण किया जा सकता है।
3. तथ्य व मूल्य पृथक-पृथक होते हैं। तथ्य मूल्यविहिन होकर ही समझे जा सकते हैं तथा तथ्यों के शोध के फलस्वरूप ही सिद्धान्तों का निर्माण सम्भव है।
4. तथ्यों को अनुसंधान के मार्ग द्वारा विज्ञान की प्रविधि में लाया जा सकता है। वैज्ञानिक पद्धति सुस्पष्ट, वस्तुपरक व मात्रात्मक होती है।
5. राजनीतिक गतिविधियां सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक मनोवैज्ञानिक, पर्यावरणीय आदि गतिविधियों से प्रभावित होती हैं। इसलिए अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन से बेहतर निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।
6. मूल्यों को सार्थकता तथ्यों के समर्थन पर, प्रारूप की सार्थकता सार के समर्थन पर तथा सिद्धान्त की सार्थकता शोध के समर्थन पर होती है।

(ख) मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त— राजनीतिक सिद्धान्त का यह स्वरूप निम्न मान्यताओं पर आधारित है—

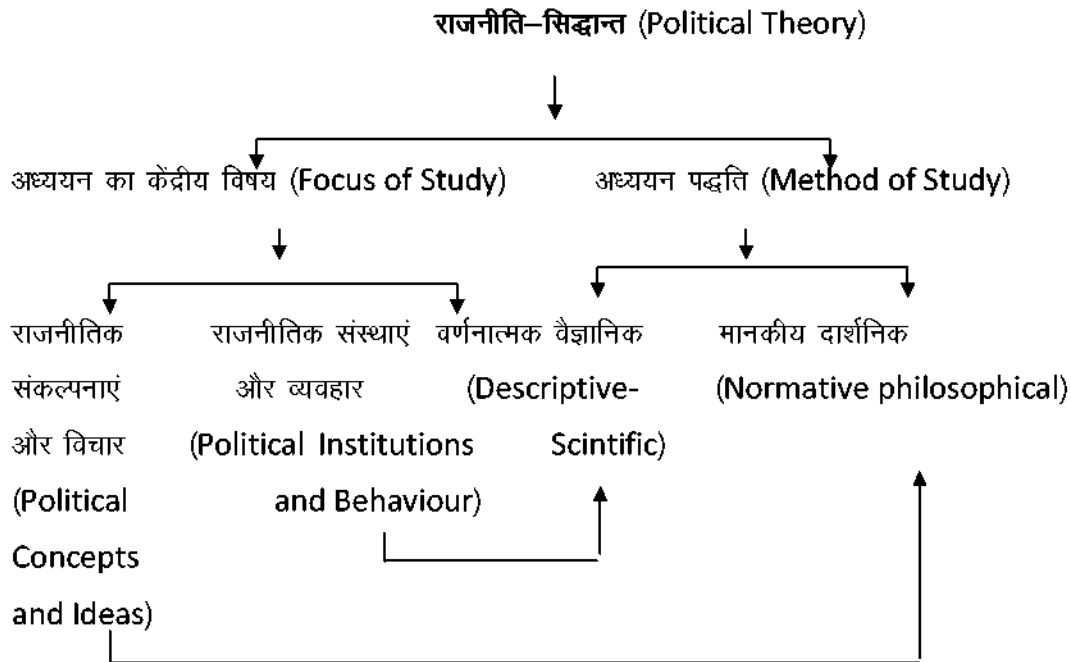
1. कोई भी तत्व स्थायी नहीं होता, सब कुछ परिवर्तनशील होता है।
2. यह प्रत्येक तत्व के स्वरूप में है कि वह अपने विकास में निम्नतर चरण से उच्चतर चरण की ओर बढ़ता रहता है। अर्थात् विकास की दिशा आगे की ओर है पीछे की ओर नहीं। पदार्थ व चिन्तन में पदार्थ प्रधान है क्योंकि पदार्थ उत्पादन कार्य करता है जबकि चिन्तन मात्र सोच विचार करता है। पदार्थ में विकास का आंतरिक कारण है जिसे द्वन्द्वात्मक तरीके से समझा जाता है। यह द्वन्द्वात्मक पद्धति त्रिस्तरीय विकास है जिसे हीगल वाद प्रतिवाद संवाद कहता है।
3. जबकि मार्क्स इसे उत्पादकीय सम्बन्ध उत्पादकीय शक्तियां व उत्पादन का नया तरीका कहता है।
4. सभी प्रकार की संरचना का अपना आधार होता है। संरचना आधार के अनुरूप होती है, आधार में परिवर्तन संरचना में परिवर्तन लाता है। समाज रूपी संरचना का आधार भौतिक होती है तथा उस पर बनी संरचनाएं उस भौतिक आधार के अनुरूप होती हैं।
5. राजनीति, समाज में वर्गीय व्यवस्था को सुदृढ़ बनाती है और राज्य वर्गीय समाज की वर्गीय संस्था है।
6. राजनीति दुधारी तलवार है, यह विनाशकारी कार्य भी करती है और रचनात्मक कार्य भी। अपने से पहले के समाज की व्यवस्थाओं का विनाश करना तथा तत्कालीन समाज की व्यवस्थाओं का निर्माण करना उसका रचनात्मक कार्य है।
7. वर्गविहिन समाज में राज्य लुप्त हो जायेगा तथा वहां राजनीति का कोई स्थान ही होगा।

1.4.2 समकालीन राजनीति सिद्धान्त— 20वीं शताब्दी के 7-8वें दशक में समकालीन राजनीति सिद्धान्त की उत्पत्ति देखी गयी। जहां परम्परागत राजनीति सिद्धान्त पर राजनीति दर्शन का प्रभाव देखा गया वही आधुनिक राजनीति सिद्धान्त में मुख्यतः राजनीति विज्ञान का प्रभाव रहा। दर्शन पर अति निर्भरता राजनीति सिद्धान्त को अप्रासंगिक बना देती है तथा विज्ञान पर अधिक निर्भरता राजनीति सिद्धान्त को उद्देश्यों से दूर ले जाती है क्योंकि राजनीति सिद्धान्त का उद्देश्य अतीत के अनुभवों के आधार पर वर्तमान की संरचना करना है। अतः समकालीन राजनीति सिद्धान्त अनुभववादी विश्लेषण तथा तर्क व नैतिकता पर आधारित विचारों को एक साथ लेने पर बल देते हुए परम्परागत व आधुनिक राजनीति सिद्धान्त दोनों की विशेषताओं को अपनाने का प्रयास है। जैसे—

1. समकालीन राजनीति सिद्धान्त में सम्प्रभुता, लोकतंत्र, न्याय आदि अवधारणाओं के अर्थ व वर्गीकरण शामिल किये गये।
2. इसमें सैद्धान्तिक प्रश्नों व विशिष्ट राजनीतिक विषयों पर चर्चा को फिर से उठाया गया।
3. इसमें विचारधारा के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि उससे पूर्वाग्रह आ जाते हैं। इसमें विचारधाराओं से मुक्त होकर खुलकर विभिन्न विषयों की प्रासंगिक चर्चा पर बल दिया गया।

4. अर्थशास्त्र एवं तत्संगत चयन सिद्धान्त और खेल सिद्धान्त से प्रभावित होते हुए इसमें राजनीतिक घटनाक्रम के व्यवस्थित प्रतिमान बनाने का प्रयास किया गया।
5. इसमें नैतिकता व राजनीतिक गतिविधियों के मूलभूत ढांचे का व्यवस्थित विस्तार करते हुए राजनीतिक मूल्यों का उद्घाटन व उन पर व्यापक पुनर्विचार व पुनर्रचना भी शामिल है।

1.4.3 राजनीति सिद्धान्त का विषय क्षेत्र (Scope of Political Theory)



सामान्यतः राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत दो तत्वों का अध्ययन किया जाता है—

(क) अध्ययन का विषय

(ख) अध्ययन पद्धति

(क) **अध्ययन का विषय**— राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीतिक संकल्पनाओं, विचारों, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक व्यवहार का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। इसके अध्ययन के विषयों की विविधता को देखते हुए कहा जा सकता है कि राजनीति सिद्धान्त ऐतिहासिक है क्योंकि यह व्याख्या करता है, यह वैज्ञानिक है क्योंकि यह राजनीतिक तत्वों को समझने-समझाने में सहायता करता है। तथा यह निर्देशात्मक है क्योंकि यह मार्ग दर्शन करता है।

(ख) **अध्ययन पद्धति**— राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीतिक जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियों के अध्ययन के लिए उपयुक्त पद्धतियों का चयन व प्रयोग किया जाता है। इसमें पद्धतियों का चयन अध्ययन विषय के अनुरूप किया जाता है। जैसे कि यदि राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीति व्यवहार के अध्ययन के लिए वर्णनात्मक-वैज्ञानिक पद्धति प्रयुक्त की जाती है वही राजनीतिक संकल्पना एवं विचारों को मानवीय दार्शनिक से समझा वह समझाया जाता है।

अतः इस प्रकार राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग राजनीति विज्ञान को जन्म देता है वहीं मानकीय दार्शनिक पद्धतियों का प्रयोग राजनीति सिद्धान्त में राजनीति दर्शन के अध्ययन अध्यापन को सार्थक बनाता है।

1.4.4 राजनीति सिद्धान्त की सार्थकता— राजनीति सिद्धान्त का एक व्यापक व विस्तृत अर्थ क्षेत्र है क्योंकि यह अपने भीतर राजनीति विज्ञान व राजनीति दर्शन/चिन्तन दोनों को समाहित करता है। और राजनीति सिद्धान्त की सार्थकता या प्रासंगिकता राजनीति विज्ञान व राजनीति दर्शन दोनों की ही सार्थकता का समन्वित रूप है। राजनीति विज्ञान की सार्थकता के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जैसे भूविज्ञान से भूकम्प या आर्युविज्ञान से स्वास्थ्य व रोगों की जानकारी प्राप्त होती है उसी प्रकार से राजनीति विज्ञान से राजनीतिक जीवन के संघर्ष व हिंसा के कारणों का पता चलता है और उनके रोकथाम के उपायों की जानकारी मिलती है और क्योंकि मानव सभ्यता में संघर्ष व हिंसा का निवास आदि काल से रहता चला आ रहा जिससे राजनीति विज्ञान की सार्थकता स्वतः सिद्ध है दूसरी तरफ राजनीति दर्शन में मानव जीवन के उद्देश्यों व उनकी पूर्ति के उपायों के विषय में कई तरह के निर्देश मिलते हैं। अतः मानव जीवन के लिए ये मार्गदर्शन भी सार्थक व प्रासंगिक माना जाता रहा है। अतः इस प्रकार राजनीति सिद्धान्त समस्त इतिहास नहीं है परन्तु यह सीमित रूप में इतिहास है यह समस्त दर्शन नहीं परन्तु कुछ सीमा तक उसमें दर्शन (मानकों मूल्यों व आदर्शों के रूप में) भी देखा जा सकता है, यह समस्त विज्ञान नहीं

है परन्तु यह उस सीमा तक विज्ञान है जहां तक यह विवेक के अनुरूप है, तार्किक है। अतः इस प्रकार राज. सिद्धान्त के महत्त्व, सार्थकता व उपयोगिता को निम्न ठोस बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है:-

1. राजनीति सिद्धान्त एक नीतिशास्त्र भी है। यह उन आदर्शों की रूपरेखा है जिनके आधार पर मनुष्यों, घटनाओं व आन्दोलनों को परखा जाता है।
2. राजनीति सिद्धान्त एक क्रिया भी है जो संस्थाओं में सुधार क्रांति एवं संरक्षण के साधनों का निर्धारण करती है। यह एक कार्यक्रम बनाती है जिसमें साध्य व साधन दोनों समाहित होते हैं। यह ऐतिहासिक स्तरों का निर्माण करती है जिनके आधार पर आदर्शों की प्राप्ति तथा उन्हें पाने के बाद उनका अनुरक्षण करने की योजना प्रस्तावित करती है।
3. राजनीति सिद्धान्त लोगों को परस्पर विचार विमर्श व चर्चा परिचर्चा के लिए प्रेरित करता है। जिससे परस्पर संवाद स्थापित होने पर उनके मन में एक दूसरे के प्रति सदभावना, सम्मान व सहिष्णुता की प्रवृत्तियों को बल मिलता है। और यही भावना राजनीति सिद्धान्त के अध्ययन को सार्थक कर देती है।
4. राजनीति सिद्धान्त राजनीतिक शब्दावली व उससे जुड़ी संकल्पनाओं का सही-सही अर्थ स्पष्ट करके इनके अर्थ स्थिर करने का प्रयास करता है जो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले लोगों को समान रूप से मान्य हो। डी.डी. रफील ने अपनी महत्वपूर्ण कृति "The Problems of Political Philosophy (1976) में लिखा है। संकल्पनाओं के स्पष्टीकरण का कार्य "घर की सफाई" के समान है जिससे किसी नई वस्तु का निर्माण तो नहीं होता किन्तु इससे धूल-मिट्टी और कुड़ा-ककट हट जाते हैं। उसी प्रकार से राजनीतिक संकल्पनाओं से जुड़ी हुई दुविधाओं और भ्रांतियों को दूर करके संकल्पनाओं के विश्लेषण में निखार लाया जा सकता है।
5. राजनीति सिद्धान्त के अध्ययन से इतिहास की व्याख्या करने में सहायता मिलती है। किसी युग विशेष में प्रचलित राजनीति सिद्धान्त से तात्कालीन बौद्धिक वातावरण, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक संकल्पनाओं, आन्दोलनों से जुड़े विचारों का पता चलता है। इसी प्रकार से मानव सभ्यता की अनेक वर्तमान समस्याएं अतीत संकल्पनाएं जैसे- विधि का शासन, न्याय की अवधारणा, क्रांति सम्बन्धी विचार, शक्ति पृथक्करण इत्यादि सिद्धान्त अतीत के चिन्तन की देन हैं।
6. राजनीति सिद्धान्त के अध्ययन से पता चलता है कि मानव प्रकृति, नागरिकों के दायित्वों व अधिकारों तथा न्याय के सिद्धान्तों इत्यादि प्रश्नों पर अतीत के महान दार्शनिकों ने किस-किस प्रकार के विचार प्रकट किये। शासन के उद्देश्यों व उनकी पूर्ति के उपायों की समस्या पर युग-युगान्तर व देश देशान्तर के राजनीतिक दार्शनिकों ने जो विचार प्रस्तुत किए उनकी जांच परख करके एक ऐसी सार्वजनिक नीति का निर्माण करने में सहायता मिलती है जो समकालीन समाज के लिए प्रासंगिक हो व उपयुक्त हो।

1.5 निष्कर्ष- अतः इस प्रकार हमने देखा कि यह राजनीतिक सिद्धान्त की शुरुआत राजनीतिक दर्शन से हुई और कालांतर में अपनी आवश्यकता के अनुरूप इसमें अपना स्वरूप वैज्ञानिक कर लिया वस्तु तो राजनीति सिद्धान्त की सहायता इसी में निहित है जिसके द्वारा राजनीतिक दर्शन वह राजनीतिक विज्ञान को संतुलित रूप से विकसित किया जाए।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ व स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसकी सार्थकता बताइए?
2. परंपरा व आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त क्या है? इसके विशेषताओं का वर्णन कीजिए?
3. राजनीतिक सिद्धान्त के विचार क्षेत्र पर एक लेख लिखिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीति सिद्धान्त का अर्थ व स्वरूप बताइए?
2. परंपरागत राजनीतिक सिद्धान्त क्या है समझाइए?
3. समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त के लक्षण बताइए?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीति सिद्धान्त की परिभाषा दीजिए?
2. राजनीति विज्ञान व राजनीतिक दर्शन में क्या अंतर है?
3. समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त की दो विशेषताएं बताइए?

इकाई-2

लोकतंत्र

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 लोकतंत्र: अर्थ व परिभाषा

2.3.1 लोकतंत्र निर्णय करने की विधा है।

2.3.2 लोकतंत्र निर्णय लेने की सिद्धांत के रूप में

2.3.3 लोकतंत्र आदर्श मूल्यों के समूह के रूप में

2.3.4 लोकतंत्र जीवनशैली के रूप में

2.3.5 लोकतंत्र की परिभाषा

2.4 लोकतंत्र के दृष्टिकोण

2.4.1 लोकतंत्र का पश्चिमी या उदारवादी दृष्टिकोण

2.4.2 लोकतंत्र का साम्यवादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण

2.4.3 लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण

2.4.4 लोकतंत्र के चरण या लहरें

2.5 लोकतंत्र के सिद्धांत

2.5.1 लोकतंत्र का परंपरागत सिद्धांत

2.5.2 लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धांत

2.5.3 लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धांत

2.5.4 लोकतंत्र का सहभागी सिद्धांत

2.6 लोकतंत्र के प्रकार

2.7 लोकतंत्र के गुण व दोष

2.8 लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

2.9 निष्कर्ष

2.1 उद्देश्य- प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य सर्वाधिक सफल शासन व्यवस्था लोकतंत्र की विशद व्याख्या करना है। जिससे की अध्ययन कर्ता जान सके कि-

- लोकतंत्र क्या है तथा इसके विभिन्न सिद्धांत कौन-कौन से हैं ।
- लोकतंत्र की विशेष में कौन-कौन से सिद्धांत प्रचलित रहे।
- लोकतंत्र के गुण दोषों का विश्लेषण कर इसकी सफलता के लिए आवश्यक परिस्थितियों को जाना जा सके।

2.2 प्रस्तावना- प्रस्तावना समकालीन युग लोकतंत्र का युग है। सत्ता तथा जनता के बीच घनिष्ठ एवं अत्यंतिक संबंध स्थापित करने वाली एक प्रणाली के रूप में लोकतंत्र सभी देशों में एक अनिवार्य एवं नितांत वांछित आवश्यकता के रूप में है। सत्ता में जन सहभागिता सुनिश्चित कराने वाली यह व्यवस्था लोकप्रिय संप्रभुता की द्योतक तक है। प्लेटो से लेकर अब तक राजनीतिक सिद्धांत में लोकतंत्र सर्वाधिक चर चर्चित विषय रहा है। **रोबर्ट. ए. डौहल** ने लोकतंत्र को **बहुलतंत्र** कहा है। अन्य विद्वानों ने इसे जनतंत्र, लोकतंत्र, राष्ट्रीय प्रजातंत्र, पंचायती प्रजातंत्र इत्यादि कई नामों से पुकारा है। इस विभिन्न नामों के प्रयोग के कारण लोकतंत्र के स्वरूप में अस्पष्टता, अनिश्चितता, भ्रांति तथा वैचारिक कठिनाइयां उत्पन्न हो रही है। इसलिए **सारटोरी** ने वर्तमान अवस्था को "**लोकतंत्रात्मक भ्रांति का युग**" कहा।

2.3 लोकतंत्र: अर्थ व परिभाषा:— लोकतंत्र की संकल्पना का इतिहास इतना लम्बा है कि इसका कोई निश्चित अर्थ नहीं बताया जा सकता। प्लेटों से लेकर आज तक राजनीति विज्ञान में लोकतंत्र चर्चा का विषय रहा है। प्लेटों ने लोकतंत्र को उपयुक्त शासन के रूप में अमान्य करार दिया वहीं अरस्तु ने सीमित लोकतंत्र को उचित शासन माना। हालांकि प्राचीन काल में लोकतंत्र को सराहा नहीं गया किन्तु फिर भी यहाँ इक्का—दुक्का प्रत्यक्ष लोकतंत्र के उदाहरण दिखायी दिये। इसप्रकार प्राचीन काल से 18 वीं सदी तक के काल का ऐतिहासिक अवलोकन किया जाए तो लोकतंत्र कहीं भी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका बल्कि इसे बहुत घृणित व निन्दनीय दृष्टि से देखा जाता रहा। किन्तु **जॉन लॉक** (1632–1704) जो ब्रिटिश क्रांति के दार्शनिक कहे जाते हैं, ने व्यक्ति के महत्व को इतना बढ़ा दिया कि निरंकुश राजतंत्र की जड़ें हिल गईं। लॉक ने व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया और इसीलिए 17वीं सदी प्राकृतिक अधिकारों की सदी कही जाने लगी जिनके आधार पर लोकतंत्र का समर्थन किया गया। और इस प्रकार 20वीं सदी आते-आते लोकतंत्र सर्वश्रेष्ठ सम्माननीय शब्द में परिवर्तित हो गया। 1776 की अमेरिकी क्रांति व 1789 की फ्रांसीसी क्रांति आधुनिक लोकतंत्र के विकास की क्रमशः पहली और दूसरी महत्वपूर्ण क्रांतियाँ थी।

लोकतंत्र के अंग्रेजी पर्याय डेमोक्रेसी शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द डेमोस जिसका अर्थ है जनसाधारण व क्रेटिया जिसका अर्थ है शासन या शक्ति, से मिलकर हुई है। जिसका अर्थ है जनसाधारण का शासन या शक्ति। अतः संक्षिप्त रूप में लोकतंत्र वह शासन प्रणाली है जिसमें सत्ता का अंतिम स्रोत जनता के हाथों में होता है ताकि उसका प्रयोग जनता के हित में किया जा सके। किन्तु अपने व्यपक अर्थ में लोकतंत्र जनता के शासन से कहीं अधिक है। लोकतंत्र को व्यापक दृष्टि से समझने के लिए आवश्यक है कि उसका संकल्पनात्मक आशय स्पष्ट किया जाए। संकल्पनात्मक दृष्टि से लोकतंत्र के निम्न भावार्थ हैं—

2.3.1 लोकतंत्र निर्णय करने की विधा है — लोकतंत्र को निर्णय करने के ढंग के आधार पर सर्वप्रथम अरस्तु ने परिभाषित किया था। वही निर्णय लोकतांत्रिक ढंग से लिए हुए कहे जाते हैं जिनमें विचार—विनिमय व अनुनयता हो, जन सहभागिता हो अर्थात् विचार विमर्श प्रक्रिया में सम्पूर्ण जन समाज का सहभागी होना आवश्यक है। उल्लेखनीय है कि लोकतंत्र में भागीदार होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना की अवसर की उपलब्धता अर्थात् सारे जनसमाज को लोकतांत्रिक निर्णय लेने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहभागी होने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। और नियत कालिक चुनाव तथा व्यस्क मताधिकार जन सहभागिता के उपकरण हैं। हालांकि सम्पूर्ण जनता का सहभागी होना निर्णय प्रक्रिया के लिए आदर्श कहा जाता किन्तु सभी निर्णयों में सभी को भागीदारी असम्भव है इसलिए व्यवहार में बहुमत के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं और इन्हीं को लोकतांत्रिक मान लिया जाता है। बहुमत पर आधारित निर्णय में यह सम्भव है कि कुछ लोगों का हित न हो, तो ऐसी अवस्था में बहुमत के निर्णय अल्पसंख्यकों के हित को ध्यान में रख कर होने चाहिए।

2.3.2 लोकतंत्र निर्णय लेने की सिद्धांत के रूप में — लोकतांत्रिक व्यवस्था में कोई भी राजनीतिक निर्णय सिद्धांतों के आधार पर लिए जाने चाहिए अन्यथा निर्णय तो समरूपी रहेंगे और मैं ही दिशात्मक एकतायुक्त बन पाएंगे। लोकतांत्रिक व्यवस्था का अस्तित्व उसी राजनीतिक व्यवस्था में सम्भव है जहाँ समाज के संबंध में निर्णय लेने के आधार स्वरूप कुछ सिद्धांत व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं जैसे—

- (क) **प्रतिनिधि सरकार का सिद्धांत:**— राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय लेने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही संपादित होना चाहिए।
- (ख) **उत्तरदायी सरकार का सिद्धांत:**— प्रतिनिधियों को सत्ता जनता द्वारा प्राप्त होती है अतः उनका जनता के प्रति उत्तरदायी होना आवश्यक है।
- (ग) **संवैधानिक सरकार का सिद्धांत:**— शासन व्यवस्था को लोकतांत्रिक आधार प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि इस की संरचनात्मक व्यवस्था व कार्य प्रणाली संविधान द्वारा निरूपित होनी चाहिए उल्लेखनीय है कि संविधान के साथ साथ संवैधानिक सरकार भी हो जो संविधान को व्यवस्थाओं के अनुसार संगठित, सीमित, और नियंत्रित होती हो तथा किसी व्यक्ति विशेष को इच्छाओं के स्थान पर केवल विधि के अनुरूप ही संचालित हो।
- (घ) **प्रतियोगी राजनीति का सिद्धांत:**— लोकतांत्रिक व्यवस्था की जीवन रेखा प्रतियोगी राजनीति है। राजनीति को प्रतियोगी बनाने के लिए आवश्यक है कि दो या दो से अधिक संगठन दलीय समूहों के रूप में वैकल्पिक पसंदों की विद्यमानता, हो सर्वव्यापी व्यस्क मताधिकार हो, प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता हो तथा नियतकालिक चुनाव को व्यवस्था हो।

2.3.3 लोकतंत्र आदर्श मूल्यों के समूह के रूप में — मूल्य या आदर्श लोकतांत्रिक व्यवस्था की कसौटी के आधारभूत तत्त्व होते हैं जिनके आधार पर कोई भी राजनीतिक या सामाजिक व्यवस्था लोकतांत्रिक या अलोकतांत्रिक रूप धारण करती है। **कोरी** तथा **अब्राहम** ने निम्न मूल्यों को लोकतांत्रिक समाज के लिए आधारभूत माना है—

- व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान
- व्यक्तिगत स्वतंत्रता

- विवेक में विश्वास
- समानता
- न्याय
- विधि का शासन

2.3.4 लोकतंत्र जीवनशैली के रूप में- शास्त्रीय उदारवादी के समर्थक लोकतंत्र को जीवन शैली के रूप में चित्रित करते हैं। लोकतांत्रिक जीवन शैली का आशय दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णु होना है। मिल के अनुसार "दूसरों के विचारों का सम्मान करना ही लोकतांत्रिक जीवन शैली है।" इसी प्रकार अमेरिकी दार्शनिक **जॉन डयूई** जो कि इस विचार संप्रदाय के प्रमुख विचारक माने जाते हैं इन्होंने अपनी पुस्तक "**डेमोक्रेसी एंड एजुकेशन**" में लिखा है की "जब बहुत सारे नागरिक एक दूसरे से मिलते हैं परस्पर संवाद स्थापित करते हैं विचारों का आदान प्रदान करते हैं और उनके प्रभाव की जांच करने के लिए उन्हें कार्य रूप देते हैं तब सही अर्थ में लोकतांत्रिक समुदाय अस्तित्व में आता है।

2.3.5 लोकतंत्र की परिभाषा- विभिन्न विचारकों ने लोकतंत्र को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है यथा-

"लोकतंत्र ऐसा शासन है जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण जाति को प्राप्त हो" -**हेरोडोटस** :

"लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा शासन है।" -**अब्राहम लिंकन**

"जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोकतंत्र का एक संदर्भ है और प्रत्येक क्षेत्र में यह कई ऐसी विशेष समस्याएँ उठाता है जिन्हें सर्वव्यापक स्तर पर संतोषजनक ढंग से हल नहीं किया जा सकता।" -**लास्की**

"लोकतंत्रीय व्यवस्था वह है जो सरकार को उत्तरदायी तथा नियंत्रणकारी बनाती हो तथा जिसकी प्रभावकारिता मुख्यतः इसके नेतृत्व की योग्यता तथा कार्यशीलता पर निर्भर हो।" -**सारटोरी**

"लोकतंत्र शासन का वह प्रकार है, जिसमें शासक समुदाय संपूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग हो।" -**डायसी**

"लोकतंत्र ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें कानून की दृष्टि से राज्य की नियामक सत्ता किसी विशेष वर्ग या वर्गों के हाथों में नहीं रहती, बल्कि समुदाय के सभी सदस्यों में निहित होती है।" -**ब्राइस**

"लोकतंत्र शासन का वह रूप है जिसमें राज्य के अधिकार विशेषज्ञ श्रेणी के लोगों को नहीं बल्कि समूचे समाज के लोगों को प्रदान किये जाते हैं।" -**ब्राइस**

"लोकतंत्र सरकार का वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी होती है।" - **सीले**

"वह राज्य शासन जिसमें सर्वोच्च सत्ता में भाग लेने का अधिकार केवल जनता को ही प्राप्त हो लोकतंत्र कहलाता है।" -**गैटेल**

इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों राजव्यवस्थाओं और समाज का परिवर्तन होता रहा है त्यों-त्यों लोकतंत्र का रूप बदलता रहा है अतः इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यंत दुष्कर कार्य हो गया है। एक लेखक ने कहा है कि लोकतंत्र मस्तिष्क की उपज है और जितने अधिक मस्तिष्क होंगे लोकतंत्र उतना ही बिखरा होगा।

2.4 लोकतंत्र के दृष्टिकोण- लोकतंत्र की अवधारणा को मान्यताओं की समानता व प्रचलन के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जा सकता है- पश्चिमी या उदारवादी अवधारणा, समाजवादी अवधारणा व साम्यवादी अवधारणा।

2.4.1 लोकतंत्र का पश्चिमी या उदारवादी दृष्टिकोण- लोकतंत्र की पश्चिमी अवधारणा के प्रमुख विचारक **रोबर्ट सी. बोन.**, **एलेन बाल**, **जीन ब्लोडले**, **पीटर मर्कल** को माना जाता है। लोकतंत्र की पश्चिमी अवधारणा मुख्यतः व्यक्ति की स्वतंत्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक आर्थिक न्याय तथा लोक कल्याण कि सिद्धि पर जोर देती है। उदारवाद और लोकतंत्र के इस संयोग में ऐतिहासिक परिस्थितियों का विशेष हाथ रहा है। 17वीं शताब्दी के समाज के आर्थिक जीवन में पूंजीवाद को बढ़ावा दिया जिसमें उत्पादन वितरण व नियमित के साधन पूंजीपतियों के हाथों में केंद्रित हो गए इससे बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण और शहरीकरण को बढ़ावा मिला परिणाम यह हुआ कि एक विशाल कामगार वर्ग बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में केंद्रित हो गया खुले बाजार में प्रतिस्पर्धा में कामगार वर्ग की दशा लगातार खराब हो गई परंतु यह वर्ग अपनी विशाल संख्या से जुड़ी हुई शक्ति के प्रति भी सजग हो गया तब कामगार वर्ग ने अपनी दुर्दशा से उबने के लिए राजनीतिक अधिकारों की मांग की अतः उदारवादी राज्य ने मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के साथ साथ धीरे धीरे सार्वजनिक व्यस्क मताधिकार के सिद्धांत को अपना लिया व उदार लोकतंत्र की उत्पत्ति हुई। उदार लोकतंत्र के समर्थक लोकतंत्र की व्यवस्थाओं व प्रक्रियाओं पर विशेष बल देते हैं। उदार लोकतंत्र के समर्थक लोकतंत्र की व्यवस्थाओं व प्रक्रियाओं पर विशेष बल देते हैं। पश्चिमी उदार लोकतंत्र के आधार : पश्चिमी उदार लोकतंत्र में मुख्यतः तीन आधार स्वीकार किए जाते हैं- दार्शनिक, सैद्धान्तिक और संस्थागत-

1. **दार्शनिक आधार** : ये उदार लोकतांत्रिक समाजों को साध्यों, आदर्शों या मूल्यों का संकेत करते हैं। ये राजनीतिक व्यवस्थाओं के गन्तव्यों से सम्बन्ध रखते हैं। मुख्यतः उदार लोकतांत्रिक राज्यों में चार दार्शनिक आधार स्वीकार किए जाते हैं:-

- (1) व्यक्ति की स्वतंत्रता
- (2) सामाजिक व आर्थिक न्याय
- (3) राजनीतिक समानता
- (4) लोक कल्याण

2. **सैद्धान्तिक आधार** :- ये आधार भी दार्शनिक आधारों की भाँति साध्यों, आदर्शों या मूल्यों की ओर संकेत करते हैं तथा दार्शनिक आधारों को व्यवहार में ठोस रूप प्राप्त कराने की व्यवस्था करते हैं तथा दार्शनिक आधारों को व्यवहार में ठोस रूप प्राप्त कराने की व्यवस्था करते हैं। इसमें निम्न सिद्धान्तों को आवश्यक रूप से अपनाया जाता है :-

- (i) प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त
- (ii) उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त
- (iii) संवैधानिक सरकार सिद्धान्त
- (iv) प्रतियोगी राजनीति का सिद्धान्त
- (v) जन संप्रभुता का सिद्धान्त

3. संस्थागत आधार :- संस्थागत आधार साध्यों को व्यवहार में प्राप्त करने के साधनों की व्यवस्था करता है। सामान्यतः उदार लोकतंत्रों में निम्नसंस्थागत पाई जाती है :-

- (i) प्रतियोगी राजनीतिक दल
- (ii) सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार
- (iii) स्वतंत्र तथा नियमित चुनाव
- (iv) स्वाधीन तथा निष्पक्षक न्यायपालिका
- (v) बहुमत के आधार पर निर्णय ।

2.4.2 लोकतंत्र का साम्यवादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण- यह अवधारणा 20 वीं शताब्दी में उभर कर सबके सामने आई। वस्तुतः उदारवादी और साम्यवादी (मार्क्सवादी) दोनों लोकतंत्र का समर्थन करते हैं और दोनों ही लोकतंत्र को जनता का शासन मानते हैं। परंतु व्यवहार के धरातल पर जनता के शासन को कैसे सार्थक किया जा सकता है इस विषय पर दोनों में मतभेद हैं उदारवाद के समर्थक लोकतंत्र को उसकी संस्थाओं और प्रक्रियाओं से पहचानते हैं जिसमें निर्वाचित विधानमंडल, वयस्क मताधिकार, सत्ता प्राप्ति के लिए अनेक राजनीतिक दलों की प्रतिस्पर्धा, नियतकालिक चुनाव, विचार अभिव्यक्ति संगठन सभा करने की स्वतंत्रता इत्यादि शामिल हैं। जबकि सम्यवाद के समर्थक लोकतंत्र के सिद्धांत या लक्ष्य को प्रमुख स्थान देते हैं और इसकी कसौटी यह है कि शासन जनसाधारण के हित में कार्य करें और उसमें जनसाधारण का शोषण ना हो दूसरे शब्दों उदारवादी विचारक लोकतंत्र व पूंजीवाद संस्थाओं में कोई विरोध नहीं देखते। परन्तु मार्क्सवादी विचारक समाज की आर्थिक संरचना को सारे सामाजिक सम्बन्धों का आधार मानते हुए यह तर्क देते हैं कि जब तक समाज की संरचना लोकतंत्रीय नहीं होगी तब तक राजनीतिक स्तर पर लोकतंत्र केवल आडम्बर बना रहेगा। अतः वे लोकतंत्र की सार्थकता के लिए समाजवाद को अनिवार्य मानते हैं। उनका दावा है कि उत्पादन के प्रमुख साधनों पर समाज का स्वामित्व व नियंत्रण स्थापित कर देने से धनवान व निर्धन वर्गों की दूरी मिट जाएगी और समाज का स्वरूप लोकतांत्रिक हो जाएगा। इसके लिए साम्यवादी निम्न व्यवस्थाओं को स्थापित करना चाहते हैं-

1. उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व
2. सम्पत्ति का समान वितरण
3. सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र
4. साम्यवादी कल (लोकतांत्रिक केन्द्रवाद)

इन सभी व्यवस्थाओं में साम्यवादी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र को सर्वाधिक महत्व देते हुए इसे ठोस लोकतंत्र को संज्ञा देते हैं। सर्वहारा का अधिनायकतंत्र एक ऐसे राज्य की ओर संकेत है जिसमें सर्वहारा अर्थात् निर्धन बहुसंख्यक कामगार वर्ग का प्रभुत्व होगा। इस अधिनायकवाद की स्थापना तब होती है जब सर्वहारा वर्ग के लोग क्रांति करके पूंजीवादी व्यवस्था को धराशाही कर देते हैं। साम्यवादियों का मानना है यदि लोकतंत्र का अर्थ बहुमत का शासन है तो पूंजीवादी

व्यवस्था में लोकतंत्र सम्भव ही नहीं है क्योंकि वहां मुट्ठीभर पूंजीपति बहुत बड़े कामगार वर्ग पर शासन करते हैं। यह प्रभुत्व मानवीय स्वतंत्रता के लिए घातक है। इसके विपरित सर्वहारा के अधिनायकतंत्र में समाजवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत अल्पमत (पूंजीपति वर्ग) पर बहुमत (कामगार वर्ग) का प्रभुत्व रहेगा। अतः सर्वहारा का अधिनायकतंत्र इसलिए ठोस लोकतंत्र है क्योंकि इसका ध्येय लोक शक्ति का प्रभुत्व स्थापित करना है। साम्यवादियों का मानना है कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र के अन्तर्गत शासन लोकतंत्रीय केन्द्रवाद के सिद्धान्त के अनुरूप चलाया जायेगा। इस सिद्धान्त का प्रयोग साम्यवाद दल द्वारा किया जायेगा। इस सिद्धान्त की नींव सोवियत संघ के संस्थापक नेता वी.आई. लेनिन ने रखी थी तथा इसका तात्पर्य यह है कि दल या शासन के निचले अंग क्रमशः अपने ऊर्चे अंगों का निर्वाचन करेंगे व उच्च अंगों के निर्णयों का पालन करने को बाध्य होंगे।

2.4.3 लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण— अभी हमने पहली (उदारवादी) और दूसरी (साम्यवादी) दुनिया के देशों में लोकतंत्र के प्रति दृष्टिकोण की चर्चा की किन्तु तीसरी दुनिया (विकासशील देश) में लोकतंत्र के प्रति कुछ भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण देखा गया। इसमें उदारवादी व साम्यवादी दोनों दृष्टिकोणों की मान्यताओं व लक्षणों को अपनाया गया। समाजवादी लोकतंत्रों में राजनीतिक समाजों के मूल्य उदारवादी लोकतंत्रों की संकल्पना के समान स्वतंत्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा लोक कल्याण को साधना के होते हैं किन्तु साधनों को दृष्टि से ये लोकतंत्र साम्यवादी संकल्पना के समीप होते हैं। यही कारण है कि अनेक नवोदित राज्यों में लोकतंत्र का एक नया रूप विकसित होता हुआ दिखाई देता है किन्तु यह नया रूप सभी राज्यों में समान नहीं होता। कई ऐसे राज्य हैं जहां लोकतंत्र की संस्थागत व्यवस्थाएँ व राजनीतिक समाज के आदर्श एक ही दिशा में जाने वाले होते जा रहे हैं। इन्हीं राज्यों के लोकतंत्र को समाजवादी लोकतंत्र के नाम से जाना जाता है। लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण के तहत लोकतंत्र को अनेक रूपों में देखा गया है। जैसे जनवादी लोकतंत्र, बुनियादी लोकतंत्र, निर्देशित लोकतंत्र इत्यादि।

दूसरे विश्व युद्ध (1939-45) के बाद जब पूर्वी यूरोप के देशों मुख्यतः हंगरी, पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, रोमानिया में तत्कालीन सोवियतसंघ की छत्रछाया में समाजवादी प्रणालियाँ स्थापित की गईं तो उन्हें “जनवादी लोकतंत्र” की संज्ञा दी गई। इसे उदार लोकतंत्र से अलग माना गया क्योंकि उसमें पूंजीवादी राजनीतिक दलों व पूंजीपतियों के हितों की प्रधानता रहती है। दूसरी ओर इसे सोवियत संघ के सर्वहारा लोकतंत्र के साथ भी नहीं मिलाना चाहिए क्योंकि इसके अंतर्गत सर्वहारा वर्ग अपनी शक्ति का प्रयोग किसी अन्य वर्ग के साथ मिल बांट कर नहीं करता अर्थात् वहां सर्वहारा वर्ग का एक छत्र राज रहता है। परंतु जनवादी लोकतंत्र के अंतर्गत बुजुर्ग, निम्न बुजुर्ग, किसान और सर्वहारा वर्ग अपनी मिली जुली सरकार बनाते हैं हालांकि उसमें सर्वहारा वर्ग की प्रधानता रहती है। मतलब यह है कि पूर्वी यूरोप के जनवादी लोकतंत्र की सरकारों में साम्यवादी दलों के साथ साथ गैरसाम्यवादी दलों को भी सम्मिलित कर लिया गया था। इसी प्रकार के एक और लोकतंत्र “निर्देशित लोकतंत्र” का विचार 1957 में इंडोनेशिया के तत्कालीन राष्ट्रपति सुकर्ण ने रखा था। यह लोकतंत्र का एक संशोधित रूप माना जा सकता है जिसमें प्रतिनिधित्व की जगह परामर्श को विशेष महत्व दिया जाता है। राष्ट्रपति सुकर्ण ने तर्क दिया कि लोकतंत्र का पश्चिमी प्रतिरूप ऐसे देश के लिए उपयुक्त नहीं होगा जिस में साक्षरता और समृद्धि का स्तर बहुत निम्न हो। तथाकथित निर्देशित लोकतंत्र लोकतंत्र के अंतर्गत लोकप्रिय नेता विभिन्न व्यवसायों के प्रतिनिधियों से परामर्श करके अधिकांश निर्णय अपने विवेक से करता है।

2.4.4 लोकतंत्र के चरण या लहरें— सैमुअल हटिंग्टन ने अपनी रचना “The Third wave Democratization in the late Twentieth Century” में लिखा है कि विश्व में लोकतंत्र के विकास की तीन चरण या लहरें रही हैं—

- **पहली लहर (1828-1926)**— इस चरण में 30 देशों ने न्यूनतम रूप से लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की। इसमें फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, जर्मनी, न्यूजीलैंड जैसे देश लोकतांत्रिक हुए।
- **दूसरी लहर (1943-1962)**— इस चरण में इटली, पश्चिमी जर्मनी, भारत, जापान, इजराइल जैसे देश लोकतांत्रिक हुए हैं। इस काल में निर्मित नई लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ इतनी मजबूत नहीं थीं।
- **तीसरी लहर (1974)**— स्पेन, पुर्तगाल, चीली, अर्जेंटीना और पूर्वी यूरोप के अन्य देश लोकतांत्रिक जो पहले साम्यवाद थे।
- **अरब बसंत (Arab spring) व लोकतंत्र की चौथी लहर**— लोकतंत्र की चौथी लहर या अरब बसंत की अवधारणा अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति जॉर्ज बुश जूनियर द्वारा प्रस्तुत की गई थी। जिसके तहत अरब देशों में 2010-13 तक प्रजातंत्र, स्वतंत्र चुनाव, मानव अधिकार, बेरोजगारी एवं शासन परिवर्तन के लिए किए गए प्रदर्शन विरोध व क्रांतिकारी जन आंदोलनों को स्वीकार किया गया था अरब बसंत नाम का प्रयोग प्रथम बार 6 जून 2011 को अमेरिकी जर्नल “The Foreign Policy” में माक्रलिनच ने अपने लेख में किया। इस आंदोलन की शुरुआत ट्यूनीशिया की क्रांति से हुई और शीघ्र ही यह आंदोलन मिश्र, लीबिया, यमन, बहरीन, सीरिया, अल्जीरिया, इराक, जार्डन, मोरक्को, सूडान, ओमान, सऊदी अरब इत्यादि देशों में फैल गया। कुछ विद्वानों ने इसे लोकतंत्र की चौथी लहर का नाम भी दिया। अरब देशों में चली आ रही तत्कालीन प्रशासन व्यवस्था एवं सरकार

में बदलाव लाना अरब बसंत का मुख्य उद्देश्य था और इस आंदोलन के लिए निम्न कारण उत्तरदायी रहे जैसे अधिनायक वादी शासन व्यवस्थाएं, मानवाधिकारों का उल्लंघन, राजनैतिक भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, प्रशासन में नौकरशाही का हावी होना इत्यादि। अरब आंदोलनकारियों ने विरोध के लिए अहिंसात्मक वह हिंसात्मक दोनों तरीके अपनाएँ यमन के **तवकॉल करमान** को 2011 का नोबेल शांति पुरस्कार अरब बसंत में शांतिपूर्ण विरोध के आयोजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए संयुक्त रूप से दिया गया। अरब बसंत के माध्यम से अरब देशों में जो प्रजातंत्र व सुधारों की क्रांतिकारी लहर चली उससे वर्षों से चली आ रही तानाशाही सरकारों का अंत हुआ और सभी अरब देशों में सुधारात्मक दृष्टिकोण की ओर ध्यान दिया जाने लगा जैसे—

- ट्यूनीशिया के जैनुअल आब्दीन अली मिश्र के होस्नी मुबारक, लीबिया के कर्नल गददफी एवं यमन के शाह अब्दुल्ला का तख्ता पलट दिया गया व नई सरकारें बनीं।
- कुवैत, लेबनान, ओमान व बहरीन ने भी विरोध प्रदर्शनों को देखते हुए अपने प्रशासन में कई सुधार किए।
- मोरक्को एवं जॉर्डन में संवैधानिक सुधारों की क्रियान्विती हुई।
- अल्जीरिया में 19 वर्ष पूर्व लागू की गई आपातकालीन स्थिति को हटाया गया।

2.5 लोकतंत्र के सिद्धांत— लोकतंत्र के विकास की एक लंबी परंपरा है किंतु कार्य रूप में लोकतंत्र की संभावना प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचन के विचार नियमों को स्वीकार करने के कारण हो सकी। इस दिशा में **जे. एस. मिल** सहित अनेक उपयोगितावादियों ने योगदान दिया। इन सब के परिणाम स्वरूप पश्चिम में लोकतंत्र को एक सर्वमान्य शासन व्यवस्था के रूप में स्वीकार एवं आत्मसात कर लिया गया ज्यों ज्यों लोकतंत्र को कार्य रूप दिया गया त्यों त्यों उसकी अनेक दुर्बलताएं, सीमाएं एवं बाधाएं भी सामने आयीं। राजवैत्तों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इन पर विस्तार से विचार किया और अनेक वैचारिक व क्रियात्मक समाधान सुझाए इस व्यापक विचार मंथन के फल स्वरूप लोकतंत्र के अनेक सिद्धांत सामने आए—

- लोकतंत्र का परंपरागत सिद्धांत
- लोकतंत्र का नव उदारवादी सिद्धांत
- लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धांत
- लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धांत
- लोकतंत्र का सहभागी सिद्धांत
- लोकतंत्र का वकर्सवादी सिद्धांत

प्लेटो और अरस्तु ने कुछ प्राचीन यूनानी नगर राज्य में विशेषतः एथेंसे में लोकतंत्र को सक्रिय रूप में देखा परंतु प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में लोकतंत्र का जो रूप प्रचलित था उसे आदर्श शासन प्रणाली नहीं माना जा सकता था। **प्लेटो** ने स्वयं कहा था कि “जनसाधारण इतने शिक्षित नहीं होते कि वे सर्वोत्तम शासकों व सबसे बुद्धिपूर्ण नीतियों का चयन कर सकें।” फिर अरस्तु ने भी लोकतंत्र को “बहुत सारे लोगों के शासन” के रूप में पहचाना। यह बहुत सारे लोग साधारणतः निर्धन अशिक्षित और असंस्कृत थे जिसमें योग्यता का नितांत अभाव था। एक आदर्श तथा स्थिर शासन प्रणाली की तलाश करते करते अरस्तु इस निष्कर्ष पर पहुंचा की आदर्श शासन प्रणाली “**अभिजात तंत्र**” और **लोकतंत्र** का मिश्रण होना चाहिए जिसे उसने “**मिश्रित संविधान**” (Mixed constitution) का नाम दिया। अर्थात् आदर्श शासन प्रणाली वह होगी जिसमें सत्ता तो कुलीन वर्ग के हाथ में रहेगी परंतु शासन की नीतियों के लिए जनसाधारण की सहमति आवश्यक होगी। इस प्रकार अरस्तु ने स्वयं तो लोकतंत्र को नहीं सराहा किंतु आदर्श शासन प्रणाली में उसे उपयुक्त स्थान देने का समर्थन अवश्य करता है।

2.5.1 लोकतंत्र का परंपरागत सिद्धांत—लोकतंत्र के उदारवादी या परंपरागत (चिरसम्मत) सिद्धांत की परंपरा में स्वतंत्रता, समानता, अधिकार, धर्मनिरपेक्षता तथा न्याय जैसी अवधारणाओं का प्रमुख स्थान रहा है। उदारवादी चिन्तक आरंभ से ही इन अवधारणाओं को मूर्त रूप से देने वाली सर्वोत्तम प्रणाली के रूप में लोकतंत्र की वकालत करते रहे हैं। सामंतवाद से मुक्ति के बाद समाज के संचालन की दृष्टि से लोकतंत्र को स्वभाविक राजनीतिक प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया। लोकतांत्रिक भावना की सही शुरुआत सामाजिक संविदा के जन्म के साथ हुई **थॉमस हॉब्स** ने अपनी पुस्तक **लेवियाथन (1651)** में प्रमुख लोकतांत्रिक सिद्धांतों की वकालत करते हुए लिखा कि सरकार का निर्माण जनता द्वारा एक सामाजिक संविदा के तहत होती है। **लॉक** ने लिखा कि सरकार को सत्ता प्राप्त करने के लिए लगातार नागरिकों की सहमति प्राप्त करनी चाहिए। इसी प्रकार से **एडम स्मिथ** ने मुक्त बाजार का प्रतिमान इस लोकतांत्रिक आधार पर प्रस्तुत किया कि प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन करने, खरीदने और बेचने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। **रूसो** ने लोकतंत्र की आत्मा के रूप में अपना “**सामान्य इच्छा का सिद्धांत**” प्रतिपादित किया प्रसिद्ध उपयोगितावादी दार्शनिक **बेथम व मिल** ने पूरी तरह से लोकतंत्र का समर्थन किया और उपयोगितावाद के माध्यम से लोकतंत्र को प्रभावी बोधिक का आधार प्रदान किया। उनके

अनुसार लोकतंत्र “अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख” को अधिकतम संरक्षण प्रदान करता है। जे.एस. मिल ने प्रतिपादित किया की लोकतंत्र किसी भी अन्य शासन की तुलना में मानव जाति के नैतिक विकास में सर्वाधिक योगदान प्रदान करता है। इन उपयोगितावादी विचारकों ने प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र, संवैधानिक सरकार, बहुमत का शासन, गुप्त मतदान इत्यादि कई तरीके बताए जिनके द्वारा लोकतंत्र को सुनिश्चित किया जा सकता है। 20वीं शताब्दी में **अर्नेस्ट बाकर, लिंडसे, लास्की, पिनोक** आदि विचारक इस सिद्धांत के प्रबल समर्थक माने जा सकते हैं। 18वीं शताब्दी की अमेरिकी एवं फ्रांसीसी क्रांतियों द्वारा लोकतंत्र के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया।

लोकतंत्र के इस सिद्धांत के निम्न बुनियादी तत्व हैं:-

- मनुष्य विवेकशील है इसलिए अपना अच्छा बुरा जानता है।
- राजनैतिक सत्ता जनता की अमानत है।
- सरकार का उद्देश्य सामान्य जन का भला करना तथा व्यक्ति का चहुमुखी विकास करना है।
- सरकार सीमित व जनता के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए
- विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होनी चाहिए व सरकार द्वारा लोकमत का आदर किया जाना चाहिए।

आलोचना:-

- यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि सभी मनुष्य विवेकशील है इसलिए शासन के संचालन में जन सहभागिता होनी चाहिए। जबकि लार्ड ब्राइस, ग्राहम वाल्स इत्यादि विचारक मानते हैं कि मनुष्य उतना विवेकशील, तटस्थ व सक्रिय नहीं है जितना कि इस सिद्धान्त के तहत उसे मान लिया गया है। आलोचक कहते हैं कि यदि लोकतंत्र को बचाना है तो उसे जनता को शासन से दूर रखो।
- लोकतंत्र से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामान्य हित में काम करेगा लेकिन किसी भी समाज में सामान्य हित विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न अर्थ रख सकता है।
यह सिद्धान्त मूल्यों तथा आदर्शों पर अधिक ध्यान देता है राजनैतिक वास्तविकताओं पर कम। यह ऊंचे आदर्शों जैसे सामान्य इच्छा, लोगों का शासन, सामान्य कल्याण आदि से भरा पड़ा है। जिन्हें प्रयोगात्मक परीक्षण का विषय नहीं बनाया जा सकता। ये सभी शब्द भ्रामक हैं।
- यह सिद्धान्त राजनीतिक समानता पर बल देता है जबकि व्यावहारिक स्तर पर राजनैतिक समानता का हो पाना सम्भव नहीं होता।
- यह सिद्धान्त राजनीति में नेताओं, शासन करने वाले विशिष्ट वर्ग तथा संगठित संस्थाओं को उचित महत्व प्रदान नहीं करता।

2.5.2 लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त:- लोकतंत्र के परम्परागत उदारवादी सिद्धान्त ने सरकार के कार्यों में राजनीतिक समानता और व्यक्तिगत भागीदारी को जो केन्द्रिय महत्व दिया था वह 20वीं शताब्दी के लेखकों द्वारा आलोचना का शिकार हो गया। 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दौर में इटली के दो प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक— **विल्फ्रेडो पैरेटो (1848–1923)** और **गीतानो मोस्का (1858–1941)** ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि किसी भी समाज या संगठन के अन्तर्गत महत्वपूर्ण निर्णय केवल गिने-चुने लोग ही करते हैं, चाहे उस संगठन का बाहरी रूप कैसा भी क्यों ना हो। यह सिद्धान्त विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त कहलाया। मूलतः विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त समाज विज्ञान के क्षेत्र में यह व्याख्या देने के लिए विकसित किया गया कि सामाजिक संगठन के भीतर मनुष्य किस तरह व्यवहार करते हैं। इसीप्रकार जर्मन समाज वैज्ञानिक **रॉबर्ट मिशेल्स (1876–1936)** ने “**गुटतंत्र का लोह नियम**” (Iron law of oligarchy) का प्रतिपादन किया और उन्होंने तर्क दिया कि अधिकांश मनुष्य स्वभाव से जड़ आलसी और दबू होते हैं। जो अपना शासन स्वयं चलाने में समर्थ नहीं होते। परन्तु उनके नेता बड़े कर्मठ दबंग और चतुर होते हैं जो अपनी वाक्पटुता एवं वक्तृत्व के बल पर लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करके सत्ता पर अधिकार जमा लेते हैं। अतः इस प्रकार समाज में चाहे कोई भी शासन प्रणाली क्यों ना अपनाई जाए वह अवश्य ही गुटतंत्र (Oligarchy) या इने-गिने लोगों के शासन का रूप धारण कर लेती है।

अतः इस प्रकार से यह सिद्धांत विशिष्ट वर्ग या अभिजन शब्द का प्रयोग किसी समूह के ऐसे अल्पसंख्यक वर्ग के लिए करता है जो कुछ कारकों की वजह से समुदाय में विशिष्ट हैसियत रखते हैं। यह अल्पसंख्यक वर्ग समाज में सत्ता के वितरण में अग्रणी भूमिका निभाता है। इस सिद्धान्त का मुख्य आधार यह मान्यता है कि समाज में दो तरह के लोग होते हैं— गिने चुने विशिष्ट (अभिजन) लोग तथा विशाल जनसमूह। विशिष्ट लोग हमेशा शिखर तक पहुंचते हैं क्योंकि वे सारी अर्हताओं से सम्पन्न सर्वोत्तम लोग होते हैं। बहुसंख्यक समूह विशिष्ट वर्ग द्वारा मनमाने ढंग से नियंत्रित व निर्देशित होता

है। इन समाजवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने लोकतंत्र की संभावनाओं को चुनौति देते हुए इस समस्या पर नए सिरे से विचार करते हुए उदार लोकतंत्र की नई व्याख्या प्रस्तुत की जिसमें इस विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त की मान्यताओं को भी उपयुक्त स्थान दिया गया। उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए उन्हें सामूहिक रूप से "लोकतंत्र का विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त" कहा जाता है। इसमें **मैन्हाइम, शुम्पीटर, आरों** तथा **सारटोरी** के विचार विशेष स्थान रखते हैं। सारटोरी ने लोकतंत्र में नेताओं की भूमिका को विशेष महत्व दिया। उन्होंने अपनी पुस्तक "**The Democratic Theory**" (1958) में लिखा कि "लोकतंत्र को असली खतरा नेतृत्व के अस्तित्व से नहीं, बल्कि नेतृत्व के अभाव से है।" इसी प्रकार मैन्हाइम ने विशिष्टवर्ग के शासन व लोकतांत्रिक शासन में तालमेल बैठाने के लिए सुझाव दिया कि नेताओं का चुनाव योग्यता के आधार पर होना चाहिए तथा जनसाधारण व विशिष्ट वर्ग के बीच की दूरी कम की जानी चाहिए।

लोकतंत्र के विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएं:-

1. लोग समान रूप से योग्य नहीं होते अतः विशिष्ट वर्ग व जन साधारण का निर्माण अपरिहार्य है।
2. अपनी उच्चतर योग्यताओं के बल पर विशिष्ट वर्ग सत्ता नियंत्रण व सत्ता वितरण में मुख्य भूमिका निभाता है।
3. विशिष्ट वर्ग अनवरत एक जैसा नहीं रहता। इस वर्ग में नए लोग शामिल होते हैं और पुराने बाहर हो जाते हैं।
4. बहुसंख्यक जनसमुदाय में अधिकांश भाव शून्य, आलसी व उदासीन होते हैं इसलिए एक ऐसा अल्पसंख्यक वर्ग का होना आवश्यक है जो नेतृत्व प्रदान कर सके।
5. आधुनिक युग में विशिष्ट वर्ग में मुख्य रूप से बुद्धिजीवी, औद्योगिक प्रबंधक व नौकरशाह होते हैं।

अतः इसप्रकार यह सिद्धान्त मानता है कि राजनैतिक नेतृत्व चुनिंदा सक्षम लोगों के हाथ में होना चाहिए। यह सिद्धान्त लोगों की अति सहभागिता को भी खतरनाक मानता है इसलिए इस सिद्धान्त की मान्यता है कि लोकतांत्रिक व उदारवादी मूल्यों को बचाए रखने के लिए जनसमूह को राजनीति से अलग रखना जरूरी है यह सिद्धान्त लोकतंत्र को विशिष्ट वर्गों के बीच होने वाली प्रतिद्वन्द्विता व प्रतिस्पर्धा के रूप में देखता है। और जिसमें जनता द्वारा केवल यह निर्णय लिया जाता है कि कौनसा विशिष्ट वर्ग उन पर शासन करेगा।

लोकतंत्र के विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त की कई विचारकों ने आलोचना की जिनमें **सी. बी. मैक्फर्सन, बैरी होल्डन, राबर्ट डाहल, क्रिश्चियन बे, बाटोमोर, गोल्ड स्मिथ** आदि प्रमुख हैं इस सिद्धान्त के विरुद्ध निम्न आपत्तियां प्रतिपादित की गयी हैं:-

1. यह सिद्धान्त लोकतंत्र का अर्थ ही विकृत कर देता है। इसके अनुसार लोकतंत्र का अर्थ केवल जनता द्वारा प्रतिनिधियों को चुनना भर है। जबकि लोकतंत्र का अर्थ जनसहभागिता व उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करना है। यह सिद्धान्त लोकतंत्र के इस पक्ष की अवहेलना कर केवल एकांगी व एक पक्षीय अध्ययन को प्रस्तुत करता है।
2. यह सिद्धान्त लोकतंत्र की पुरातन अवधारणा के नैतिक पक्ष को समाप्त कर देता है। पुरातन अवधारणा के अनुसार लोकतंत्र का लक्ष्य जनकल्याण व मानवजाति का उन्नयन है। जबकि यह सिद्धान्त अल्पसंख्यक विशिष्टवर्ग के लाभ व हितों पर ही समस्त चिन्तन केन्द्रित करता है।
3. विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त सहभागिता, जो लोकतांत्रिक शासन का केन्द्रिय तत्व है, का तहत्व घटा देता है और दावा करता है कि जन सहभागिता सम्भव है ही नहीं।
4. यह सिद्धान्त एक सामान्य व्यक्ति को राजनैतिक दृष्टि से अक्षम और निष्क्रिय मानता है जिसका कार्य केवल विशिष्ट वर्ग का चुनाव करना होता है मनुष्य से सम्बन्धित यह विश्लेषण एकांगी व एक पक्षीय है।
5. यह सिद्धान्त लोकतांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा मौलिक परिवर्तन लाने के स्थान पर स्थायित्व बनाए रखने पर विशेष बल देते हैं यह सामाजिक आन्दोलनों को लोकतंत्र के लिए खतरा मानता है।

2.5.3 लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त:- बहुलवादी सिद्धान्त की उत्पत्ति विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त की आंशिक प्रतिक्रिया के रूप में हुई। विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त एक ऐसी स्थिति के निर्माण से सन्तुष्ट है जिसमें सत्ता ऐसे विशिष्ट वर्ग में निहित होती है जो महत्वपूर्ण निर्णय लेता है जबकि बहुलवाद का मानना है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया अपेक्षाकृत स्वायत्त समूहों के बीच सौदेबाजी की प्रक्रिया है। जिसके अन्तर्गत ये समूह आपस सौदेबाजी करके ऐसी नीतियों के लिए अपनी सहमति व्यक्त करते हैं जिनसे उनके परस्पर विरोधी हितों में समायोजन स्थापित हो सके। बहुलवाद की अवधारणा वैसे तो पुरानी है किन्तु इसको सशक्त अभिव्यक्ति 20वीं शताब्दी में देखी गयी। सामान्य अर्थ में बहुलवाद सत्ता को समाज में एक छोटे से समूह तक सीमित करने के बदले उसे प्रसारित और विकेंद्रीत मानता है। आधुनिक औद्योगिक और प्रौद्योगिक काल में बहुवादियों के अनुसार सत्ता विखण्डित हो गयी है और इसमें प्रतियोगी सार्वजनिक और निजी समूहों की साझेदारी बढ़ गयी है। उच्च स्थानों पर आसीन लोगों के पास पूर्व की भांति सत्ता नहीं रह गयी है। लोकतंत्र की बहुलवादी अवधारणा का विकास मुख्य रूप से अमेरिका में हुआ। इसके प्रणेताओं में **एस.एम. लिण्डसेर, राबर्ट डाहल, प्रेस्थस, एफ हंटर** आदि

प्रमुख हैं। **एफ. ए. बेंटली** ने अपनी पुस्तक *The Process of government* (1908) में विचार दिया कि लोकतंत्र एक ऐसा राजनीति खेल है जिसमें तरह-तरह के समूह हिस्सा लेते हैं। बहुलवादी विचारकों का मानना है कि राजनीतिक सत्ता उतनी सरल नहीं होती जितनी वह दिखाई देती है। यह विभिन्न समूहों, संगठनों, वर्गों, संघों सहित विशिष्ट वर्ग जो आमतौर पर समाज का नेतृत्व प्रदान करता है, के बीच बंटी हुई है।

बहुलवादी सिद्धान्त की विशेषताएँ :-

1. यह सिद्धान्त राज्य को एक समुदाय मानता है। मानव जीवन के अनेक पहलुओं पर विभिन्न संघों का नियंत्रण रहता है। ये संघ राज्य की शक्ति पर रोक लगाते हैं तथा इन संघों से पृथक राज्य विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है।
2. यह सिद्धान्त साधारण समाज की निष्क्रियता को केवल एक तथ्य ही नहीं बल्कि राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व के लिए आवश्यक भी मानता है।
3. यह सिद्धान्त नागरिकों को ताड़ना का अधिकार देता है जो राजनीतिक विशिष्ट जनों के व्यवहार को सन्तुलित बनाए रखने व उन्हें निरंकुश बनने से रोकता है।

आलोचना :-

1. यह सिद्धान्त रूढ़िवाद को बढ़ावा देता है।
2. यथास्थितिवादी है।
3. माननीय विकास के लिए उपयुक्त नहीं।

2.5.4 लोकतंत्र का सहभागी सिद्धान्त :- इस सिद्धान्त की उत्पत्ति का श्रेय 1960 के बाद **मैक्सर्सन, फ़ैरोल, पैटमैन तथा पोनांजे** जैसे विचारकों को जाता है। इस सिद्धान्त का विकास विशिष्टवर्गीय तथा बहुलवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। यह दृष्टिकोण प्रशासन के चलाने में नागरिकों के अधिक से अधिक भागीदारी को बढ़ाये जाने पर बल देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीतिक सहभागिता लोकतंत्र का बुनियादी लक्षण है। यह एक ऐसी गतिविधि है, जिससे अन्तर्गत कोई व्यक्ति सार्वजनिक नीतियों व निर्णयों के निर्माण, निरूपण, तथा क्रियान्वयन की प्रक्रिया में सक्रिय भाग लेता है।

सहभागी लोकतंत्र की विशेषताएँ :-

1. विधायिकाओं, लोकसेवाओं, राजनीतिक दलों का लोकतांत्रिकरण हो जिससे समाज को उत्तरदायी युक्त बनाए जा सके।
2. शक्तियों का विकेन्द्रीकरण हो व नीतियों के निर्माण व शासन कार्यों में लोगों की भागीदारी बढ़े।
3. राजनीतिक मुद्दों व निर्णयों का समाजीकरण हो ताकि समाज के सभी व्यक्ति उसमें अपने हितों का निरीक्षण सके।
4. लोकतांत्रिक निर्णय में नए आयामों की संभावना को सुरक्षित करने के लिए राज्य की संस्थात्मक व्यवस्था खुली होनी चाहिए।

आलोचना :-

1. समाज को राजनीति के प्रति जागरूक बनाने के लिए सहभागिता को बढ़ावा देना आवश्यक है किन्तु सहभागिता हमेशा सकारात्मक हो यह आवश्यक नहीं।
2. सहभागिता बढ़ जाने से गुणात्मकता का अभाव हो सकता है। जिससे निर्णय लेने की समस्या बढ़ सकती है।
3. राजनीतिक सहभागिता बढ़ जाने से राजनीतिक व्यवस्था के अतिभार होने की आशंका बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में व्यवस्था सभी कार्यों को निपटाने में असक्षम हो सकती है।

2.6 लोकतंत्र के प्रकार :- सामान्यतः लोकतंत्र के दो भेद मान्य हैं:-

1. **विशुद्ध लोकतंत्र या प्रत्यक्ष लोकतंत्र :-** यह लोकतंत्र का वह रूप है जिसमें जनता शासन में स्वयं भाग लेती है। शासन का संचालन करती हैं एवं समस्त नागरिक जनता परिषद या सभा के रूप में एकत्रित होकर स्वयं शासन सम्बन्धी नीतियों, योजनाओं व विधिया का निर्माण करती हैं। लोकतंत्र का यह रूप प्राचीन काल में यूनान व रोम में प्रचलित था। वर्तमान में यह केवल स्विट्जरलैण्ड में केवल कुछ कैण्टनों (ग्लोर्स, इनरअपेनजैल, आउटर अपेनजैल, ओब वाल्डेन व निड वाल्डेन) में प्रचलित है प्रत्यक्ष लोकतंत्र की क्रियान्विति निम्न साधनों से की जाती है :-

- **लोक निर्णय**— इसका अभिप्राय है कि किसी विषय को जनता के समक्ष निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाए। विधायिका द्वारा कोई कानून बनाने या संविधान में संशोधन करने से पहले ऐसे विधेयकों को जनता से सहमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है।
 - **आरम्भक (उपक्रम)** :— इस प्रक्रिया में कानून निर्माण की पहल जनता की ओर से भी हो सकती है। यह लोक निर्णय के विपरित है। लोक निर्णय में जनता किसी अनावश्यक कानून का खण्डन कर सकती है। वहीं आरम्भक के माध्यम से किसी आवश्यक कानून को बनवाने की पहल कर सकती है।
 - **प्रत्यावाहन**— प्रत्यावाहन से अभिप्राय जनता के उस अधिकार से है जिसके द्वारा निर्वाचकों को अपने प्रतिनिधियों को वापस बुलाने या पदच्युत करने का अधिकार है।
 - **जनमत संग्रह** :— किसी राजनीतिक या राष्ट्रीय महत्व के विषय पर जनता की जब प्रत्यक्ष राय ली जाती है तो उसे जनमत संग्रह कहते हैं। लोकनिर्णय व जनमत संग्रह में अन्तर यह है कि पहला कानून या संविधान से सम्बन्धित है वहीं दूसरा राजनीतिक या राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों या मुद्दों से सम्बन्धित है।
2. **अप्रत्यक्ष लोकतंत्र या प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र** :— अप्रत्यक्ष लोकतंत्र उसे कहते हैं जिसमें शासन का संचालन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। इसी कारण इसे प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र भी कहते हैं। विश्व के अधिकांश देशों (भारत, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इत्यादि) में यही लोकतंत्र का रूप देखने को मिलता है इसके भी दो रूप देखे जाते हैं— संसदीय लोकतंत्र व अध्यक्षीय लोकतंत्र। संसदात्मक लोकतंत्र में वास्तविक शासन सत्ता, जनता द्वारा निर्वाचित संसद व मंत्रिमण्डल में निवास करती है। जैसे—ब्रिटेन व भारत में। वहीं अध्यक्षीय लोकतंत्र में सम्पूर्ण सत्ता जनता द्वारा चुने हुए राष्ट्राध्यक्ष में निवास करती है। यथा—अमेरिकी राष्ट्रपति।

2.7 लोकतंत्र के गुण व दोष—

1. **जनता का शासन**— प्रजातंत्र के कुछ मौलिक गुण हैं जिनके कारण ही वह आज श्रद्धा का पात्र बना हुआ है। हर जगह उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की जा रही है। प्रजातंत्र का बसे बड़ा गुण यह है कि यह जनता की सरकार है। यह जनता के सहयोग पर आधारित है। राजतंत्र में तो शासक एक राजा होता है। कुलीनतंत्र में कुछ व्यक्ति ही शासक होते हैं किन्तु प्रजातंत्र में हर व्यक्ति शासक होता है। राज्य की सार्वभौम सत्ता जनता के हाथों में रहती है।
2. **जनमत पर आधारित** :— प्रजातंत्र जनमत पर आधारित होता है। यह वैसा राज्य है जिसमें जनमत का स्थान सर्वोपरि होता है। राजतंत्र, कुलीनतंत्र एवं अधिनायकवाद में जनमत की अपेक्षा भी की जा सकती है। किन्तु प्रजातंत्र में उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। "पूर्ण प्रजातंत्र में कोई भी यह शिकायत नहीं कर सकता है कि उसे अपनी बात कहने का अवसर नहीं मिला।"
3. **लोक-कल्याण**— प्रजातंत्र का मुख्य उद्देश्य है लोक-कल्याण। लोक-कल्याण के लिए ही प्रजातंत्र सरकार की स्थापना की जाती है। इसमें किसी वर्ग-विशेष के कल्याण पर जोर नहीं दिया जाता है। जाति, धर्म, भाषा, प्रान्त, रंग, लिंग के आधार पर पक्षपात नहीं किया जाता है। अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक भलाई पर जो दिया जाता है। अतः इसमें लोक-कल्याण की भावना सर्वोपरि होती है।
4. **समानता** :— प्रजातंत्र समानता का पोषक है। यह सामनता के आधार पर ही टिका हुआ है। इसमें सभी व्यक्ति समान हैं अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, गोरा-काला एवं जाति का भेदभाव नहीं किया जाता है। कानून की दृष्टि में सभी समान हैं। राजनीतिक दृष्टि से भी समान हैं। किसी को विशेषाधिकार नहीं दिया जाता है। सभी को समान अधिकार प्राप्त होते हैं।
5. **स्वतंत्रता** :— प्रजातांत्रिक सरकार में व्यक्ति स्वतंत्रता मिलती है। उसे बोलने की एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलती है। धूमने, पेशा चुनने, संघ बनाने, सभा करने, जुलूस निकालने की भी स्वतंत्रता मिलती है। उसे अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति की भी स्वतंत्र दी जाती है राज्य की ओर से किसी भी प्रकार बन्धन नहीं रहता है। राजतंत्र, कुलीनतंत्र, एवं अधिनायक तंत्र में तो व्यक्ति की नामामत्र की स्वतंत्रता दी जाती है।
6. **आत्म-विकास**— प्रजातंत्र ही एक ऐसा राज्य है जिसमें हर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूरा मौका मिलता है। सामाजिक व्यवस्था समानता के आधार पर आधारित होती है।, अर्थात् सभी को समान अवसर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रताएँ भी दी जाती हैं इन स्वतंत्रताओं का उपयोग कर, कोई सामान्य व्यक्ति की ओर बढ़ सकता है। अतः हम देखते हैं कि प्रजातंत्र में आत्म-विकास की सारी सुविधाएँ उपलब्ध रहती है।

7. **राष्ट्रीय प्रेम:-** प्रजातंत्र सरकार जनता की इच्छा पर आधारित होती है यह जनता की सरकार होती है। अतः जनता के हृदय में स्वतः राष्ट्रीय-प्रेम का उद्रेक हो जाता है। चूँकि राष्ट्र की सुरक्षा में ही व्यक्ति की सुरक्षा निहित है। राष्ट्र की रक्षा के लिए व्यक्ति तैयार रहते हैं राष्ट्र की अवनति का अर्थ है कि व्यक्ति की अवनति। इसलिए राष्ट्र के सम्मान को बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति सतत् प्रयत्नशील रहता है प्रजातंत्र राज्य में राष्ट्रीयता की भावना हर व्यक्ति के हृदय में कूट-कूटकर भरी होती है।
8. **राजनीतिक शिक्षा-** प्रजातंत्र वह शेर है जिसकी गर्जन से सभी व्यक्ति जाग उठते हैं राजनीतिक दल का इसमें प्रमुख हाथ रहता है। सरकार का निर्माण दल के ही आधार पर होता है। राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेना, सही मतदान पत्र का उपयोग करना, इत्यादि की जानकारी भी लोगों को होती है।
9. **क्रान्ति नहीं :-** प्रजातंत्र सरकार जनता की इच्छा पर आधारित होती है। शासन का संचालन भी उसी की इच्छा के अनुसार होता है। हमेशा सांविधानिक तरीकों का प्रयोग किया जाता है। जिस कारण इसमें क्रान्ति होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "लोकप्रिय सरकार सर्वसम्मति की सरकार है इसलिए स्वभाव से ही वह क्रान्तिकारी नहीं होती।"
10. प्रजातंत्र उत्तरदायी सरकार है यह हमेशा जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है जिस समय यह जनता का विश्वास खो देती है, उसका विघटन हो जाता है। जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हमेशा जनता के प्रति उत्तरदाय रहते हैं।

लोकतंत्र के अवगुण

प्रजातंत्र के जितने गुण हैं, उतने ही दोष भी। प्लेटो एवं अरस्तू ने प्रजातंत्र का निकृष्ट दृष्टि से देखा। **लेकी, सिजविक, गिडिंग्स, हेनरीमेन वेल्स** एवं अन्य विद्वानों ने इसकी काफी आलोचना की है। अर्थात् इन्होंने हम लोगों का ध्यान उसके दोषों की ओर आकृष्ट किया है।

1. **मूर्खों का शासन :-** प्रजातंत्र राज्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह मूर्खों एवं अयोग्य व्यक्तियों का शासन है। वेल्स ने बुद्धिहीनों एवं अज्ञानियों का शासन बताया है चूँकि चुनाव में विद्वान एवं पढ़े-लिखे व्यक्ति शायद ही खड़े होते हैं खड़े भी होते हैं तो हार जाते हैं। **लेकी** का मत है कि "प्रजातंत्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह सबसे अधिक दरिद्र, सबसे अधिक अज्ञानी और अयोग्य लोगों का शासन है चूँकि स्वभावतः वे ही अधिक संख्या में पाए जाते हैं।"
2. **भीड़तंत्र :-** प्रजातंत्र को भीड़तंत्र भी कहा जाता है। चूँकि इसका शासन भीड़ के द्वारा होता है। शासक में भीड़ मनोवृत्ति पाई जाती है मगरा-बुधुआ सभी शासन के क्षेत्र में आ जाते हैं जिनको शासन का भी अर्थ समझ में नहीं आता है।
3. **अल्पमत का शासन :-** प्रजातंत्र में तो सरकार गठन बहुमत दल करता है किन्तु जब हम व्यावहारिकता की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि अल्पमत प्राप्त दल ही सरकार की स्थापना करता है। कल्पना कीजिए कि एक लाख मतदाता है। 'अ', 'ब', 'स', 'द' चार उम्मीदवार है। 'अ' को चालीस हजार, 'ब' को तीस हजार, 'स' को बीस हजार, एवं 'द' को दस हजार वोट मिलते हैं। 'अ' को चालीस हजार प्राप्त हुए हैं, इसलिए वह निर्वाचित घोषित किया जाता है यदि हम सभी मतों की गणना करें तो पता चलेगा कि एक लाख में चालीस हजार ही 'अ' को मिले हैं साठ हजार दूसरे को मिले। अतः यह सिद्ध है कि अल्पमत द्वारा ही सरकार का गठन होता है।
4. **उत्तरदायित्व नहीं :-** प्रजातंत्र को उत्तरदायी सरकार कहा जाता है, किन्तु व्यवहार में यह अनुत्तरदायी सरकार है। चूँकि सरकार हमेशा बदलती रहती है, अतः किसी निश्चित नीति या योजना के लिए किसको दोषी ठहराया जाए। ब्रक का कहना है कि "संसार में विशुद्ध प्रजातंत्र सबसे अधिक लज्जाशून्य वस्तु है और चूँकि यह लज्जाहीन होती है। अतः सबसे निर्भय होती है।"
5. **दलबन्दी :-** प्रजातंत्र सरकार की स्थापना दल पर होती है एक राजनीतिक दल के अन्दर भी बहुत-से छोटे-छोटे दल होते हैं जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कभी-कभी राष्ट्र-हित की बातों को भी ठुकरा देते हैं। दल-हित की भावना ही उसके सामने काम करती रहती है।
6. **धन का अपव्यय :-** प्रजातंत्र में धन का काफी अपव्यय होता है। एक तो चुनाव में काफी रुपये बर्बाद किए जाते हैं दूसरे आवश्यक से अधिक व्यक्ति शासन के काम में लिए जाते हैं, जिस काम को दस व्यक्ति कर सकते हैं, उसके लिए पचास व्यक्तियों को नियुक्ति की जाती है प्रजातंत्र में धन को कोई देखने वाला नहीं होता है। मूर्ख जनता कहती है कि सरकार का रूपया बर्बाद हो रहा है। सरकार (कुछ बड़े पदाधिकारी) कहते हैं कि मारो गोली, जनता का पैसा जा रहा है इसमें हमारा क्या बिगड़ता है ?

7. **समय की बर्बादी :-** प्रजातंत्र राज्य में समय की भी काफी बर्बादी होती है किसी भी काम को करने के पहले उस पर काफी सोच-समझ लिया जाता है। जनता की राय लेनी वांछनीय है। एक साधारण काम के लिए भी वाद-विवाद करना पड़ता है। इसलिए प्रजातंत्र राज्य में लालफीताशाही मशहूर है।
8. **पेशा :-** बहुत-से लोग राजनीति को पेशा बना लेते हैं वे इस पेशे को खानदानी समझते हैं वे कभी भी छोड़ने का नाम नहीं लेते हैं। बड़े दुःख की बात है कि भारत में पिता के मरने पर उसके पुत्र को मंत्रिमण्डल में स्थान दिया जाता है।

लार्ड ब्राइस ने प्रजातंत्र के मुख्यतः छह दोष बताए हैं :-

1. शासन तथा व्यवस्थापन पर धन का अनुचित प्रभाव।
2. राजनीतिक का वैयक्तिक लाभ के लिए प्रयोग।
3. शासन में अपव्यय।
4. समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग और प्रशासकीय विशेषता की उपेक्षा करना।
5. राजनीतिक दलों को अनुचित मात्रा में शक्ति मिलती है तथा दल की भक्ति के सामने राजभक्ति गौण हो जाती है।
6. व्यवस्थापकगण चुनाव में नागरिकों से मत प्राप्त करने के लिए विशेष राज्य-नियम बनाते हैं तथा राजाज्ञा के विरुद्ध चलने वालों को उचित दण्ड से बचाते हैं।

2.8 लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें-

हमने लोकतंत्र के अवगुणों पर विचार कर लिया। प्रत्येक समस्या का निदान है लोकतंत्र में कुछ दोष हैं। **बर्न्स** का विचार है कि “कोई भी इस बात को मानने से इन्कार नहीं कर सकता कि मौजूदा प्रतिनिधि सभाएँ दोषपूर्ण हैं परन्तु अगर कोई मोटरगाड़ी खराब हो जाए तो उसे छोड़ बैलगाड़ी को अपनाना मुख्यता ही होगी चाहे वह कितनी ही आकर्षक क्यों न हो।”

शिक्षा :- लोकतंत्र जनता की सरकार है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का शिक्षित होना आवश्यक है शासन एक कला है। हर कोई शासन को नहीं चला सकता। जबकि वहाँ पर हर व्यक्ति के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था हो। शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क हो। हर व्यक्ति को राजनीतिक शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वह वोट के महत्व को समझ सके। अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों को पहचान सके तथा राजनीतिक दलों के कार्यों से अवगत हो सके।

स्वतंत्रता:- स्वतंत्रता लोकतंत्र की आत्मा है। लोकतंत्र राज्य में वस्तुतः हर व्यक्ति को बोलने की, भाषण की एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। धूमने, संघ बनाने, सभा करने एवं किसी भी पेशे को चुनने की स्वतंत्रता हर इन्सान को मिलनी चाहिए। उस पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। समाचार पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि को भी पूरी स्वतंत्रता देनी चाहिए। चूँकि जनमत निर्माण के ये ही मुख्य साधन हैं।

आर्थिक समानता :- लोकतंत्र राज्य में तो अर्थ की समानता होनी चाहिए। चूँकि आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक समानता का कोई महत्व नहीं। एक भूखे व्यक्ति के लिए वोट का कोई महत्व नहीं है। आर्थिक समानता का लोग गलत अर्थ समझ लेते हैं इसका यह अर्थ नहीं कि सभी को समान मात्रा में अर्थ का वितरण हो। वस्तुतः इसका सही अर्थ यह है कि कम से कम सभी को भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा एवं चिकित्सा का उचित प्रबन्ध हो। दरिद्र देश में कभी भी प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता है। अतः अमीर-गरीब के बीच में जो बहुत बड़ी आर्थिक खाई है उसको पाटना है।

स्वस्थ राजनीतिक दल :- राजनीतिक दल ही लोकतंत्र राज्य में सरकार का गठन करता है। अतः उसका उद्देश्य महान होना चाहिए। उसके सिद्धान्त में जनहित निहित हो। उसका निर्माण संकुचित सिद्धान्तों पर नहीं होना चाहिए। बहुत से दलों का निर्माण भाषा, जाति, एवं सम्प्रदाय पर होता है उसमें सभी जाति के व्यक्तियों का स्थान रहना चाहिए। वस्तुतः राजनीतिक दल तो लोकतंत्र की आत्मा है।

सशक्त विरोधी दल :- एक राजनीतिक दल से लोकतंत्र शासन का काम नहीं चलता। एक दल के द्वारा तो अधिनायकवाद का प्रादुर्भाव होता है अतः लोकतंत्र राज्य में कम से कम दो दलों का रहना अति आवश्यक है एक दल सरकार का गठन करता है। जहाँ पर अनेक दल होते हैं वहाँ पर सशक्त विरोधी दल का अभाव रहता है किन्तु लोकतंत्र राज्य में विरोधी दल का रहना आवश्यक है। चूँकि जब एक दल की सरकार असफल हो जाती है तो ऐसी स्थिति में विरोधी दल ही सरकार का गठन करता है अतः सशक्त विरोधी दल समय की माँग है।

स्वस्थ जनमत :- जनमत का स्थान लोकतंत्र में सर्वोपरि है। जनमत के आधार पर ही प्रतिनिधि चुने जाते हैं और वही प्रतिनिधि सरकार का निर्माण करते हैं। ऐसी स्थिति में देश के अन्दर स्वस्थ जनमत का प्रचार करना आवश्यक है। उसी

के बल पर ही योग्य प्रतिनिधियों का चुनाव हो सकता है सही जनमत के अभाव में जनता अयोग्य प्रतिनिधियों को चुन लेती है।

निष्पक्ष समाचार पत्र :- समाचार पत्रों के जरिए ही देश-विदेश की खबरों को प्रसारित किया जाता है, सरकार की नीतियों का प्रचार यिका जाता है, जनता के विचारों को सरकार के पास पहुँचाया जाता है अतः समाचार पत्रों का निष्पक्ष, स्वतंत्र एवं निर्भय होना अति आवश्यक है।

अल्पसंख्यकों की रक्षा :- लोकतंत्र राज्य में अल्पसंख्यकों करनी चाहिए। उनके हितों का हमेशा ख्याल करना चाहिए। उन्हें किसी भी प्रकार की तकलीफ नहीं देनी चाहिए। उसके माधे तो भातृत्व को अपनाना चाहिए ताकि वह अपने को अजनबी या निर्जन महसूस न कर सके। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा में ही लोकतंत्र का कल्याण है।

स्वतंत्र न्यायपालिका :- स्वतंत्र न्यायपालिका हर प्रजातंत्र देश में रहती है नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा वही करती है। संविधान का उचित रूप से पालन हो रहा है या नहीं? कानूनों की व्याख्या इत्यादि का काम स्वतंत्र न्यायपालिका का है। न्यायपालिका स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं निर्भिक होनी चाहिए।

स्थानीय स्व-शासन :- लोकतंत्र सरकार की नींव जनता से तैयार की जाती है, यह ऊपर से लादी नहीं जाती। अतः इसमें स्व-शासन का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है हर ग्राम में इसका प्रबन्ध होना चाहिए। चूँकि लोकतंत्र के गुणों की शिक्षा स्व-शासन संस्थाओं से पहले दी जाती है। अतः हर स्थानीय संस्था को पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए जिससे वह सुविधापूर्वक स्थानीय कार्यों का सम्पादन कर सके।

2.9 निष्कर्ष- लोकतंत्र के सैद्धांतिक विवेचन से स्पष्ट है कि इसके अर्थ स्वरूप व प्रकारों को लेकर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रचलित है तथापि यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में लोकतंत्र का कोई सर्वमान्य विकल्प नहीं होता है साम्यवादी व अधिक नायक वादी शासन व्यवस्थाएं भी अपने को लोकतंत्र कहा जाना पसंद करती है अतः वर्तमान परिस्थितियों में आवश्यक सुधार कर लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था बनाया जा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र के अर्थ व स्वरूप की व्याख्या कीजिए?
2. लोकतंत्र के पश्चिमी उदारवादी दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए?
3. लोकतंत्र के गुण दोष पर एक लेख लिखिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र निर्णय लेने की एक विधा है स्पष्ट कीजिए?
2. लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धांत क्या है?
3. प्रत्यक्ष लोकतंत्र क्या है इसके प्रमुख उपकरण बताइए?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अप्रत्यक्ष लोकतंत्र क्या है?
2. जनमत संग्रह व लोक निर्णय में अंतर क्या है?
3. उपक्रम क्या है?

इकाई-3

अधिकार

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 अधिकार अर्थ व परिभाषा

3.3.1 अधिकार के लक्षण

3.4 अधिकार संबंधी सिद्धांत

3.4.1 अधिकारों का नैसर्गिक सिद्धांत

3.4.2 अधिकारों का कानूनी सिद्धांत

3.4.3 अधिकारी को ऐतिहासिक सिद्धांत

3.4.4 अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत

3.4.5 अधिकारों का सामाजिक कल्याणकारी सिद्धांत

3.4.6 अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत

3.5 अधिकारियों के प्रकार

3.5.1 नैतिक अधिकार

3.5.2 राजनीतिक अधिकार

3.6 निष्कर्ष

3.1 उद्देश्य— इस इस इकाई में यह बताने का प्रयास किया जाएगा कि

- अधिकार क्या होते हैं?
- अधिकारों का प्रधानता कौन है?
- सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य को कौन कौन से अधिकार प्राप्त हैं?

3.2 प्रस्तावना — अधिकार मनुष्य के सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं हैं जिनके बिना ना ही व्यक्ति का विकास संभव है और ना ही समाज या राज्य का जैसा कि लास्की ने कहा कि एक "राज्य अपने नागरिकों को जिस प्रकार अधिकार प्रदान करता है उन्हीं के आधार पर राज्य को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है" इसी प्रकार किसी भी समाज उन्नति का भी मापदंड उस समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को माना जाता है

3.3 अधिकार अर्थ व परिभाषा— आधुनिक युग में जब व्यक्ति व राज्य के परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण राजनीति वैज्ञानिकों द्वारा किया गया तो उससे दो राजनीतिक अवधारणाओं का आविर्भाव हुआ— एक व्यक्ति को राज्य से क्या-क्या प्राप्त होना चाहिए— ये व्यक्ति के अधिकार हैं और व्यक्ति को राज्य के लिए क्या-क्या करना चाहिए ये व्यक्ति के कर्तव्य हैं। अधिकारों के महत्व पर तो यद्यपि प्राचीन काल में उतना महत्व नहीं दिया गया अपितु अधिकारों की तुलना में कर्तव्य को अधिक वरीयता प्राप्त थी किन्तु लोकतंत्र के उदय के साथ व्यक्ति के अधिकारों की धारणा महत्वपूर्ण बनती गयी। किसी भी राज्य के लोकतान्त्रिक होने का मापदण्ड वर्तमान में राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारों को समझा जाता है। जिस राज्य में नागरिकों के जितने अधिक अधिकार स्वीकार कर लिये जाते हैं वह राज्य व समाज उतना ही अधिक उन्नति शील माना जाता है।

सामान्यतः अधिकारों से तात्पर्य मानवीय जीवन की उन व्यवस्थाओं से लगाया जाता है जिनको सामाजिक व राजनीतिक मान्यता प्राप्त होती है और जिनके प्रयोग के द्वारा व्यक्ति अपने जीवन के श्रेष्ठतम को प्राप्त करने का प्रयास करता है। विभिन्न विचारकों ने अधिकारों को अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है जैसे—

“अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके बिना सामान्यतः कोई व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता।”— लास्की

“अधिकार वे बाहरी परिस्थितियां हैं जो व्यक्ति के अधिकतम विकास के लिए आवश्यक हैं और जिनकी उपलब्धी राज्य द्वारा संरक्षित होती है।” — ग्रीन

“अधिकार कुछ विशेष कार्यों को करने के लिए स्वतन्त्रता की युक्तिसंगत मांग है।” — वाइल्ड

3.3.1 अधिकार के लक्षण— उपयुक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकार में निम्न लक्षण समाहित होते हैं—

1. अधिकार वे दोगे हैं जिनका उपयोग कर व्यक्ति अपना वांछित नैतिक व भौतिक विकास करता है। आत्मोन्नति प्रत्येक के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है और अधिकारों के द्वारा व्यक्ति को वे सुविधाएं व्यवस्था के रूप में प्रदान की जाती हैं जिससे कि वह अपनी योग्यता व ईच्छा के अनुसार अपना सर्वांगीण विकास करने में सक्षम हो सके। जैसे— शिक्षित होना व्यक्ति की उन्नति के लिए आवश्यक है तो राज्य द्वारा शिक्षा के अधिकार के रूप में वे सुविधाएं दी जाती हैं जिनको प्राप्त कर व्यक्ति शिक्षित हो सके।
2. अधिकार वे व्यवस्थाएं हैं जो निजी हित से सम्बद्ध न हो कर सार्वजनिक हित से सम्बद्ध होती हैं। अर्थात् अधिकार व्यक्ति की समाज के सम्मुख स्वार्थ भरी मांग नहीं हैं। अधिकारों को सामाजिक हित से अलग नहीं किया जा सकता है। अतः अधिकार सामाजिक हित में एक स्वार्थरहित मांग होती है जो समाज या राज्य से की जाती है।
3. अधिकार सामाजिक व राजनीतिक मान्यता प्राप्त व्यवस्थाएँ या सुविधाएँ होते हैं। अधिकारों की सामाजिक मान्यता से तात्पर्य है उनका नैतिक दृष्टि से उचित होना। किन्तु केवल सामाजिक स्वीकृति किसी सुविधा को अधिकार नहीं बना देती अर्थात् नैतिक दृष्टि से उचित व्यवस्था को जब राज्य द्वारा मान्यता मिल जाती है तभी वह सुविधा अधिकार का रूप धारण करती है। अतः व्यक्ति के अधिकारों की व्यवस्था को सामाजिक व राजनीतिक मान्यता प्राप्त होना आवश्यक है।
4. अधिकार कर्तव्यों के साथ सम्बद्ध होते हैं। अर्थात् अधिकार व कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अधिकार कर्तव्यों पर आश्रित होते हैं, अधिकार में कर्तव्य निहित होते हैं। इसीलिए लास्की ने लिखा है कि “मेरे अधिकार मे तुम्हारे कर्तव्य निहित है।”
5. अधिकार सार्वभौमिक व सर्वव्यापक होते हैं अर्थात् बिना किसी भेदभाव के अधिकार राज्य के सभी नागरिकों को प्राप्त होते हैं।

3.4 अधिकार संबंधी सिद्धान्त— अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तः— अधिकार की अवधारणा का सम्बन्ध व्यक्ति, समाज तथा राज्य तीनों से रहता है। किन्तु अलग-अलग विचारकों ने इसे अलग-अलग दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया है। इन पृथक-पृथक दृष्टिकोणों ने अधिकार सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों को जन्म दिया है जो निम्न हैं—

3.4.1 अधिकारों का नैसर्गिक सिद्धान्त — अधिकार सम्बन्धी यह सर्वाधिक प्राचीन सिद्धान्त है। प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिकों तथा मध्यकाल में रोमन विचारकों के लेखन में इस सिद्धान्त के संकेत मिलते हैं। सिसरो ने भी कहा था कि “अधिकार प्रकृति की देन है। इन्हें सिद्ध या साबित करने की आवश्यकता नहीं है।” 17वीं व 18वीं शताब्दी में यह सिद्धान्त सर्वाधिक प्रचलित रहा। इस सिद्धान्त को ठोस आधार देने का श्रेय “सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त” के प्रवर्तकों को जाता है सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के समर्थ — **हॉब्स, लॉक व रूसो** ने तर्क दिया कि कुछ अधिकार राज्य के उदभव से पहले अर्थात् प्राकृतिक दशा में भी विद्यमान थे। इन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा जाता है। इन अधिकारों का सृजन राज्य ने नहीं किया बल्कि राज्य का जन्म ही इन अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह इन अधिकारों को विधिवत मान्यता देकर इन्हें कानूनी रूप या आधार प्रदान करे। जैसे जॉन लॉक ने “जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार की श्रेणी में रखा। इन विचारकों ने स्थापित किया कि ये अधिकार सर्वव्यापक व असीम हैं तथा ये व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही निहित हैं ये राज्य के अस्तित्व पर आश्रित नहीं होते इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति की शारीरिक रूपरेखा या उसके बालों का रंग उसके लिए नैसर्गिक या प्राकृतिक है उसीप्रकार अधिकार भी व्यक्ति के लिए नैसर्गिक हैं। अधिकारों का निर्माण न तो समाज से होता है और न राज्य द्वारा। अधिकार स्वयंसिद्ध शक्ति हैं अर्थात् इनके औचित्य को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। अधिकार जन्मजात हैं और मनुष्य को मनुष्य होने के नाते प्राप्त होते हैं। प्राकृतिक अधिकारों की संकल्पना फ्रांसीसी क्रांति (1788) और अमेरिकी क्रांति (1776) की प्रेरणास्त्रोत रही। इस सिद्धान्त ने एक और माननीय गरीमा और अधिकारों की प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर सरकार को नियंत्रित व वैधानिक बनाने का महान कार्य किया। यह सिद्धान्त शासकों की निरंकुशता को चुनौति देता है तथा शासन के कार्यों का मूल्यांकन करने की कसौटी प्रदान करता है।

आलोचनाः—

1. प्राकृतिक या नैसर्गिक शब्द इतना लचीला व बहुअर्थी है कि इस शब्द की सर्वमान्य परिभाषा देना अति कठिन है। कुछ लोग प्रकृति का अर्थ सम्पूर्ण जगत मानकर इसमें अचेतन तत्व को भी शामिल करते हैं तो कुछ इसे

जड़ तत्व का पर्याय मानते हैं। अतः प्राकृतिक निशेषण की अस्पष्टता अधिकारों की धारणा को भी अस्पष्ट बनादेती है।

2. इसके समर्थकों ने अधिकारों की कोई सुस्पष्ट तथा सुनिश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की अर्थात् प्राकृतिक अधिकारों के अन्तर्गत किन-किन अधिकारों को सम्मिलित किया जाए इस सिद्धान्त ने उनकी कोई गणना नहीं की है अर्थात् ऐसे अधिकारों की कोई सर्वमान्य सूची नहीं की गयी है।
3. यह सिद्धान्त अधिकारों को नैसर्गिक या प्रकृतिप्रदत्त मानकर इसके सामाजिक दायित्वों की अवहेलना करता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर चलता है कि अधिकारों का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः समाज के प्रति इनका कोई दायित्व नहीं है। जबकि वास्तविकता यह है कि अधिकारों की जड़े समाज में ही विकसित होती हैं तथा सामाजिक मान्यता के बिना तथा समाज से परे अधिकारों की कल्पना निरर्थक है।
4. यह सिद्धान्त उग्र व कठोर व्यक्तिवाद का पोषण करता है। यह सिद्धान्त व्यक्ति व उसे प्राकृतिक अधिकारों को राज्य व समाज से ऊपर मानकर व्यक्ति को स्वार्थसिद्धि का एक यंत्र मात्र बना देता है।

3.4.2 अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त— इस सिद्धान्त का प्रतिपादन **हॉब्स, बैथम** तथा **अस्टिन** जैसे विचारकों ने किया। यह सिद्धान्त अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त की आलोचना के रूप में विकसित हुआ। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि अधिकार जन्मजात या प्राकृतिक नहीं होते अपितु राज्य ही अधिकारों का सृजक, निर्माता व रक्षक है। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि राज्य ही अधिकारों का स्रोत है अतः राज्य से पूर्व या राज्य से बाहर अधिकार नहीं हो सकते। राज्य ही अधिकारों की रक्षा करता है, उन्हें परिभाषित करता है और उनका सीमा क्षेत्र निर्धारित करता है। तथा ये अधिकार गतिशील हैं अर्थात् कानूनों में परिवर्तन कर अधिकारों के रूप में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

आलोचना:—

1. आलोचकों का मानना है कि अधिकारों के लिए दो स्वीकृतियों की आवश्यकता होती है— एक कानूनी स्वीकृति और दूसरी सामाजिक या नैतिक स्वीकृति। सामाजिक समर्थन व नैतिक स्वीकृति के अभाव में राज्य द्वारा घोषित अधिकार मान्य नहीं हो सकते। इसलिए आलोचकों का मानना है कि राज्य अधिकारों का सृजक, निर्माता या सृष्टा नहीं है, वह तो केवल समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक दावों को मान्यता प्रदान करता है और उनकी रक्षा करता है।
2. इस सिद्धान्त के अनुरूप यदि राज्य को अधिकारों का सृष्टा मान लिया जायेगा तो इससे राज्य के निरंकुश व स्वेच्छाचारी रूप का पोषण होगा।
3. बहुलवादी विचारकों ने, विशेषतः **डुग्वे और क्रेब** ने यह सिद्ध किया कि अधिकारों का जन्म राज्य से नहीं होता अपितु ये अधिकार हैं जो अपनी रक्षा के लिए राज्य को जन्म देते हैं। राज्य के अविर्भाव से पूर्व भी कुछ परम्पराओं और प्रथाओं के रूप में अधिकार विद्यमान थे। राज्य ने केवल इतना किया है कि उन परम्पराओं व प्रथाओं में से सुव्यवस्थित परम्पराओं को मानक के रूप में स्वीकार किया है।

3.4.3 अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त — इंग्लैण्ड के अनुदारवादी विचारक **एडमण्ड बक्र** इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थ माने जाते हैं। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि अधिकार समाज की रीति-रिवाजों के रूप में विकसित होते हैं और कालान्तर में समाज उनको अधिकारों के रूप में स्वीकार कर लेता है। परंपरागत तथा चीर भोग के कारण अधिकार स्वीकार किए जाते हैं अतः अधिकार रीति-रिवाजों व इतिहास की देन हैं। इसी दृष्टिकोण से बक्र फ्रांस की राज्य क्रांति की निंदा करते हैं उनका मानना था कि फ्रांस के क्रांतिकारी स्वतंत्रता समानता तथा बंधुत्व के अधिकारों की मांग का स्थापित राज व्यवस्था को भंग कर रहे थे वे अधिकार काल्पनिक हैं, भाव मूलक हैं जिनका ऐतिहासिक परंपरा से कोई नाता नहीं। परंपरा से चले आ रहे दावे या मान्यताएं ही अधिकार के रूप में स्वीकृति की जा सकती हैं जैसे— संपत्ति के अधिकार को समाज में इसलिए मान्यता की क्योंकि सदियों से यह दावा समाज द्वारा स्वीकृत किया जा रहा था। अतः अधिकार परंपराओं व रीति-रिवाजों का मूल रूप हैं।

आलोचना:—

1. इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी खामी यह है कि यह अधिकारों की चर्चा के संदर्भ में तत्कालीन उचित अनुचित तथा मान्यता के आधार को नजरअंदाज कर देता है। तथ्य यह है कि समाज के प्रत्येक परंपरा अधिकार का रूप धारण नहीं कर सकती है। दास-प्रथा, सती-प्रथा, बहुपत्नी प्रथा इसका उदाहरण है। यह परंपराएं तत्कालीन व नैतिक ना होने के कारण वर्तमान में अधिकार के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती।
2. इस सिद्धान्त का दृष्टिकोण प्रतिगामी है, अधिकार एक सामाजिक तथ्य है अतः समाज की भांति सदैव परिवर्तनशील है।
3. यद्यपि अनेक अधिकार प्रथाओं की उपज हैं तथापि सभी अधिकार रीति-रिवाजों के परिणाम नहीं होते। आवश्यकता व तत्कालीनता के आधार पर अधिकारों का जन्म होता है जैसे वर्तमान में निजता का अधिकार वर्तमान की आवश्यकता का परिणाम है।

3.4.4 अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत— इस सिद्धांत की मान्यता है कि अधिकार व्यक्ति के विकास की आवश्यक शर्तें हैं। इस सिद्धांत का मानना है कि व्यक्ति के जीवन का आदर्श है अपने व्यक्तित्व का विकास करना तथा इस आदर्श की प्राप्ति के लिए जो कुछ प्राप्त करना उसके लिए आवश्यक है, वह सब प्राप्त करना उसका अधिकार है। इस सिद्धांत के समर्थक मानते हैं कि अधिकार मनुष्य के आंतरिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियां हैं तथा अधिकारों के बिना व्यक्ति का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। इस सिद्धांत के प्रबल समर्थक काण्ट व ग्रीन हैं। ग्रीन के अनुसार मानव चेतनशिलता के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है और स्वतंत्रता को साकार रूप देने के लिए अधिकार अनिवार्य हैं। ग्रीन के अनुसार अधिकारों के दो रूप होते हैं— कानूनी व आदर्श नैतिक। कानूनी अधिकार वह हैं जिन्हें राज्य प्रदान करता है और जिंदा नागरिक उपभोग करता है। जबकि आदर्श नैतिक अधिकार वह अधिकार हैं जो व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते प्राप्त होते हैं राज्य इन अधिकारों को मान्यता दे या न दे यथा—जीवन का अधिकार ग्रीन के मतानुसार किसी राज्य की श्रेष्ठता की कसौटी कानूनी अधिकार न होकर आदर्श नैतिक अधिकार है अर्थात् किसी राज्य द्वारा आदर्श नैतिक अधिकारों को कितना साकार रूप प्रदान किया गया है। इस प्रकार इस सिद्धांत के अनुसार अधिकारों का आधार एक आदर्श व्यक्तिगत विकास की प्राप्ति को माना गया है।

आलोचना:—

1. यह सिद्धांत अत्यधिक भावपरक है मनुष्य का आंतरिक व्यक्तित्व क्या है, उसका स्वरूप क्या है, उसके विकास किन-किन व किस प्रकार की बाह्य परिस्थितियां आवश्यक तथा क्या ये बाह्य परिस्थितियां सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से अनुकूल होगी इत्यादि जटिल प्रश्नों का उत्तर यह सिद्धांत नहीं देता इसलिए यह सिद्धांत आलोचना का शिकार बन जाता है।
2. यह सिद्धांत व्यक्तित्व के विकास का अंतिम निर्मित राज्य को बना देता है अर्थात् राज्य ही वह सत्ता या संस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति की आंतरिक नैतिक आवश्यकताओं का आकलन करके उनके अनुकूल बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करें किंतु ऐसी मान्यता न केवल राज्यों को शक्तिशाली बनाती है अपितु स्वयं आदर्शवादी मान्यताओं का ही खंडन करती है।
3. यह सिद्धांत अधिकारों के वैधानिक पक्ष की अपेक्षा नैतिक पक्ष पर अधिक बल देता है जबकि स्वस्थ दृष्टिकोण हेतु दोनों पक्षों का संतुलित होना श्रेष्ठतम है।

3.4.5 अधिकारों का सामाजिक कल्याणकारी से सिद्धांत— यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि अधिकारों का निर्माण प्राकृतिक अथवा राज्य के कानून द्वारा नहीं होता अपितु समाज ही अधिकारों का सृजक है। व्यक्ति को अधिकार उसके केवल व्यक्तित्व विकास के लिए नहीं दिए जाते वरन् उसे अधिकार इसलिए प्राप्त होते हैं ताकि वह उनका उपयोग करते हुए समाज कल्याण को अभिवृद्धि कर सके। अतः सामाजिक कल्याण की भावना ही अधिकारों की आधारशिला है। इस सिद्धांत के समर्थक **बेंथम, मिल व लास्की** को माना जाता है। वर्तमान में लास्की इस सिद्धांत के प्रतिपादक माने जाते हैं लास्की का मानना है कि अधिकार समाज से स्वतंत्र नहीं हैं अधिकार इसलिए प्रदान किए जाते हैं जिससे कि व्यक्ति अपना निजी विकास करते हुए समाज के उद्देश्य पूर्ति में भी अपना सहयोग प्रदान करें इसी के आधार पर लास्की की अधिकारों के **कार्यपालक सिद्धांत** का भी प्रतिपादन करता है लास्की में विचार अनुसार अधिकार कर्तव्य को करने के बदले में दी गई सुविधाओं हैं जिनका प्रयोग करते हुए व्यक्ति का एवं समाज का विकास हो सक। लास्की के शब्दों में “दूसरों के आक्रमण से मेरी रक्षा करने का अर्थ यह है कि मैं भी अपने आप को दूसरों पर आक्रमण करने से रोकूँ।”

आलोचना:—

1. सामाजिक कल्याण की सर्वमान्य परिभाषा या अर्थ का अभाव
2. अधिकार व कर्तव्य के संघर्ष की स्थिति में किसे वरीयता दी जाए यह एक पेचीदा प्रश्न है जिसकी सार्वभौमिक व्याख्या सम्भव नहीं है।

3.4.6 अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत— मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रतिपादक मार्क्स, एंजेलस, तथा लेनिन हैं। इस सिद्धान्त का मानना है कि अधिकार हमेशा राज्य के वर्ग चरित्र के साथ जुड़े रहते हैं तथा किसीभी युग में प्रचलित अधिकार प्रभुत्वशाली वर्ग के अधिकार होते हैं। इसलिए पूँजीवादी तथा समाजवादी व्यवस्थाओं के व्यवस्थाओं के अन्तर्गत अधिकारों का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कानून की दृष्टि से यद्यपि सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए जाते हैं किन्तु वास्तविक रूप में सारे अधिकार पूँजीवादी वर्ग के पास ही होते हैं। क्योंकि इसमें निजी सम्पत्ति के स्वामित्व के आधार पर पूँजीपति वर्ग प्रभुत्वशाली वर्ग की भूमिका सम्भाल लेता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार समाजवादी व्यवस्था तब स्थापित होती है जब पराधीन मजदूर वर्ग पूँजीपतियों को हटाकर उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित कर देता है। समाजवाद के अन्तर्गत चूंकि मजदूर वर्ग प्रभुत्वशाली वर्ग बन जाता है इसलिए उसे वास्तविक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। अतः इस प्रकार यह सिद्धान्त अधिकारों के आर्थिक आधार पर अधिक बल देता है। यह सिद्धान्त अधिकार को राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के दोष न मानकर आर्थिक व

सामाजिक व्यवस्था में प्रतिफल मानता है उन्हें व्यक्ति के हित के लिए नहीं अपितु समाजवाद की स्थापना व दृढ़ता के लिए व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है।

3.5 अधिकारों के प्रकार— सामान्यतः अधिकारों को दो श्रेणियों में बांटा जाता है—

3.5.1 नैतिक अधिकार :- ये वे अधिकार हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक आचरण या नैतिक विकास से होता है तथा इनका आधार राज्य की शक्ति न होकर समाज की नैतिक सदभावना होती है। ये अधिकार मनुष्य की नैतिक प्रकृति की मांग हैं जिनके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। यद्यपि नैतिक अधिकारों को राज्य की मान्यता नहीं होती किन्तु वे राज्य के सम्मुख एक आदर्श मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं। ग्रीन इन अधिकारों का समर्थक माना गया है। इन्हें धर्मशास्त्र, लोकमत या जनता की आत्मिक चेतना का आधार प्राप्त होता है। एक आदर्श राज्य वह है जो इन नैतिक अधिकारों को अधिकाधिक मात्रा में वैधानिक मान्यता प्रदान करे। जैसे— जीवन का अधिकार, भातृत्व का अधिकार, एकांत का अधिकार।

- **कानूनी अधिकार—** कानूनी अधिकार वे अधिकार हैं जो राज्य द्वारा प्रदान किये जाते हैं तथा जिनकी रक्षा का दायित्व भी राज्य पर होता है अतः वे अधिकार जो राज्य की बाध्यकारी शक्ति से युक्त होते हैं कानूनी अधिकार कहलाते हैं। कानूनी अधिकार तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—(अ) नागरिक अधिकार (ब) राजनीतिक अधिकार (स) आर्थिक अधिकार।

नागरिक अधिकार— नागरिक अधिकार व्यक्ति के वे अधिकार हैं जो उसे समाज से प्राप्त होते हैं। ये अधिकार शारीरिक व मानसिक दबावों के विरुद्ध व्यक्ति को संरक्षण प्रदान करते हैं। फिर चाहे वह दबाव राज्य का हो, समाज का हो या व्यक्ति विशेष का। इस अधिकार में स्वतंत्र रूप से कार्य करने की स्वाधीनता व हस्तक्षेप से मुक्ति के भाव सम्मिलित होते हैं। नागरिक अधिकार राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों को चाहे वे राज्य के नागरिक न हों, प्रदान किये जाते हैं। इनका उद्देश्य व्यक्ति के उच्च सामाजिक जीवन को सम्भव बनाना है। निम्न प्रमुख नागरिक अधिकार हैं—

- **जीवन का अधिकार** प्रत्येक मनुष्य को जीवन का अधिकार है यह अधिकार मौलिक और आधारभूत है क्योंकि इसके बिना अन्य अधिकार असंभव हैं इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति बिना किसी बाधा के अपने जीवन को उपभोग कर सके राज्य का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति के जीवन की रक्षा करें जीवन का अधिकार कितना बहुमूल्य है यह इसके सिम होता है कि कोई व्यक्ति स्वयं अपना जीवन भी समाप्त नहीं कर सकता अर्थ अर्थ व आत्महत्या नहीं कर सकता मानव जीवन समाज की बहुमूल्य निधि है अतः उसे किसी प्रकार की क्षति पहुंचाना एक दंडनीय अपराध है।
- **समानता का अधिकार** समानता का अर्थ समानीकरण नहीं है इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के रूप में व्यक्ति का बराबर सम्मान किया जाए तथा उसे उन्नति करने के समान अवसर दिए जाए अमीर और गरीब सबल या निर्मल सभी को उन्नति करने के समान अधिकार दिए जाएं और कानून के सामने सभी बराबर हों।
- **राजनैतिक समानता का अधिकार** इसका अर्थ यह है कि शासन संबंधित कार्यों में प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के योग योग्यता अनुसार सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त हो वयस्क मताधिकार निर्वाचित होने का अधिकार तथा सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त होना चाहिए इसमें धर्म जाति रंग लिंग वर्ण के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।
- **आर्थिक समानता का अधिकार** इससे यह भी प्रायः है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पास कम से कम इतने साधन अवश्य हों जिससे वह भोजन निवास और वस्त्र की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता अनुसार कार्य मिलना चाहिए तथा जीविका चलाने के अवसर सबको समान रूप से प्राप्त होने चाहिए।
- **सामाजिक समानता का अधिकार** सामाजिक क्षेत्र में समानता का अर्थ होता है कि समाज में किसी एक वर्ग को कोई विशेषाधिकार नहीं प्राप्त होना चाहिए धर्म जाति तथा धन आदि के आधार पर समाज में व्यक्ति का स्थान निर्धारित न किया जाए वरन् समाज में उसका सम्मान मनुष्य के रूप में हो।
- **स्वतंत्रता का अधिकार** लास्की के अनुसार इसका तात्पर्य उस शक्ति को होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छा अनुसार बिना किसी बाधा बंधन के अपने जीवन के विकास का ढंग चुन सके स्वतंत्रता की सकारात्मक परिभाषा के अनुसार इससे व्यक्ति के विकास का अवसर माना जाता है नागरिकों को अपनी भौतिक और नैतिक उन्नति के करने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए यह अवसर सभी मिल सकता है जब समाज कुछ नियम बनाकर एक के जीवन में दूसरे व्यक्ति द्वारा अनुचित हस्तक्षेप न होने दें।

- **व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार** प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार है किसी को किसी अन्य व्यक्ति पर आघात करने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए एक अन्य व्यक्ति का उपयोग करने तथा किसी के रहने एवं आने-जाने पर रोक लगाने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता किसी व्यक्ति को न तो दास बनाया जा सकता है और ना ही अपराध प्रमाणित किए बिना उसे बंदी ही बनाया जा सकता है।
- **भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार** मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने का अधिकार मिलना चाहिए उसे यह सुविधा मिलनी चाहिए कि वह बोलकर या लिखकर अपने विचार व्यक्त कर सकें विचार स्वतंत्रता के अधिकार को जे एस मिल तथा लॉक की आदि विद्वानों ने व्यक्ति को आत्मा उन्नति के लिए अपरिहार्य मनाए किंतु यह एक असीमित अधिकार नहीं है सरकार इस अधिकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए इस पर प्रतिबंध लगा सकती है।
- **आने जाने की स्वतंत्रता का अधिकार** व्यक्ति को अपने देश के अंदर इच्छा अनुसार आवागमन की सुविधा दी जानी चाहिए यह स्वतंत्रता उसके मानसिक सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है।
- **संगठन बनाने का अधिकार** समुदाय तथा संगठन जीवन के विकास तथा उन्नति के लिए आवश्यक माने जाते हैं इसलिए यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है की नागरिकों को स्वतंत्रता पूर्वक इस प्रकार के समुदायों के निर्माण का अधिकार हो संगठन के अधिकार के अंतर्गत सबसे महत्वपूर्ण अधिकार राजनीतिक संगठनों का होता है क्योंकि प्रजातंत्र के कुशल संचालन के लिए राजनीतिक दलों का निर्माण आवश्यक है संगठन बनाने के अधिकार के साथ साथ सार्वजनिक सभा का अधिकार भी महत्वपूर्ण है ऐसी सभाओं द्वारा विभिन्न राजनीतिक दल अपनी नीतियों और विचारधाराओं को जनता के सामने रखते हैं।
- **शिक्षा तथा संस्कृति की स्वतंत्रता का अधिकार** प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम स्तर तक शिक्षा प्राप्त करने की पूरी सुविधा मिलनी चाहिए इसमें व्यक्ति का ही नहीं बल्कि सारे समाज का लाभ निहित है अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों की प्रारंभिक शिक्षा उसकी मातृभाषा के माध्यम से उपलब्ध होनी चाहिए समाज के सभी वर्गों को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी इच्छा अनुसार विद्यालय स्थापित कर सकें।
- **अंतः करण याद धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार**— इस अधिकार का यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने विश्वास के अनुसार किसी धर्म को अपनाने, प्रचार करने, पूजा पाठ करने, धार्मिक अनुष्ठानों आदि में भाग लेने की स्वतंत्रता होनी चाहिए राज्य को धर्म के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।
- **‘संपत्ति’ ‘का’ ‘अधिकार’** — इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति वैध तरीकों से संपत्ति का उपार्जन करता है और अपनी इच्छा अनुसार उसका उपभोग कर सकता है लॉक का विचार था कि परिश्रम से कमाए हुए धन पर प्रत्येक नागरिक का व्यक्तिगत अधिकार होना चाहिए उसे स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह कमाए हुए धन का उपयोग इच्छा के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कर सकें यदि राज्य किसी प्रकार की व्यक्तिगत संपत्ति का राष्ट्रीयकरण करे तो उस संपत्ति के मालिकों को पूरा मुआवजा मिलना चाहिए आजकल संपत्ति का अधिकार एक विवादास्पद अधिकार है।
- **‘परिवार’ ‘का’ ‘अधिकार’** — परिवार के अधिकार के बिना मानव जाति का अस्तित्व संभव नहीं हो सकता इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार है प्रत्येक व्यक्ति को विवाह करने, परिवार बनाने तथा बच्चों का पालन पोषण करने का अधिकार है।
- **‘रोजगार’ ‘का’ ‘अधिकार’**— रोजगार का अधिकार जीवन के अधिकार के साथ जुड़ा है प्रत्येक व्यक्ति के लिए काम करना अपनी इच्छानुसार रोजगार कर सकता है व्यक्ति को काम प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए और इस काम के बदले में व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक प्राप्त होना चाहिए।

3.5.2 राजनीतिक अधिकार — राजनीतिक अधिकार से आशय है कि व्यक्ति द्वारा राज्य की शासन व्यवस्था में भाग लेने के अवसर। राज्य की शक्ति का उपयोग किस भांति किया जाए इस संबंध में निर्णय लेने के अवसर व्यक्ति के राजनीतिक अधिकार माने जाते हैं। राजनीतिक अधिकार केवल देश के निवासी को ही प्राप्त होते हैं ये अधिकार या तो देश के सर्वोच्च प्रदत्त होते हैं या शासन द्वारा समय-समय पर बनाये गये कानूनों द्वारा। ये अधिकार विदेशियों, पागलों व दिवालियों आदि को नहीं दिये जाते। निम्न राजनीतिक अधिकार माने जाते हैं:—

- **मत देने का अधिकार**— नागरिक के चुनावों में भाग लेने की सुविधा को मतदान के अधिकार के रूप में माना जात है। यह अधिकार लोकतंत्र की देन है इस अधिकार का प्रयोग कर नागरिक राष्ट्रीय, राज्य तथा स्थानीय स्तर की सभाओं के प्रतिनिधियों के चुनाव में करता है। यह अधिकार धर्म, जाति, लिंग, सम्पत्ति इत्यादि के प्रतिबंधों से मुक्त होता है तथा प्रत्येक नागरिक को व्यस्क आयु प्राप्त करने पर मिल जाता है।

- **निर्वाचित होने का अधिकार**— आधुनिक राज्य में जहां एक और नागरिक को मतदान के अधिकार के द्वारा अपने मनचाहे प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है तो दूसरी तरफ उसे यह भी अधिकार है कि वह स्वयं भी राजनीतिक या सार्वजनिक पद के लिए चयनित हो सके। लोकतांत्रिक व्यवस्था में क्योंकि जन सहभागिता आवश्यक है इसलिए जब तक नागरिकों को निर्वाचित होने का अधिकार नहीं दिया जाता तब तक शासन संचालन में जन सहभागिता को व्यावहारिक क्रियान्विती सम्भव नहीं हो पायेगी। अतः मत देने का अधिकार व निर्वाचित होने का अधिकार एक दूसरे के पूरक भी है और जन सहभागिता को बढ़ाने के सक्रिय उपकारण भी है।
- **सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार**— इस अधिकार से तात्पर्य है प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के तथा निर्धारित योग्यताओं के आधार पर सरकारी पद प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होना। किसी भी नागरिक को जाति, धर्म, लिंग इत्यादी के भेदभाव के आधार पर सरकारी नौकरियों से वंचित नहीं किया जा सकता।
- **आलोचना का अधिकार**— सरकार को प्रतिवेदन देने तथा सरकार की आलोचना करने को भी राजनीतिक अधिकार में शामिल किया गया है इस अधिकार के माध्यम से जनता अपनी मांगों तथा असुविधाओं को रचनात्मक तरीके से सरकार तक पहुंचा सकते हैं। आधुनिक लोकतंत्र में यह अधिकार “नागरिक समाज” को सक्रिय बनाता है।

3.6 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार अपनी आत्मोन्नति के लिए मनुष्य को एक विशेष वातावरण की आवश्यकता होती है जीवन के लिए आवश्यक इसी विशेष वातावरण को अधिकार कहते हैं मनुष्य के जीवन के विविध पक्षों को विकसित करने के लिए उसे विभिन्न अधिकारों की आवश्यकता होती है इन अधिकारों या इस विशेष वातावरण को उत्पन्न करना व इससे बनाए रखना समाज व राज्य का कर्तव्य है

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. अधिकारों की परिभाषा दीजिए? विभिन्न प्रकार के अधिकारों को समझाइए?
2. अधिकारों के विभिन्न सिद्धांतों पर लेख लिखिए?

लघुतरात्मक प्रश्न

1. अधिकार किसे कहते हैं?
2. राजनीतिक अधिकार क्या हैं?
3. नागरिक अधिकारों का वर्णन कीजिए?

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. नैतिक अधिकार क्या हैं?
2. प्राकृतिक अधिकार क्या हैं?
3. अधिकारों का सामाजिक कल्याणकारी सिद्धांत क्या है?

इकाई-4

स्वतंत्रता

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 स्वतंत्रता का अर्थ व परिभाषा

4.3.1 नकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा

4.3.2 सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा

4.4 स्वतंत्रता के प्रकार

4.5 कानून और स्वतंत्रता

4.8 निष्कर्ष

4.1 उद्देश्य — इस अध्याय के अंतर्गत निम्न विचारणीय पक्षों पर ध्यान दिया जाएगा—

- क्या स्वतंत्रता का आशय केवल प्रतिबंधों का अभाव है
- मनुष्य को अपने सर्वांगीण विकास के लिए कितनी प्रकार की स्वतंत्रताएं अपेक्षित हैं
- कानून व स्वतंत्रता के मध्य समन्वय किस प्रकार बिठाया जा सकता है

4.2 प्रस्तावना — स्वतंत्रता सबसे समाज व मानव जीवन के ऑक्सीजन के तुल्य है जब भी मनुष्य की स्वतंत्रता पर आघात किया गया, जनता ने विद्रोह किया, क्रांति की। इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रांति (1688) अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम (1776) फ्रांस की राज्य क्रांति (1789) वह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। रूसो ने स्वतंत्रता समानता व भ्रातृत्व का नारा दिया जो फ्रांसीसी क्रांति का मुख्य आधार बना। विश्व का इतिहास स्वतंत्रता के लिए किए गए बलिदान के रक्त से रंजित है। अतीव स्वतंत्रता मनुष्य व राज्य दोनों के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों में प्रथम आवश्यकता या सुविधाएं हैं।

4.3 स्वतंत्रता का अर्थ व परिभाषा:— राजनीतिक जीवन के आदर्शों से सम्बन्धित अवधारणाओं में स्वतंत्रता का विशेष स्थान है। स्वतंत्रता अंग्रेजी के शब्द स्पइमंतजल से उत्पन्न है जिसकी उत्पत्ति लेटिन शब्द “Liber” से हुई है जिसका साधारण अर्थ मुक्त, बन्धनों का अभाव या अबाध। इस प्रकार शाब्दिक रूप से स्वतंत्रता का अर्थ है “बन्धन रहित अवस्था”।

राजनीति सिद्धान्त में जब अवधारणा के रूप में स्वतंत्रता को समझा जाता है तो इसके दो अलग-अलग पक्ष सामने आते हैं— पहला, स्वतंत्रता एक मानवीय गुण के रूप में अर्थात् स्वतंत्रता मानव मात्र का सामान्य गुण है। जिसके द्वारा मनुष्य प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना लेता है और इसी गुण से मनुष्य सभ्यता व संस्कृति का निरन्तर सृजन करता रहा है।

दूसरा, स्वतंत्रता मनुष्य की सामाजिक दशा के रूप में अर्थात् उन बाह्य बाधाओं या अड़चनों का अभाव जो कि मनुष्य के स्वयं निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधाएं उत्पन्न करते हैं। राजनीति सिद्धान्त का मुख्य सरोकार स्वतंत्रता के इस रूप से है किंतु अलग-अलग विचार को नए स्वतंत्रता के इस स्वरूप की व्याख्या अपने निजी दृष्टिकोण से की है। स्वतंत्रता की समग्र अवधारणा को समझने के लिए विकसित दो मुख्य दृष्टिकोणों या धारणाओं का अध्ययन आवश्यक है:—

4.3.1 स्वतंत्रता की नकारात्मक अवधारणा:— यह दृष्टिकोण मुख्यतः व्यक्तिवादी विचारकों द्वारा प्रस्तुत किया गया। इनका विश्वास था कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है तथा अपना अच्छा बुरा स्वयं समझता है इसलिए राज्य के कानून व्यक्ति के लिए बन्धन हैं। अतः जितना इन बंधनों का अभाव रहेगा व्यक्ति उतना ही स्वतंत्र माना जायेगा अतः इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ “प्रतिबंधों का अभाव” है। इससे आशय था कि यदि कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता हो और कर भी सकता हो, तो उसे वैसा करने से रोका न जाए। यह केवल अनुमति की सूचक है, इसमें किसी सहायता या सहयोग का भाव नहीं है। इसके तहत राज्य केवल अपने पर संयम रखता है। इसलिए इसे औपचारिक स्वतंत्रता भी कहा जाता है। स्वतंत्रता के इस अर्थ को मानने वाले प्रमुख विचारक हैं— हाब्स, लॉक, माण्टेस्क्यू, स्पेन्सर, हेयक, नॉजिक, फ्रीडमैन व बर्लिन।

परिभाषाएं:—

“स्वतंत्रता का अर्थ है जंजीरों कैद तथा दासता से मुक्ति”— बर्लिन

“स्वतंत्रता का अभिप्राय निरोध तथा नियंत्रण का सर्वधा अभाव है”— हॉब्स

“स्वतंत्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार कार्य करने की सुविधा मात्र है”- **माण्टेस्क्यू**

इस दृष्टिकोण के समर्थक न केवल राज्य वरन समाज, धर्म रीति रिवाज, परम्पराएं तथा व्यक्तिगत किसी भी प्रकार प्रतिबंध को स्वतंत्रता के लिए हानिकारक मानते हैं।

संक्षेप में स्वतंत्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण को मूल मान्यताएं हैं कि-

- (i) स्वतंत्रता का तात्पर्य है - बंधनों या प्रतिबंधों का अभाव
- (ii) राज्य का क्षेत्र बढ़ने से व्यक्ति की स्वतंत्रता का दायरा सीमित हो जाता है।
- (iii) पुलिस राज्य ही राज्य का सर्वोत्तम रूप है।
- (iv) विकास के लिए खुली प्रतियोगिता का सिद्धान्त उत्तम है इसलिए सरकार द्वारा प्रायोजित संरक्षण की व्यवस्था स्वतंत्रता के लिए घातक है।

4.3.2 स्वतंत्रता की सकारात्मक अवधारणा:- स्वतंत्रता की नकारात्मक अवधारणा ने स्वतंत्रता को स्वेच्छाधारिता एवं उच्छ्रंखलता में बदल दिया। राजनैतिक चिन्तकों ने माना कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए वह असीम स्वतंत्रता या प्रतिबन्धों के अभाव की स्थिति का उपभोग कर ही नहीं सकता अतः इस दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरूप स्वतंत्रता की सकारात्मक व्याख्या से सम्बद्ध दृष्टिकोण विकसित हुआ। इस दृष्टिकोण के समर्थक रूसो, काण्ट, हीगल ग्रीन, लास्को इत्यादि विचारक थे। इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है उचित व तत्संगत प्रतिबंधों का होना जिससे मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त अवसर या परिस्थितियां उपलब्ध हो सकें। ये अवसर व परिस्थितियां क्योंकि राज्य ही प्रदान कर सकता है इसलिए इस दृष्टिकोण का मानना है कि स्वतंत्रता राज्य में ही सम्भव है। अतः इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वतंत्रता वह सामाजिक अवसर या सुविधा है जो समाज के विवेक संगम नियमों व नियंत्रणों के माध्यम से व्यक्ति के विकास हेतु प्रदान किये जाते हैं। इस दृष्टिकोण से सम्बद्ध विचारकों ने स्वतंत्रता की निम्न परिभाषाएं दी हैं-

“स्वतंत्रता उन कार्यों को करने अथवा उन वस्तुओं का उपभोग करने की शक्ति है जो करने अथवा उपयोग करने योग्य हो।”- **ग्रीन**

“स्वतंत्रता सब प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है बल्कि तत्करहित प्रतिबन्धों के स्थान पर तत्क्रयुक्त प्रतिबन्धों की स्थापना है।”- **मैकेन्जी**

“आधुनिक सभ्यता में जो सामाजिक परिस्थितियां व्यक्ति के सुख के लिए आवश्यक हैं, उन पर प्रतिबन्ध का अभाव ही स्वतंत्रता है।”- **लास्की**

नकारात्मक स्वतंत्रता व सकारात्मक स्वतंत्रता सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर:-

नकारात्मक	सकारात्मक
1. 18वीं-19वीं शताब्दी की संकल्पना	20वीं-21वीं शताब्दी की संकल्पना
2. प्रतिबंधों का अभाव ही स्वतंत्रता है।	उचित प्रतिबन्धों का होना ही स्वतंत्रता है।
3. राज्य व सरकार के क्षेत्र को सीमित करती है क्षेत्र का विस्तार करती है	रचनात्मक वातावरण के लिए राज्य व सरकार के क्षेत्र का विस्तार करती है
4. वैयक्तिक हित व विवेक पर आधारित	सामाजिक हित व सद्भाव पर आधारित

इस प्रकार नकारात्मक स्वतंत्रता उन लोगों के लिए महत्वपूर्ण हो सकती है जो स्वयं अपने जीवन को मनचाहा रूप देने में समर्थ हो किन्तु जो लोग सामाजिक आर्थिक विवशताओं से घिरे हो और अपने जीवन को अपने दम पर संवारने में असमर्थ हो उनके लिए सकारात्मक स्वतंत्रता की व्यवस्था आवश्यक होगी।

4.4 स्वतंत्रता के प्रकार:-

स्वतंत्रता के विविध पर कारण माने गए हैं माण्टेस्क्यू का विचार है कि स्वतंत्रता शब्द के अतिरिक्त शायद ही ऐसा कोई शब्द हो जिसके इतने विभिन्न अर्थ लगाए गए हो विचार को ने स्वतंत्रता के अनेक भेद स्वीकार किए हैं। जो निम्न प्रकार हैं-

(क) प्राकृतिक स्वतंत्रता- प्राकृतिक स्वतंत्रता इस विचार का आशय यह है कि मनुष्य प्रकृति से ही स्वाधीन है। और सभ्यता संस्कृति इत्यादि के विकास के साथ उस स्वाधीनता पर बंधन लगते हैं। इसका अर्थ सामाजिक प्रथाओं अथवा किसी भी प्रकार की हस्तक्षेप से मुक्ति बताया गया है। स्वतंत्रता व्यक्ति को प्रकृति की देन है। अतः समाज अथवा राज्य

द्वारा उसका हरण अथवा नियंत्रण नहीं किया जा सकता। सोफीस्टों ने हॉब्स, लॉक और रूसों जैसे विचार को ने इस विचार का प्रतिपादन किया है। रूसो कि मान्यता है कि मनुष्य प्रकृति अवस्था में प्राकृतिक स्वतंत्रता का स्वामी था किंतु सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ उस स्वतंत्रता का ह्रास हो गया। अपने ग्रंथ **सोशल कॉन्ट्रैक्ट** की प्रारंभिक पक्तियों में उसने लिखा है “मनुष्य जन्म से ही स्वाधीन उत्पन्न होता है। पर सब कहीं वह बंधनों में जकड़ा है।”

(ख) नागरिक स्वतंत्रता— नागरिक स्वतंत्रता का सीधा सा अर्थ है वह स्वतंत्रता को व्यक्ति को समाज में प्राप्त होती है नागरिक स्वतंत्रता के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन में कानून की सीमा के अंतर्गत जैसा जीवन बिताना चाहे वैसी शक्ति प्राप्त करता है नागरिक स्वतंत्रता अन्य स्वतंत्रता की आधारशिला है इस स्वतंत्रता के अभाव में अन्य स्वतंत्रताओं की कल्पना करना असम्भव है। वैयक्तिक स्वतंत्रता, ब्राह्मण की स्वतंत्रता, कानून के समक्ष, समानता भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता धर्म तथा अतः करण की स्वतंत्रता निजी द्रव्य पात (Possession) की सुरक्षा इत्यादि नागरिक स्वतंत्रता के मूल तत्व है। नागरिक स्वतंत्रता स्वाधीनता के शारीरिक और मानसिक जोर-दबावों के विरुद्ध संरक्षण है। चाहे यह दबाव राज्य का हो अथवा समाज का।

(ग) व्यक्तिगत स्वतंत्रता—व्यक्तिगत स्वतंत्रता निजी जीवन के दायरे से जुड़ी स्वाधीनता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का संबंध निजी जीवन के निकट और अंतरंग मामलों से है जिससे कि हर व्यक्ति अपनी इच्छा अनुसार अपने जीवन की व्यवस्था कर सके। विचार भाषण लेखन तथा अभिव्यक्ति की स्वाधीनता निजी जीवन को विशिष्ट ढंग से जीना जिसमें बहाए हस्तक्षेप का अभाव हो अपनी अभिरुचि और उसके अनुसार अपने कार्य व्यवहार का संचालन करना इस प्रकार की धारणाएं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ जुड़ी हुई है। जॉन स्टुअर्ट मिल और आधुनिक काल में बर्ट्रैंड रसल व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पोषक विचारक हैं। रसल की दृष्टि में व्यक्तिगत स्वतंत्रता राजनीतिक अधिकारों से भी अधिक मूल्यवान है।

(घ) राजनीतिक स्वतंत्रता—राजनीतिक स्वतंत्रता से तात्पर्य है **राज्य के मामलों में सक्रिय होने** की स्वाधीनता इस स्वतंत्रता के माध्यम से नागरिक देश के शासन में भाग लेने की शक्तियां प्राप्त करता है। इसके अंतर्गत वे सारे राजनीतिक अधिकार सम्मिलित होते हैं। जिन्हें राज्य नागरिकों को प्रदान करता है। मतदान का अधिकार चुनाव में खड़े होने का अधिकार सार्वजनिक पद को प्राप्त करने का अधिकार तथा प्रतिवेदन देने का अधिकार इस आशय से प्रो गिलक्राइस्ट ने राजनीतिक स्वतंत्रता को लोकतंत्र का पर्यायवाची माना है। राजनीतिक स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए नागरिकों को चाहिए कि वह इतने शिक्षित हो कि राजनीतिक प्रश्नों के बारे में स्पष्टता से सोच सकें। राजनीतिक स्वतंत्रता की सार्थकता की दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि समाज में समाचार-पत्रों की पूर्ण स्वतंत्रता हो जिससे कि नागरिकों को विपक्ष विचार सामग्री प्रदान की जा सके। राज्य के मामलों में सक्रिय होने की नागरिक शक्ति ही राजनीतिक स्वतंत्रता है।

(ङ) आर्थिक स्वतंत्रता—आर्थिक स्वतंत्रता के अंतर्गत व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा आती है। जिसके द्वारा वह दिन-प्रतिदिन की रोटी-रोजी प्रतिष्ठापूर्वक तथा निरंतरता के साथ अर्जित कर सके। व्यक्ति की राजनीतिक स्वतंत्रता अपने आप में अपूर्ण एवं अपर्याप्त है। यदि उसके पूरक के रूप में आर्थिक स्वतंत्रता न जोड़ी जाए। जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में संस्थाओं और प्रक्रियाओं को लोकप्रिय एवं उत्तरदाई बना दिया गया है उसी प्रकार उद्योग के क्षेत्र में श्रमिकों को अधिकार देकर तथा उद्योग-व्यवस्था को जनहित के प्रति उत्तरदाई बनाकर ‘आर्थिक लोकतंत्र’ स्थापित करना अत्यावश्यक है भूख, बेकारी अथवा आर्थिक असुरक्षा का भय नागरिक की स्वतंत्रता की भावना को कुंठित कर देता है।

(य) नैतिक स्वतंत्रता—नैतिक स्वतंत्रता का दायरा राज्य का दायरा नहीं है और ना ही इसे राज्य द्वारा प्रदत्त किया जाता है। फिर भी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में यह स्वतंत्रता महत्वपूर्ण योगदान देती है। इसके अभाव में राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता निरर्थक है। आदर्शवादी विचारक जैसे कि ग्रीन बॉसांके और हीगल व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता के समर्थक हैं अपने विवेक की स्वायत्त शक्ति का प्रयोग करना इस स्वतंत्रता का लक्षण है।

(र) राष्ट्रीय स्वतंत्रता—राष्ट्रीय स्वतंत्रता की धारणा आधुनिक काल की देन है प्रत्येक राष्ट्र स्वतंत्र रहे उसमें रहने वाले वर्गों समुदाय अथवा लोगों का अपने राजनीतिक सांस्कृतिक मूल्यों के अनुकूल विकास हो इस कोटि के भाव राष्ट्रीय स्वतंत्रता की धारणा का निर्माण करते हैं। आधुनिक काल में भी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से मुक्ति पाने के उद्देश्य ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की धारणा को जन्म दिया था।

4.5 कानून और स्वतंत्रता—विचारकों द्वारा स्वतंत्रता की सकारात्मक अवधारणा को मान्यता दी गयी है जिसका अर्थ है मर्यादित या वांछित प्रतिबंधों का होना। तथा ऐसा कोई वांछित या युक्तिसंगत प्रतिबंध कानून द्वारा ही लगाया जा सकता है तथा समाज में राज्य के कानून ही वह सत्ता हैं जो अमर्यादित स्वतंत्रता को मर्यादित स्वतंत्रता में परिवर्तित कर सकता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा की जा सके। व्यक्ति की स्वतंत्रता व राज्य की सत्ता में किस प्रकार का सम्बन्ध हो इसको लेकर विचारकों में परस्पर दो विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित है—

(क) राज्य के कानून व व्यक्ति की स्वतंत्रता में अन्तर्निरोध है। अर्थात् जहां राज्य की सत्ता का विस्तार होगा वहीं व्यक्ति की स्वतंत्रता बाधित होगी। यह दृष्टिकोण व्यक्तिवादी अराजकतावादी व श्रम संघवादी विचारकों द्वारा संबंधित है। हरबर्ट स्पेंसर जैसा व्यक्तिवादी विचारक राज्य के न्यूनतम कार्यों का समर्थन करते हुए राज्य द्वारा पारित कानूनों का व विधायकों के पाप (पदे व स्महपेसंजवते) की संज्ञा देता है। इसी प्रकार से फूडों, कोपोटकिन तथा बाकूनिन जैसे अराजकता वादी

विचारक मानते हैं कि राजनीतिक सत्ता का स्वरूप ही भ्रष्टकारी है इसलिए व्यक्ति की स्वतंत्रता तभी सुरक्षित हो सकती है जब समाज का स्वरूप राज्यविहीन होगा। इसी प्रकार के विचार वुडरो विल्सन द्वारा भी प्रस्तुत किये गये जैसे—

“स्वतंत्रता का इतिहास सरकार की शक्तियों पर सीमाओं का इतिहास है, न कि उसकी शक्तियों में वृद्धि का इतिहास।”

अतः इस दृष्टिकोण का सार यह है कि राज्य, कानून व आदेश स्वतंत्रता के लिए बाधक है।

(ख) राज्य के कानूनों व व्यक्ति की स्वतंत्रता में कोई परस्पर विरोध नहीं है। वरन् कानून स्वतंत्रता का पोषक है। हाब्स, रूसो, हीगल तथा समग्रवादी विचारक इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। इन विचारकों का मानना है कि राज्य या कानून स्वतंत्रता को समाप्त या प्रतिबंधित नहीं करते अपितु इनके द्वारा स्वतंत्रता को स्थायित्व व संरक्षण प्रदान किया जाता है। हीगल ने प्रतिपादित किया कि राज्य ही वास्तविक स्वतंत्रता का मूर्त या व्यक्त रूप है। लॉक ने भी कहा है कि “जहां कोई कानून नहीं है वहां कोई स्वतंत्रता हो ही नहीं सकती” इसी प्रकार के विचार माण्टेस्क्यू ने भी दिये “स्वतंत्रता कुछ करने का अधिकार है, वह कुछ जिसकी आज्ञा कानून देता हो।” इन विचारकों ने प्रतिपादित किया कि कानून निम्न प्रकार से स्वतंत्रता के लिए साधक होता है—

“जहां राज्य आरंभ होता है वहां स्वतंत्रता समाप्त होती है जहां स्वतंत्रता आरंभ होती है वहां राज्य समाप्त हो जाता है”—

बाकूनिन

“स्वतंत्रता की वास्तविक नींव में अवज्ञा है, आज्ञा पालन करने वाले गुलाम होने चाहिए” —**हेनरी डेविड थोरियो**

अतः इस प्रकार **प्रथम**, कानून व्यक्तियों के अधिकार क्षेत्र को निर्धारित करता है जिसमें वे बिना बाहरी हस्तक्षेप के अपनी ईच्छानुसार कार्य कर सकते हैं।

द्वितीय, कानून यह अधिकार क्षेत्र सभी को समान रूप से उपलब्ध करवाता है बिना किसी भेदभाव व रूकावट के।

तृतीय, कानून इस अधिकार क्षेत्र को बाध्यकारी तरीके से लागू करवाता है अर्थात् यदि कोई अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करना है और दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तो राज्य कानूनों के माध्यम से उसे नियंत्रित व दण्डित करता है।

इसीप्रकार के विचार डी.डी. रफील ने अपनी पुस्तक “क्विससे व च्विसपजपबंस जेमवतल (1976) में प्रतिपादित किये हैं। उनका मानना है कि कानून दो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाता है— पहला उद्देश्य है दूसरों की स्वतंत्रता की रक्षा करना और दूसरा उद्देश्य है उन सामाजिक मूल्यों व आदर्शों की रक्षा करना जो कि सम्पूर्ण समाज के लिए आवश्यक व महत्वपूर्ण हैं। अतः इस दृष्टिकोण का सार है कि मर्यादा विहीन स्वतंत्रता थोड़ी कल्पना है, वास्तविक स्वतंत्रता सामाजिक होती है जिसके लिए नियंत्रण होना आवश्यक है। सामाजिक उत्तरदायित्व एवं नियंत्रण से मुक्त स्वतंत्रता लाइसेंस के रूप में स्वतंत्रता का विकृत रूप है जो समाज को अराजकता की ओर धकेलता है।

किन्तु यह भी सत्य है कि प्रत्येक कानून स्वतंत्रता का पोषक नहीं होता जैसे स्वेच्छाधारी राज्यों निरंकुश शासन तंत्रों या अधिनायकवादी राज्यों में कानून स्वतंत्रता को समाप्त कर देते हैं। ऐसे शासन तंत्रों द्वारा लागू किये गये कानून शासकों की स्वार्थ भावना पर आधारित होते हैं। इसलिए गांधी जी, बाक्रर व लास्की जैसे विचारक इन कानूनों के विरोध को स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आवश्यक मानते हैं। रूसों जैसे विचारक प्रतिपादित करते हैं कि स्वतंत्रता व कानून में समन्वय के लिए आवश्यक है कि कानून का आधार लोकप्रिय सम्प्रभुता हो। इसी संदर्भ में उसका कथन है कि “स्वयं के द्वारा अनुमोदित कानून की आज्ञाओं का पालन करना ही स्वतंत्रता है।”

अतः असीमित स्वतंत्रता अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के लिए खतरा है इसलिए उसकी रक्षा का दायित्व राज्य का है और लोकतांत्रिक राज्य में ही कानून व व्यक्ति की स्वतंत्रता को यथासम्भव सन्तुलित किया जा सकता है।

4.6 निष्कर्ष— अंतः इस प्रकार स्वतंत्रता की कामना विवेकशील मनुष्य का स्वभाव है तथा स्वतंत्रता का सिद्धांत एक नैतिक सिद्धांत है जो स्वतंत्रता की मांग इस आधार पर करता है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है किंतु जब व्यक्ति की स्वतंत्रता व राज्य की सत्ता में टकराव पैदा होता है तब इन दोनों में संतुलन स्थापित कैसे कैसे किया जाए यह प्रश्न राजनीतिक सिद्धांत के लिए सदैव शोध का विषय रहा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता की परिभाषा दीजिए? इसके विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए?
2. नकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा समझाइए?
3. स्वतंत्रता बंधनों का अभाव है। स्पष्ट कीजिए?

लघुात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता क्या है?
2. नकारात्मक व सकारात्मक स्वतंत्रता में अंतर कीजिए?
3. स्वतंत्रता व कानून के परस्पर संबंध बताइए?

अति लघुात्मक प्रश्न

1. नकारात्मक स्वतंत्रता क्या है?
2. स्वतंत्रता के कोई चार प्रकारों के नाम बताइए?
3. आर्थिक स्वतंत्रता क्या है?
4. राष्ट्रीय स्वतंत्रता से क्या तात्पर्य है?

इकाई-5

समानता

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 समानता का अर्थ व परिभाषा

5.3.1 नकारात्मक समानता की अवधारणा

5.3.2 सकारात्मक समानता की अवधारणा

5.4 समानता के प्रकार

5.5 स्वतंत्रता व समानता में संबंध

5.5.1 स्वतंत्रता व समानता परस्पर विरोधी है

5.5.2 स्वतंत्रता और समानता परस्पर पूरक है

5.6 निष्कर्ष

5.1 उद्देश्य- प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत राजनीतिक सिद्धांत की प्रमुख अवधारणा समानता का विश्लेषण किया गया है इसके अंतर्गत यह जानने का प्रयास किया गया है कि-

- समानता क्या है। और यह एक सभ्य समाज के लिए आवश्यक अधिकार क्यों है?
- इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् अध्ययनकर्ता यह समझ पाएंगे कि समानता में के कौन-कौन से प्रकार मानव व्यक्तित्व के विकास में सहायक है।
- किस प्रकार समानता व स्वतंत्रता के मध्य समन्वयात्मक दृष्टिकोण विकसित किया जा सकता है।

5.2 प्रस्तावना - समानता राजनीतिक सिद्धांत का एक आधारभूत सिद्धांत है और एक सभ्य और विकसित समाज की आवश्यक शर्त है। प्रत्येक युग में मनुष्य ने समानता के लिए संघर्ष किया है। समानता का इतिहास 18वीं सदी से माना जाता है क्योंकि इससे पूर्व यूनानी दर्शकों यथा प्लेटो व अरस्तु ने समानता के सिद्धांत का ही समर्थन किया था। अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम 1776 और फ्रांस की राज्य क्रांति 1789 में "स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृत्व" का नारा दिया। 1776 में अमेरिका में यह घोषणा की गई कि "हम लोग इस सत्य को स्वतः सिद्ध मानते हैं की सभी व्यक्ति समान पैदा होते हैं।" वर्तमान युग प्रजातंत्र व समाजवाद का है जिसका आधार या मूर्त रूप समानता के द्वारा ही संभव है। आज संपूर्ण विश्व समानता के सिद्धांत में आस्था प्रकट करता है तथा मानव सभ्यता का विकास व प्रगति दोनों समानता के सिद्धांत पर आधारित है।

5.3 समानता का अर्थ व परिभाषा- स्वतंत्रता की अवधारण के समान ही समानता की अवधारण भी बहुअर्थी है। यह मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक शर्त है। इसे नैसर्गिक अथवा प्रकृति प्रदत्त भी बताया गया तथा नकारात्मक व सकारात्मक रूप भी स्वीकार किए गये हैं। समानता की अवधारण की उत्पत्ति विशेषाधिकार प्रथा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुयी थी। और 1789 की फ्रांसीसी क्रांति व 1773 के अमेरिकी स्वतंत्रता के घोषण पत्र ने इसे महत्वपूर्ण आधार प्रदान किया।

यद्यपि समानता या विषमता की समस्या अरस्तु के चिंतन का भी विषय रहा जब अरस्तु ने कहा कि विषमता की अनुभूति अनेक राज्यों में विद्रोह का कारण सिद्ध होती है तथापि आधुनिक युग में समानता की अवधारण की सबसे तत्क्रसंगत परिभाषा देने का प्रयास किया गया। समानता के समर्थक यह दावा नहीं करते कि सभी मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक क्षमताएं या प्रतिभाएं समान हो अपितु ये सामाजिक जीवन की उन विषमताओं को दूर करने की मांग करते हैं जो अनुचित प्रतित होती है। आधुनिक युग में धन सम्पदा, मान मर्यादा तथा शक्ति की विषमताओं पर न केवल प्रश्न चिन्ह लगाते हुए उन्हें सामाजिक व्यवस्था की उपज माना गया अपितु उन्हें दूर करना तत्क्रसंगत उपायों की भी खोज की गयी। इसके समर्थकों ने माना कि सामाजिक जीवन में केवल उन्ही विषमताओं को स्वीकार किया जा सकता है जिनका कोई तत्क्रसंगत आधार हो। इसके अतिरिक्त समानता का अर्थ अक्षरः समानता भी नहीं होता है जे.जे. रूसो ने अपनी प्रसिद्ध कृति "A Discourses On the origin Of Inequality (1755) के अन्तर्गत मनुष्यों में पायी जाने वाली दो प्रकार की विषमताओं में अन्तर किया है-प्राकृतिक विषमता व परम्परागत विषमता। रूसो का मानना था कि प्राकृतिक विषमता जैसे- रूप रंग, प्रतिभा, विवेक, इत्यादी प्राकृतिक व्यवस्था की देन है और ये प्रायः अपरिवर्तनीय है तथा दूसरी

तरफ परम्परागत विषमता जैसे धन सम्पदा मान सम्मान पद व विशेषाधिकार सामाजिक व्यवस्था की देन है तथा ये परिवर्तनीय है क्योंकि मनुष्य स्वयं इन्हे बनाना है और इसमें परिवर्तन भी कर सकता है। अतः समानता प्राकृतिक विषमता का अंत करने की बात नहीं करती अपितु ये उन परम्परागत विषमताओं को दूर करने की मांग करती है जो अन्यायपूर्ण व अनुचित प्रतीत होती है।

अतः इस प्रकार समानता का सही अर्थ यह है कि राज्य के सभी व्यक्तियों को विकास के समान अवसर प्राप्त हो। सम्पत्ति जन्म, जाति, धर्म या नस्ल के आधार पर व्यक्ति के मध्य भेद न किया जाए क्योंकि ये सामाजिक जीवन के कृत्रिम आधार हैं। समानता के समर्थकों का मानना है कि समानता की अवधारणा में तीन तत्वों का समावेश होता है—

(i) विशेषाधिकारों का अंत

(ii) सभी को विकास हेतु अवसरों की समानता

(iii) सभी को जीवन की प्राथमिक सुविधाओं की समानतापूर्वक प्राप्ति

विचारकों का मानना है कि जिस प्रकार स्वतंत्रता की अवधारणा द्विपक्षीय है उसी प्रकार समानता की अवधारणा भी द्विपक्षीय है—

5.3.1 नकारात्मक समानता की अवधारणा:— नकारात्मक पक्ष समानता में विशेषाधिकारों के अंत को महत्व देता है। इसके अनुसार समाज के किसी वर्ग विशेष को जन्म, वंश, धर्म, सम्पत्ति इत्यादी के आधार पर दिये जाने अधिकारों व सुविधाओं का अंत ही समानता का वास्तविक अर्थ है। समानता की अवधारणा की उत्पत्ति इसी पक्ष को ध्यान में रखकर की गयी थी। प्राचीन काल तथा मध्य युग के अमीरों एवं सामन्तों की विशेषाधिकारों के विरुद्ध सामान्य जन की विद्रोह की भावना ने ही समानता की धारणा को जन्म दिया। फ्रांस की राज्य क्रांति ने तथा अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में भी समानता का यह पक्ष मांग करता है कि राज्य को चाहिए कि वह बिना किसी भेद-भाव के सभी नागरिकों को अपनी उन्नति एवं विकास के समान अवसर उपलब्ध करवाये।

5.3.2 सकारात्मक समानता की अवधारणा:— सकारात्मक समानता से तात्पर्य है सभी व्यक्तियों को समुचित अवसरों की समानता है। समानता का यह पक्ष "समुचित अवसरों" की उपलब्धता के लिए समानता के साथ कुछ भेदभाव को स्वभावतः उसी प्रकार से स्वीकार करता है जिस प्रकार सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा उचित तत्संगत प्रतिबंधों को स्वीकार करती है। यह पक्ष स्वीकार करता है कि मनुष्यों की योग्यताओं व आवश्यकताओं में अन्तर होता है अतः उन्हें आत्म विकास के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों की आवश्यकता रहेगी। इसलिए अक्षरतः समानता लागू नहीं की जा सकती किन्तु राज्य या समाज द्वारा जो भी भेदभाव किये जाये उनके आधार युक्तियुक्त हो। विचारकों का मानना है कि इस तरह के भेदभाव के दो युक्तिसंगत आधार हो सकते हैं— पहला भेदभाव को कोई तत्संगत कारण अवश्य होना चाहिए। तथा दूसरा मुक्त प्रतिस्पर्धा की स्थिति में कमजोर पक्ष को कुछ रियायतें या छूट दी जायें जिसे ताकतवर पक्ष के मुकाबले में उसे नुकसान न उठाना पड़े।

अतः इसी प्रकार समानता एक ऐसा गुण नहीं है जिसका की विवरण किया जा सके अपितु यह एक ऐसा तत्व है जिसकी उसी प्रकार मांग की जाती है। जैसे कि किसी अधिकार की मांग की जाती है। जैसे कि यह कहा जाता है कि मनुष्यों के साथ समानता का बर्ताव होना चाहिए न कि मनुष्य वास्तव में समान होते हैं।

5.4 समानता के प्रकार:—

1. कानूनी समानता — कानूनी समानता से तात्पर्य है सभी को कानून के समक्ष समान समझा जाए और उन्हें कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो। कानूनी समानता में समान कानून व समान न्याय व्यवस्था की स्थापना पर बल दिया जाता है। कानूनी समानता विधि में शासन की व्यवस्था है जिसमें कानून द्वारा जाति, धर्म, लिंग, पदस्थिति के आधार पर नागरिकों में भेदभाव नहीं किया जाता है।

2. राजनीतिक समानता — सत्ता के स्रोत तक प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान पहुँच के अवसर की उपस्थिति राजनीतिक समानता कहलाती है। चुनावों में वोट देने तथा योग्यतानुसार सभी पदों के लिए निर्वाचित हो सकने का प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार, राजनीतिक समानता के उदाहरण है। समानता का यह रूप 'एक व्यक्ति एक वोट' के नियम का पालन करता है। इस समानता का भावार्थ है कि समाज में कोई ऐसा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होगा जिसे शासन का अनन्य अधिकार हो।

अतः इस प्रकार कुछ विचारक कानूनी व राजनीतिक समानता को "औपचारिक समानता" मानते हैं जिसका अर्थ है पूर्ण रूप से समानता स्थापित करने का प्रयत्न।

3. आर्थिक समानता — आर्थिक समानता से तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपने जीवन को प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति में समान व प्रचुर अवसरों की उपलब्धता। लास्की के शब्दों में "मुझे केक खाने का कोई

अधिकार नहीं यदि मेरे इस अधिकार से मेरा पड़ोसी भूखा रहता है।" अतः 'पर्याप्ति का न्यूनतम' (Minimum of Sufficiency) प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ कराया जाना राज्य का दायित्व है और यही आर्थिक समानता का आधार है।

4. सामाजिक समानता — सामाजिक समानता की आधारभूत मान्यता यह है कि किसी भी व्यक्ति को जन्म, धर्म, अथवा जाति के आधार पर हीन व माना जाए तथा सामाजिक व्यवहारों में हर व्यक्ति को दूसरे के बराबर स्थान दिया जाये। समाज के सभी व्यक्तियों को दी गई समान पदस्थिति सामाजिक समानता का आधार है।

अतः इस प्रकार सामाजिक व आर्थिक समानता केवल उन विषमताओं में कटौती की मांग करती है जो सामाजिक अन्याय को जन्म देती है। कुछ विचारक इन समानताओं की "तात्त्विक समानता" का नाम देते हैं। इन विचारकों का मानना है कि सामाजिक आर्थिक समानता है मांग करती है कि जीवन को सुखमय, सम्मानपूर्ण तथा उन्नत बनाने के साधन निर्धन तथा वंचित वर्गों को भी सुलभ कराया जाए।

5.5 स्वतंत्रता व समानता में सम्बन्ध:— स्वतंत्रता व समानता को आपसी सम्बन्धों को लेकर राजनीति सिद्धान्त में दो मत प्रचलित हैं:—

5.5.1 स्वतंत्रता व समानता परस्पर विरोधी हैं—स्वतंत्रता व समानता परस्पर विरोधी विचार है। लार्ड एक्टन, डी टॉकविल, हेयक, बर्लिन, फ्रीडमैन इत्यादी विचारक स्वतंत्रता व समानता परस्पर विरोधी अवधारणाएं मानते हैं। लार्ड एक्टन स्वतंत्रता पर बल देते हुए लिखते हैं कि "समानता की लालसा ने स्वतंत्रता की आशा को ही व्यर्थ कर दिया"। इसी प्रकार की डी. टॉकविल के अनुसार "समानता के उत्थान का अर्थ है स्वतंत्रता का पतन" मैकाइवर का भी मत है कि "एक निश्चित सीमा से परे स्वतंत्रता व समानता परस्पर विरोधी है।" अतः इन विचारकों का मानना है कि जहां स्वतंत्रता का सम्बन्ध व्यक्ति से हैं वहीं समानता केवल सामाजिक हस्तक्षेप द्वारा ही प्राप्त हो सकती है अतः यह दोनों एक साथ रह नहीं सकती इस मत के समर्थकों का मानना है कि सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएं एक कटु सत्य है। परिस्थितियों की समानता अथवा निष्कर्षों की समानता प्राप्त करने का कोई भी राजनीतिक कार्यक्रम अन्ततोगत्वा एक तानाशाही शासन को जन्म दे सकता है जो आवश्यक रूप से स्वतंत्रता के लिए खतरा होगा। डी टॉकविल व जे.एस मिल स्वतंत्रता के समर्थक होने के कारण लोकतंत्र का विस्तार समानता को जितना बढ़ावा देता है, स्वतंत्रता के लिए उतना ही बड़ा खतरा पैदा कर देता है।

वहीं दूसरी तरफ कुछ विचारक जैसे बर्लिन, हेयक इत्यादी सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता के नाम पर समानता का विरोध करते हैं। बर्लिन ने अपनी पुस्तक "The two concept of liberty" (1958) में स्वतंत्रता को केन्द्रिय मूल्य स्थापित करता है। उसका मानना है कि राज्य केवल व्यक्ति की नकारात्मक स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है। किन्तु सामाजिक आर्थिक विषमताओं का निराकरण करना राज्य का कार्यक्षेत्र नहीं है अर्थात् व्यक्ति राज्य से स्वतंत्रता की मांग कर सकता है। किन्तु हेयक द्वारा अपनी पुस्तक "The constitutions of Liberty" (1960) में प्रस्तुत किये गये। हेयक ने स्वतंत्रता व समानता को परस्पर विरोधी सिद्धान्त माना। उसने तर्क दिया कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न योग्यताएं व निपुणताएं पाई जाती हैं जिसका स्वाभाविक परिणाम आय व सम्पदा की विषमता है। इस विषमता को समानता में स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि व्यक्तिगत प्रतिभाओं व योग्यताओं का दमन कर एक सत्तावा शासन स्थापित किया जाए। हेयक का मानना है कि इस तरह बलपूर्वक समानता स्थापित करने का प्रयास स्वतंत्र समाज में स्वीकार्य नहीं हो सकता। हेयक सभी व्यक्तियों के लिए समान स्वतंत्रता की मीठी रोटी को बांटते समय सबको बराबर हिस्सा देना जरूरी नहीं है बल्कि हर एक का हिस्सा तय करते समय यह देखना जरूरी होगा कि उसका सामाजिक प्रगति में कितना योगदान रहा।

अतः इस मत के समर्थकों का विचार है कि स्वतंत्रता व समानता परस्पर विरोधी है तथा स्वतंत्रता व समानता में स्वतंत्रता सामाजिक प्रगति के लिए अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण अवधारणा है।

5.5.2 स्वतंत्रता व समानता एक दूसरे के पूरक हैं— एंग्लो-अमेरिकन उदारवादी परम्परा में स्वतंत्रता पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया जब कि फेंच चिन्तन में समानता को अधिक महत्वपूर्ण माना गया। नकारात्मक उदारवाद ने समानता की बजाय स्वतंत्रता को प्राथमिक दी। इसने स्वतंत्रता को 'बन्धनों के अभाव' के रूप में स्वीकार किया और समानता को कानून के समक्ष समानता से अधिक महत्व नहीं दिया। इसके विपरीत सकारात्मक उदारवाद ने समानता को स्वतंत्रता की आवश्यक मानते हुए दोनों की एक दूसरे का पूरक माना। आर.एच.टॉनी, लास्की, सी.बी मैकफर्सन, बाक्रर, पोलाड इत्यादी विचारक इस मत के समर्थक हैं। जैसा कि टॉनी ने कहा कि "समानता की प्रचुर मात्रा स्वतंत्रता की विरोधी नहीं वरन् उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है।" इसीप्रकार बाक्रर ने भी कहा है कि "यह कहना उचित है कि समानता एक पृथक सिद्धान्त नहीं है यह स्वतंत्रता व भ्रातृत्व के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है इसका दोनों विशेषकर स्वतंत्रता के सिद्धान्त के साथ समायोजन कर देना चाहिए।" अतः इस प्रकार इस मत के समर्थकों का मानना है कि स्वतंत्रता को यदि सार्थक बनाना है तो आवश्यक है कि उसका वितरण समाज में समान रूप से हो। असमानता से स्वतंत्रता विकृत होकर थोड़े से लोगों के विशेषाधिकार का रूप धारण कर लेती है। स्वतंत्रता व समानता दोनों का लक्ष्य है और वह है मानव के व्यक्तित्व का विकास करना और क्योंकि दोनों का लक्ष्य समान है तो दोनों एक

दूसरे के विरोधी हो ही नहीं सकती है अपितु दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक शर्तें हैं। **पोलार्ड** ने लिखा है कि “स्वतंत्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में निहित है।”

5.6 **निष्कर्ष**—अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मानव जीवन के विकास के लिए समानता आवश्यक है। समाज व राज्य को संतुलित करने व उसकी प्रगति व समृद्धि के लिए समानता अत्याज्य है। समानता सभी के विकास व कल्याण को सुनिश्चित करती है। यह प्रजातंत्र में समाजवाद को आधारशिला है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. समानता की परिभाषा दीजिए तथा इसके प्रकारों का वर्णन कीजिए?
2. समानता के विभिन्न प्रकारों की समीक्षा कीजिए?
3. समानता व स्वतंत्रता के परस्पर संबंधों की विवेचना कीजिए?

लघुतरात्मक प्रश्न

1. “समानता के साथ स्वतंत्रता की आशा व्यर्थ है।” लार्ड एक्टन के इस कथन की व्याख्या कीजिए?
2. समानता के सामाजिक या आर्थिक पक्ष की विवेचना कीजिए?
3. समानता के कानूनी पक्ष की विवेचना कीजिए?

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. समानता क्या है?
2. आर्थिक समानता का अर्थ क्या है?
3. नकारात्मक समानता व सकारात्मक समानता में अंतर क्या है?

इकाई-6

न्याय

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 न्याय की अवधारणा का अर्थ व परिभाषा

6.4 न्याय के सिद्धांत

6.4.1 प्लेटो का न्याय सिद्धांत

6.4.2 अरस्तु का न्याय सिद्धांत

6.4.3 जॉन रॉल्स का न्याय सिद्धांत

6.4.4 नॉजिक का न्याय सिद्धांत

6.5 न्याय के विविध आयाम

6.6 न्याय व कानून में संबंध

6.7 न्याय व नैतिकता में संबंध

6.8 निष्कर्ष

6.1 उद्देश्य :- प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत न्याय की अवधारणा का व्यापक विश्लेषण किया गया है इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात अध्ययनकर्ता -

- न्याय का अर्थ जानते हुए उसका नैतिकता व कानून से किस प्रकार विभिन्न ने है समझने में सक्षम होंगे
- प्लेटो से लेकर समकालीन उदारवादी विचारक लॉजिक द्वारा प्रतिपादित न्याय सिद्धांतों को समझने में समर्थ होंगे
- न्याय सर्वोच्च सद्गुण है इस कथन की सार्थकता व प्रासंगिकता को समझने में सक्षम होंगे।

6.2 प्रस्तावना - प्राचीन काल से ही मनुष्य न्याय की खोज से संलग्न न्याय के आवाज में एक समय समाज की कल्पना संभव नहीं है न्याय मानव सभ्यता का आधार है तथापि राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत न्याय एक विवादास्पद अवधारणा अधिकारों का उपयोग व कर्तव्यों का पालन एक निश्चित सीमा के अंतर्गत करना चाहिए।

6.3 न्याय की अवधारणा का अर्थ व परिभाषा- न्याय की अवधारणा नीतिशास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा विधिशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा रही है। “न्याय क्या है? यह प्रश्न सुकरान से लेकर आधुनिक राजनीति सिद्धान्त तक एक ज्वलंत एवं चिरजीवी प्रश्न रहा है। जिसका हल सुकरान से लेकर जॉन रॉल्स तथा उसके बाद अनेक विचारकों ने अपने-अपने विवेक से करने का प्रयास किया है। प्रत्येक युग में न्याय का अर्थ परिवर्तित होता रहा और इसका कोई सार्वभौमिक अन्तर नहीं खोजा जा सका क्योंकि प्रत्येक काल में न्याय की धारणा की व्याख्या तात्कालीन समाज की प्रचलित मान्यताओं के अनुसार की गयी। जैसा कि डी.डी रैफल का मत है कि-“न्याय द्विमुखी है, जो एक साथ अलग-अलग चेहरे दिखलाता है। वह विधिक भी है और नैतिक भी। उसका सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से है और उसका सरोकार जितना व्यक्तिगत अधिकारों से है उतना ही समाज के अधिकारों से भी है। वह रुढ़िवादी है लेकिन साथ ही सुधारवादी भी है।

सामान्यतः Justice शब्द लेटिन शब्द “Justitia” से बना है। जिसका अर्थ जोड़ना, बंधन अथवा ग्रंथि है। जैसा कि बाक्रर ने भी कहा है कि “न्याय का काम विभिन्न राज्य नैतिक मूल्यों को एक दूसरे के साथ जोड़ना है, एक दूसरे में रिप्लाय करना है अर्थात् तालमेल बैठाना है।” न्याय स्वयं में पूर्ण अवधारणा नहीं है बल्कि यह एक सापेक्ष अवधारणा है। समय तथा परिस्थितियों के बदलते ही इसके अर्थ में भी परिवर्तन आ जाता है किन्तु सामान्यतः न्याय का सम्बन्ध मूल्यों, औचित्य एवं सामाजिक आदर्शों से होता है। न्याय की अवधारणा को मुख्यतः दो भागों में बांटा जाता है-

(क) व्यापक अवधारणा के रूप में- इस रूप में न्याय को सत्य तथा नैतिकता के समरूप माना जाता है। इस रूप न्याय को मानव के सारे आचरणों एवं सम्बन्धों को परखने का आधार माना जाता है, समाज में अच्छाई, बुराई, धर्म-अधर्म, सदाचार-दुराचार आदि के नियमों, मूल्यों तथा आचरणों के मापने का पैमाना माना जाता है। यहां न्याय व्यक्ति से

सम्बन्धित न होकर सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित होती है। न्याय का यह रूप प्लेटों व अरस्तु के दर्शन में देखने को मिलता है। इन विचारकों ने न्याय को सर्वोच्च सदगुण के रूप में स्थापित किया। जैसा कि सिसरो ने कहा है कि “न्याय समस्त सदगुणों की अभिव्यक्त महिमा है।”

(ख) संकीर्ण अवधारणा के रूप में- संकीर्ण अर्थ में न्याय को कानून के साथ जोड़कर देखा जाता है। यहां न्याय को एक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। यह मुख्यतः न्याय का कानूनी रूप है जो न्याय को व्यक्ति के रूप में देखता है। इसके अन्तर्गत माना जाता है कि न्याय का सरोकार निष्पक्ष कानून व्यवस्था न्याय संगत कानून, कानून के समक्ष नागरिक समानता इत्यादि से है। जैसा की मेरियम ने लिखा है कि “न्याय उन मान्यताओं और प्रक्रियाओं का योग है जिनके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार व सुविधाएं जुटाई जाती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।”

6.4 न्याय के सिद्धान्त – अलग अलग विचारकों ने अलग-अलग कालों में न्याय को भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया है इन विचार को दोबारा न्याय की अवधारणा विकसित की गई-

6.4.1 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त – प्लेटो ने न्याय शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में किया। उसने न्याय को अपने सम्पूर्ण दर्शन का न केवल आधार बनाया अपितु अपनी प्रसिद्ध कृति “जेम त्मचनइसपब” का उपशीर्षक ही “Concerning Justice” रख दिया। उसने न्याय के दो रूप बताये-

(क) व्यक्तिगत या न्याय:- प्लेटो के अनुसार मनुष्य की आत्मा में तीन प्रमुख गुण-इच्छा या तृष्णा, वासना, भावना तथा ज्ञान पाये जाते हैं। वैसे तो ये सभी गुण सभी मनुष्यों में पाये जाते हैं परन्तु सभी में किसी भी एक गुण की प्रधानता रहती है। इन गुणों के आधार पर प्लेटो चार मूल सदगुणों की भी पहचान करते हैं जैसे इच्छा या तृष्णा के लिए उपयुक्त सदगुण संयम है। भावना के लिए उपयुक्त सदगुण साहस है तथा ज्ञान के लिए उपयुक्त सदगुण विवेक है। तथा चौथा सदगुण न्याय है जो कि समस्त सदगुणों के सही सही संयोग से उत्पन्न होता है। अतः व्यक्तिगत न्याय से तात्पर्य है कि जब मानवीय आत्मा के तीनों गुण अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार कर्म करते हुए इच्छा या तृष्णा साहस व विवेक से तथा भावना विवेक से नियंत्रित हो तो यही व्यक्तिगत न्याय है।

(ख) सामाजिक न्याय:- प्लेटो की मान्यता है कि राज्य व्यक्ति का ही विराट रूप है जिसमें व्यक्ति के उपयुक्त तीनों गुण राज्य के तीन वर्गों का प्रतिनिधित्व है-

व्यक्ति के गुण

1. इच्छा या तृष्णा
2. भावना या साहस
3. ज्ञान या विवेक

राज्य के वर्ग

1. उत्पादक वर्ग
2. सहायक अभिभावक वर्ग (सैनिक वर्ग)
3. दार्शनिक या शासक वर्ग

जब समाज के तीनों वर्ग- उत्पादक, सैनिक व दार्शनिक अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें अर्थात् जब उत्पादक सदजीवन की प्राप्ति के लिए अपने अंदर संयम विकसित करें, सैनिक वर्ग या भावना प्रधान वर्ग साहस तथा दार्शनिक वर्ग विवेक को विकसित करते हुए या इनसे निर्देशित होकर अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें तो यही सामाजिक न्याय है।

अतः इस प्रकार प्लेटो ने न्याय की परिभाषा करते हुए उसे एक सदगुण कहा जिसके साथ संयम, साहस तथा विवेक का संयोग होना चाहिए। उनका मत था न्याय वह सदगुण है जो अन्य सभी सदगुणों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। प्लेटो की न्याय की अवधारणा में व्यक्ति के अधिकारों के स्थान पर व्यक्ति के कर्तव्यों पर बल दिया गया है। संक्षेप में जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति व प्रत्येक वर्ग प्रकृति द्वारा निर्धारित गुणों के अनुसार अपने कर्तव्यों का पूर्ण दक्षता के साथ करता है और ऐसा करते समय दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता तो यही न्याय है। यह व्यक्ति की “सामाजिक नीतिपरायणता” का सिद्धान्त है। यह वैयक्तिक एवं सामाजिक नैतिकता का सिद्धान्त है जिसका लक्ष्य सामाजिक शुभ को प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त यह समाज में श्रम विभाजन, दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करना तथा कार्यों की विशेषज्ञता के आदर्शों का प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त भी है।

6.4.2 अरस्तु का न्याय सिद्धान्त:- अरस्तु अपने न्याय सिद्धान्त को अपने ग्रन्थ “रेटोरिक” में प्रस्तुत करता है। प्लेटो के समान अरस्तु भी स्वीकार करता है कि न्याय का अर्थ नीतिपरायणता ही है तथा इसमें नैतिकता का तत्त्व समाहित होता है।

अरस्तु के अनुसार न्याय का सरोकार मानवीय सम्बन्धों के नियमन से हैं। अरस्तु लिखता है कि “न्याय सदगुण का व्यावहारिक प्रयोग है।” अर्थात् जब सदगुण नागरिक के व्यवहार में प्रकट होता है तो वह न्याय कहलाता है। अरस्तु कहता है कि जिस व्यक्ति में विवेक विद्यमान है और यह उस व्यक्ति का सदगुण है तो जब वह व्यक्ति राज्य के दूसरे व्यक्तियों के साथ विवेकपूर्ण व्यवहार करता है तो यह विवेकपूर्ण व्यवहार अरस्तु के अनुसार न्याय कहलाता है।

प्लेटो के समान अरस्तु ने भी न्याय के दो प्रकार बताये—

(क) **वितरणात्मक न्याय:**— न्याय के इस रूप का सम्बन्ध 'व्यक्ति और राज्य' के पारस्परिक सम्बन्धों से है जिसके द्वारा राज्य अपने नागरिकों के बीच सरकारी पदों, सम्मानों तथा अन्य दूसरे लाभों का वितरण करता है। उसका मत है कि इस वितरण का मापदण्ड व्यक्ति का योगदान व सहभागिता होता है अर्थात् जिस व्यक्ति का जितना योगदान हो उसी अनुपात में उस व्यक्ति को राज्य के लाभों में से हिस्सा दिया जाए। इसलिए अरस्तु पद-प्रतिष्ठा तथा धन-सम्पदा का वितरण रेखागणितीय अनुपात में करने पर बल देते हैं। इसका अर्थ है कि इसमें सबको बराबर हिस्सा नहीं मिलना चाहिए अपितु प्रत्येक को अपनी योग्यता व योगदान के अनुसार मिलना चाहिए। इसलिए वितरणात्मक न्याय विधायक क्षेत्र में आता है जिसका मूत्र है "समान लोगों के साथ समान व्यवहार" किया जाए।

(ख) **प्रतिकारात्मक या सुधारात्मक न्याय:**— न्याय के इस रूप द्वारा राज्य के सदस्यों के पारस्परिक लेन-देन के सम्बन्धों का नियमन या नियंत्रण किया जाता है। इस रूप का प्रयोजन है कि राज्य में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध समानता तथा उचित व्यवहार पर आधारित हों। यह न्यायाधीश के विचार क्षेत्र में आता है तथा इसके लिए अंकगणितीय अनुपात (Arithmetical Properties) का प्रयोग किया जाना उपयुक्त होगा। अर्थात् इसमें किसी व्यक्ति की योग्यता अयोग्यता या सामाजिक स्थिति व योगदान पर विचार किये बिना सबको समान मानते हुए केवल व्यक्ति के कृत्य पर विचार किया जाए। अतः संक्षेप में प्रतिकारात्मक न्याय का उद्देश्य व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में सन्तुलन स्थापित करना व बिगड़े हुए सन्तुलन को सुधारना है।

इस प्रकार अरस्तु के न्याय सिद्धान्त का सम्बन्ध व्यक्तियों से है— उनमें सम्मान व सम्पदा का वितरण कैसे किया जाए या उनके व्यवहार को कैसे नियमित किया जाए इसमें समाज व्यवस्था को संगठित करने का कोई प्रयास नहीं है। इसलिए अरस्तु दोनों प्रकार के न्याय का निरूपण करते हुए यथास्थिति का समर्थक सिद्ध होता है।

6.4.3 जॉन रॉल्स का न्याय सिद्धान्त:— 20वीं शताब्दी में जब न्याय सिद्धान्त की बात की जाती है तो मूर्धन्य दार्शनिक व विचारक जॉन रॉल्स को नाम सबसे पहले आता है। रॉल्स ने न्याय को "उचितता के रूप में (Justice is fairness) परिभाषित किया है। प्लेटो के पश्चात न्याय की श्रेष्ठ व आधुनिकतम व्याख्या करने का श्रेय रॉल्स को ही दिया जाता है। रॉल्स ने अपनी पुस्तक "A Theory of Justice (1971) में न्याय की अवधारणा को राजनीतिक सिद्धान्त में केन्द्रिय स्थान दिया है। रॉल्स की न्याय की अवधारणा की पृष्ठभूमि में उपयोगितावाद की आलोचना है जिसका सार था अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की प्राप्ति करना। रॉल्स ने इसी सार की आलोचना करते हुए प्रतिपादित किया कि अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की धारणा समाज के उस असहाय निर्धन को भूला देता है जो निर्धन उपेक्षित व साधनविहीन हैं उपयोगितावाद समाज के अन्तिम छोर पर रहने वाले उस निम्नतम लाभग्राही व्यक्ति की उपेक्षा करता है जो कि समाज का अंश है हिस्सा है इस परिप्रेक्ष्य में रॉल्स विकल्प के रूप में ऐसे न्याय सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है जिसमें समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से अधिकार, लाभ, व स्वतंत्रताएं उपलब्ध हो सकें। रॉल्स के अनुसार सुखी लोगों के सुख को कितना ही क्यों न बढ़ा दिया जाए, उससे दुखी लोगों के दुख का हिसाब बराबर नहीं किया जा सकता।

न्याय के स्वरूप व महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए रॉल्स कहता है कि "न्याय सामाजिक संस्थाओं का उसी प्रकार प्रथम सदगुण है जिस प्रकार विचारों की व्यवस्था का प्रथम सदगुण सत्य होता है।" रॉल्स के अनुसार न्याय की समस्या प्राथमिक वस्तुओं जैसे कि व्यक्ति की स्वतंत्रताएं, अधिकार, अवसर, आय-सम्पदा तथा आत्म सम्मान जैसे मूल्यों का व्यक्तियों के बीच वितरण किस प्रकार किया जाए। रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त को "शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय" की संज्ञा दी अर्थात् प्रक्रियात्मक न्याय का तात्पर्य है कि न्याय के जो सिद्धान्त सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिए जायें उनके प्रयोग से जो भी वितरण व्यवस्था अस्तित्व में आयेगी वह अनिवार्यतः न्यायपूर्ण होगी। रॉल्स ने अपने दर्शन में इस प्रक्रियात्मक न्याय का इतना तत्त्वसंगत रूप विकसित किया वह तात्त्विक या सामाजिक न्याय के साथ एकाकार हो गया। और यही रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की विशिष्टता मानी गयी है। जिसमें प्रक्रिया व लक्ष्य दोनों को उचित या न्यायपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।

रॉल्स ने न्याय के सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए एक ऐसे मूल समाज की संरचना की अवधारणा प्रस्तुत की जो न्याय के सिद्धान्तों की खोज करता है। इसके लिए रॉल्स सामाजिक समझौता सिद्धान्तों के प्रतिपादकों के समान एक काल्पनिक अवस्था का चित्रण करता है जिसे वह "मूल स्थिति" का नाम देता है।

मूल स्थिति का स्वरूप:— रॉल्स कहता है कि इस मूल स्थिति में रहने वाला व्यक्ति विवेकशील है, अपने हितों का बुद्धिमतापूर्ण तरीकों से अनुसरण करने की क्षमता रखता है। उनमें समाज के दूसरे व्यक्तियों से किसी प्रकार का द्वेष नहीं है। मूल स्थिति में कोई भी व्यक्ति समाज में स्वयं की सामाजिक स्थिति से अपरिचित है। इसके अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति को अपनी स्वाभाविक योग्यताओं, क्षमताओं एवं बुद्धिमत्ता का भी बोध नहीं है। इस स्थिति को रॉल्स ने "अज्ञान के पर्दे" (Veil of Ignorance) की संज्ञा दी। इस काल्पनिक स्थिति में मनुष्य यह भी नहीं जानते कि वास्तविक समाज में कौन-कौन सी बातें संघर्ष पैदा करती हैं। रॉल्स का मानना है कि इस मूल स्थिति के लोग एक समझौते के द्वारा ऐसे सिद्धान्तों की खोज करेंगे जिनके द्वारा सभी व्यक्तियों के मूल अधिकारों तथा कर्तव्यों का निर्धारण किया जा सके, समाज

से मिलने वाले लाभों को लोगों के बीच वितरण का आधार सुनिश्चित किया जा सके। रॉल्स का मानना ऐसी स्थिति में लोग परस्पर सहमति से जो नियम स्वीकार करेंगे उन्हें अनिवार्य रूप से विश्वव्यापी आधार पर न्याय के नियम स्वीकार किया जा सकता है। रॉल्स के अनुसार ऐसी हालत में ये मनुष्य कोई जोखिम उठाने को तैयार नहीं होंगे क्योंकि अज्ञान के पर्दे के पीछे वे यह नहीं जानते कि वे कितना दांव लगा सकते हैं इस अनिश्चितता की स्थिति में वे उनके सामने जो भी विकल्प होंगे उनमें से वे सबसे कम खतरनाक रास्ता चुनेंगे। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को यह अंदेशा रहेगा कि वास्तविकता प्रकट होने पर वह अपने आप को हीनतम स्थिति में पायेगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति यह मांग करेगा कि जो हीनतम स्थिति में है उसके लिए अधिकतम लाभ की व्यवस्था होनी चाहिए। इससे प्रत्येक व्यक्ति सुरक्षित अनुभव करेगा। रॉल्स के अनुसार मूल स्थिति में अज्ञान के पर्दे के पीछे बैठे लोगों द्वारा न्याय के दो सिद्धान्तों की खोज की जाती है तथा जिन सिद्धान्तों के आधार पर ऐसा समाज खड़ा किया जायेगा जिसे समाज की नींव में न्याय के सिद्धान्त निहित होंगे।

न्याय के दो सिद्धान्तः- न्याय के जिन दो सिद्धान्तों का रॉल्स ने मूल स्थिति में चयन किया वे इस प्रकार हैं:-

(i) “प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी अत्यन्त व्यापक स्वतन्त्रता का समान अधिकार जो दूसरों की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता के अनुरूप है।”

रॉल्स के शब्दों में ‘मूल स्वतन्त्रताओं के वितरण में समानता होनी चाहिए’ अर्थात् न्याय का पहला सिद्धान्त सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के एक समान स्वतन्त्रता प्रदान करता है। रॉल्स के अनुसार ये मूल स्वतन्त्रताएं निम्न हैं राजनीतिक स्वतन्त्रता, भाषण की तथा एकत्रित होने की स्वतन्त्रता अन्तःकरण की स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, निजी सम्पत्ति की स्वतन्त्रता इत्यादि। न्याय के इस सिद्धान्त की प्रमुख शर्त ये है कि मूल स्वतन्त्रताओं के वितरण में किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो।

(ii) “सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएं इस प्रकार से व्यवस्थित की जायें जिससे कि वे दोनों (अ) प्रत्येक के लाभ के लिए यथोचित रूप से अपेक्षित हो तथा (ब) सभी के लिए खुली पदस्थिति व पदों से संलग्न हो।”

रॉल्स के इस दूसरे सिद्धान्त के भाग एक को “विभेद का सिद्धान्त” व दूसरे भाग को “अवसर की उचित समानता” का सिद्धान्त कहा गया। न्याय के दूसरे सिद्धान्त के अन्तर्गत रॉल्स ने अवसर की समानता को न्याय की पहली शर्त माना तथा यह शर्त पूरी हो जाने के बाद विभेदमूलक सिद्धान्त में प्रयोग किये जाने पर बल दिया। अर्थात् सामाजिक आर्थिक विषमताओं को इस ढंग से व्यवस्थित किया जाए कि पहले सभी को समान अवसर प्राप्त हो तथा उसके बाद प्राथमिक विषमताओं को इस ढंग से व्यवस्थित किया जाए कि पहले सभी को समान अवसर प्राप्त हो तथा उसके बाद प्राथमिक वस्तुओं के समान वितरण में किसी भी तरह की छुट को तभी औचित्यपूर्ण ठहराया जाए जब यह सिद्ध किया जा सके कि इससे हीनतम स्थिति वाले मनुष्यों को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में किसी व्यक्ति की असाधारण योग्यता व परिश्रम के लिए विशेष पुरस्कार देना तभी उचित माना जायेगा जब कि उससे दोन-हीन व्यक्तियों की स्थिति में सुधार होने की संभावना होगी। इस प्रकार रॉल्स विषमताओं को स्वीकार करता है क्योंकि प्राथमिक वस्तुएं सीमित हैं और इसलिए उनका बंटवारा समान नहीं हो सकता इसलिए आवश्यक है कि सामाजिक विषमताओं को तत्क्रसंगत या औचित्यपूर्ण सिद्ध किया जा सके।

अतः इस प्रकार रॉल्स ने प्रक्रियात्मक न्याय के माध्यम से सामाजिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास किया। उसने अपने न्याय सिद्धान्तों के द्वारा यह व्यवस्था की है कि विशेष प्रतिभाशाली लोग लाभ प्राप्ति के हकदार तभी मान जायेंगे जब वे अपनी प्रतिभा का प्रयोग हीनतम लोगों के कल्याण के लिए करने को तैयार हो। रॉल्स ने प्रतिपादित किया कि सामाजिक न्याय व प्रक्रियात्मक न्याय अलग-अलग नहीं है। अपितु सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए न्याय की प्रक्रिया को औचित्यपूर्ण एवं सुदृढ़ करना आवश्यक होगा तो न्याय की प्रक्रिया को निर्धारित करते समय सामाजिक न्याय के लक्ष्य को ध्यान में रखना होगा और ऐसा करने से जिस-जिस सामाजिक संरचना का निर्माण होगा वह अनिवार्य रूप से न्याय संगत होगी।

6.4.4 नॉजिक का न्याय सिद्धान्तः- नॉजिक को स्वेच्छातन्त्रवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि विचारक माना जाता है। नॉजिक ने अपनी पुस्तक “The anarchy, State and utopia” के अन्तर्गत रॉल्स से भिन्न न्याय का दृष्टिकोण प्रतिपादित करते हैं। उसने अपने न्याय के सिद्धान्त को न्याय का अधिकारिता सिद्धान्त (Entitlement Theory of Justice) या पात्रता का सिद्धान्त भी कहा। नॉजिक का अधिकारिता सिद्धान्त तीन मान्यताओं पर आधारित है-

(i) **न्यायपूर्ण अधिग्रहण का सिद्धान्तः-** नॉजिक का मानना है कि आरम्भ में सभी सम्पत्तियां अनर्जित थीं। फिर भिन्न-भिन्न मनुष्यों ने अपने परिश्रम तथा अपनी प्रतिभा से सम्पत्ति का निर्माण किया। वे मनुष्य उस सम्पत्ति के अधिकारी माने जायेंगे अर्थात् व्यक्ति को अपनी प्रतिभा से अर्जित सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है। तथा सम्पत्ति व्यक्ति के आत्म स्वामित्व का एक भाग है।

(ii) **न्यायपूर्ण हस्तांतरण का सिद्धान्तः-** इसका अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति जिस वस्तु का स्वामी है और जिसे उसने न्यायपूर्ण तरीके से अर्जित किया है उसे वह स्वेच्छापूर्वक हस्तांतरित करने का अधिकारी है।

(iii) **अन्याय के परिष्कार का सिद्धान्त**— इसका अभिप्राय है कि यदि अतीत काल में कहीं अन्यायपूर्ण तरीके से किसी वस्तु का अधिग्रहण या हस्तांतरण किया गया हो तो ऐसी स्थिति में उसका प्रतिकार या परिष्कार किया जाना उचित है। अर्थात् नॉजिक का मानना है कि यदि लोगों की वर्तमान सम्पत्ति उचित अधिग्रहण या उचित हस्तांतरण का परिणाम है तो राज्य को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए फिर चाहे उसे असमानताएं ही उत्पन्न क्यों ना हो रही हो। ऐसी सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण के लिए निम्न सूत्र अपनाया जाना चाहिए “हरेक से उतना जितना वह देना चाहे, हरेक को उतना जितना उसे कोई देना चाहे।” इसी परिप्रेक्ष्य में नॉजिक कराधान को भी वहीं तक उचित ठहरा सकते हैं जहां तक वह न्यूनतम राज्य का खर्च उठाने के लिए जरूरी हो। नॉजिक ने इसके लिए तर्क दिया कि समाज में उत्पादन के स्वर पर जो असमानताएं पाई जाती हैं उन्हें वितरण के स्तर पर बदलने का प्रयत्न विनाशकारी होगा। अपने इस न्याय सिद्धान्त के आधार पर नॉजिक ने प्रतिपादित किया कि राज्य के समस्त लोक-कल्याणकारी कार्य अनुचित हैं क्योंकि लोक कल्याणकारी कार्य करने लिए लोगों की ईच्छा के विरुद्ध उन पर कर लगाना पड़ेगा जिससे न्याय के सिद्धान्त का उल्लंघन होगा।

6.5 न्याय के विविध आयाम:— न्याय के सिद्धान्त का मुख्य सरोकार यह निर्धारित करने से है कि सामाजिक जीवन में लाभों तथादायित्वों के वितरण क तत्संगत मापदण्ड क्या होने चाहिए। न्याय की इस समस्या पर अनेक विचारकों ने अलग-अलग दृष्टियों से विचार किया जिससे न्याय के विविध रूप सामने आते हैं जो कि निम्नवत् हैं:—

(अ) प्राकृतिक व कानूनी औपचारिक न्याय:— प्राकृतिक न्याय का सम्बन्ध कानून के अलिखित हिस्से से है। विचारक कानूनों के पीछे छिपे हुए कानून से जुड़े सिद्धान्तों को प्राकृतिक न्याय की संज्ञा देते हैं। इसे प्राकृतिक न्याय इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसकी प्रामाणिकता का कोई और स्त्रोत नहोकर स्वयं प्रकृति है इसमें यह विश्वास निहित है कि क्योंकि मनुष्य विवेकशील प्राणी है इसलिए अपने विवेक व तर्क बुद्धि का प्रयोग करते हुए वह जो निष्कर्ष निकालेगा वे प्राकृतिक न्याय का आधार है। प्रसिद्ध विचारक एच.सी. मार्शल ने अपनी महत्वपूर्ण कृति “The Natural Justice” (1959) में प्राकृतिक न्याय के दो मूल तत्वों का उल्लेख करता है— (क) कोई व्यक्ति स्वयं अपने मामले में न्यायधीश नहीं होगा। (ख) दोनों पक्षों की सुनवाई अवश्य की जानी चाहिए।

जब दो पक्षों के परस्पर विरोधी दावों का फैसला करने के लिए या किसी व्यक्ति या संस्था के अधिकार व दावों का फैसला करने के लिए प्रचलित कानून के अनुसार न्याय किया जाता है तब उसे कानूनी या औपचारिक न्याय कहा जाता है। इस न्याय में लिखित कानून ही इसकी प्रामाणिकता का स्त्रोत होता इसलिए इसे निष्पक्ष रूप से लागू किया जा सकता है इसलिए यह औपचारिक न्याय भी कहलाता है।

(ब) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय:— सामाजिक न्याय से तात्पर्य है कि सामाजिक जीवन में मानव गरिमा का सम्मान करते हुए अनमें रंग, नस्ल, जाति, धर्म लिंग इत्यादि के भेदभाव न किया जाए और उन्हें उन्नति के समान अवसर सुलभ हों किन्तु साथ ही आधुनिक युग में सामाजिक न्याय विभिन्न पक्षों के परस्पर विरोधी दावों या सामाजिक लाभों के वितरण पर विचार करते समय निर्बल व निर्धन पक्ष को विशेष सहायता व संरक्षण प्रदान करने की भी मांग करता है। अतः इसप्रकार सामाजिक न्याय बंधुत्व के आदर्श को साकार करना चाहता है।

आर्थिक न्याय से तात्पर्य है सबको अपनी-अपनी क्षमता व आवश्यकता के अनुसार उचित शर्तों पर अपेक्षित वस्तुएं व सेवाएं प्राप्त हो सके। अर्थात् समाज में सभी लोगों को अपनी-अपनी योग्यता व परिश्रम के अनुसार उचित लाभ व पुरस्कार प्राप्त करने का अवसर मिल सके। आर्थिक न्याय ‘समानता’ के आदर्श को अपनाये जाने पर बल देता है।

राजनीतिक न्याय का अभिप्राय है कि सार्वजनिक नीतियां निर्धारित करने की प्रक्रिया में सबको प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर अधिकार प्राप्त हो। सत्ता प्राप्त करनेले कामार्ग सबके लिए खुला हो तथा सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग सबके हित को ध्यान में रख कर किया जाए। अतः राजनीतिक न्याय ‘स्वतंत्रता’ के आदर्श को प्रमुखता देता है।

(स) प्रक्रियात्मक न्याय व तात्त्विक न्याय:— प्रक्रियात्मक न्याय का सरोकार सामाजिक लाभों के वितरण की प्रक्रिया या विधि को न्यायपूर्ण बनाए जाने पर बल देता है। न्याय के रस रूप का मानना है कि केवल सबके लिए समान नियम (जाति, धर्म, त्वचा, रंग, लिंग भाषा इत्यादि के आधार पर भेदभाव किए बिना) बना देन पर सब मनुष्य अपने परस्पर सम्बन्धों को स्वतः न्यायपूर्ण ढंग से सम्पादित कर लेंगे और सरकार को इस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता ही नहीं होगी। न्याय का यह रूप कानूनी औपचारिक न्याय के समाना दिखायी देता है। अतः प्रक्रियात्मक न्याय के अनुसार न्याय का काम केवल व्यक्तियों या समूहों के परस्पर सम्बन्धों को नियमित करना है न्याय का यह रूप उदारवाद के साथ अधिक सम्बद्ध है।

तात्त्विक न्याय, न्याय का वह रूप है जिसका मानना है कि सम्पूर्ण सामाजिक सम्पदा, लाभ, उत्पादन के साधन, सम्मान अवसर इत्यादि का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिए। अर्थात् तात्त्विक न्याय सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्र की अनुचित विषमताओं के कारण जो व्यक्ति या समूह स्वतंत्रता या आत्मविकास के अवसरों से वंचित रह गया उसके हितों

की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। तात्त्विक न्याय की धारणा सामाजिक न्याय व समाजवादी विचारधारा के अधिक सम्बद्ध है।

6.6 न्याय वे कानून में संबंध:- न्याय वे कानून एक न होकर दोनों में अंतर होता है दोनों में निम्न अंतर है-

1. न्याय सहाय है तथा कानून साधन है जिसका मूल्य उद्देश्य न्याय की प्राप्ति करना है
2. न्याय राज्य से ऊपर व स्वतंत्र होता है जबकि कानून राज्य द्वारा निर्मित होता है
3. न्याय का तात्त्विक या मौलिक रूप एक ही होता है जबकि कानून का रूप बदलता रहता है प्रत्येक शासन प्रणाली व राज्य की सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार कानून का स्वरूप बदलता रहता है तथापि न्याय व कानून एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित भी होते हैं राजनीतिक विचारक सामण्ड का कहना है कि नए कानून का अंतिम पत्र प्रदर्शक है तथा कानून व बुनियादी तकनीक है जिसके द्वारा न्याय की प्राप्ति हो सकती है

6.7 न्याय व नैतिकता में संबंध :- न्याय के कानून के समान न्याय व नैतिकता भी परस्पर संबद्ध है नैतिकता न्याय की प्राप्ति में मदद करती है या नैतिकता न्याय का आधार है तथा न्याय नैतिकता को सशक्त बनाता है किंतु फिर भी दोनों में निम्न अंतर है

1. नैतिकता मूल रूप से वैयक्तिक होती है इसका संबंध व्यक्ति के आधार से है जबकि न्याय व्यक्ति व राज्य दोनों में पाया जाता है।
2. नैतिकता का क्रिया विनियम अंतः करण द्वारा होता है और यह न्यायालय से परे है जबकि न्याय को न्यायालय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।
3. नैतिकता का संबंध केवल आदर्श से है जबकि न्याय का संबंध आदर्श व व्यवहार दोनों से है।
4. नैतिकता का उल्लंघन होने पर दंड का प्रावधान नहीं है अर्थात् नैतिकता को बाय करी तरीके से लागू नहीं करवाया जा सकता जबकि न्याय के साथ दंड वे बाध्यता का प्रावधान।

6.8 निष्कर्ष — उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि न्याय की धारणा राजनीतिक सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है सामाजिक आरती कानून व राजनीतिक क्षेत्रों में स्कोर स्थापना सम्य समाज की गारंटी है न्याय ही कानून की आधारशिला है और उसकी उचित था व अनुचित था की कसौटी है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. न्याय क्या है? इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए?
2. न्याय पर एक लेख लिखिए?
3. रॉल्स के न्याय सिद्धांत की विवेचना कीजिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. न्याय का नैतिकता से संबंध बताइये?
2. नॉजिक का न्याय सिद्धांत क्या है?
3. सामाजिक व आर्थिक न्याय क्या है?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. न्याय क्या है?
2. सामाजिक न्याय से क्या तात्पर्य है?
3. तात्त्विक न्याय का अर्थ क्या है?

इकाई-7

कर्तव्य बोध

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 कर्तव्य बोध का अर्थ व प्रकार

7.3.1 कर्तव्य बोध का महत्व

7.3.2 कर्तव्य बोध व अधिकार में परस्पर संबंध

7.3.3.1 उदारवाद के अनुसार कर्तव्य व अधिकार

7.3.3.2 रूढ़िवाद के अनुसार कर्तव्य व अधिकार

7.3.3.3 गांधीवादी आधार पर कर्तव्य व अधिकार

7.3.3.4 समुदाय वादी परिप्रेक्ष्य में कर्तव्य का अधिकार

7.4 निष्कर्ष

7.1 उद्देश्य— प्रस्तुत इकाई के अध्ययन का उद्देश्य है कि—

- कर्तव्य की अवधारणा को स्पष्ट करना।
- कर्तव्य बोध के महत्व को रेखांकित करना।
- कर्तव्य व अधिकार के परस्पर संबंध को स्पष्ट करना।

7.2 प्रस्तावना— राजनीतिक सिद्धांत में कर्तव्य व अधिकार दो महत्वपूर्ण अवधारणा हैं। विचारकों का मानना है कि किसी भी राजनीतिक समुदाय की सदस्यता ग्रहण करने के साथ ही व्यक्ति के अधिकार व कर्तव्य सुनिश्चित हो जाते हैं। राजनीतिक सिद्धांत में कर्तव्य अधिकार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को सुनिश्चित करते हैं यथा— जो राजनीतिक व्यवस्था कर्तव्य पर अधिक बल देती है समुदाय वादी व्यवस्था है और जो अधिकारों पर बल देती है वह उदारवादी व्यवस्था है।

7.3 कर्तव्य बोध का अर्थ व प्रकार — साधारण अर्थों में कर्तव्य से तात्पर्य मनुष्य में उत्तरदायित्व से है। विचारकों का मानना है कि जैसे ही व्यक्ति किसी नागरिक समाज या समुदाय का हिस्सा बनना है तभी उससे यह आशा की जाती है कि वह राज्य या समाज के प्रति उन दायित्वों या कार्यों का निर्वाह करेगा जिससे एक शिष्ट व सभ्य समाज या राज्य की स्थापना की जा सके। अतः कर्तव्य किसी विशेष कार्य को करने या न करने सम्बन्धी व्यक्ति का उत्तरदायित्व है जो कि राज्य या समाज के लिए वांछनीय या अवांछनीय है, कर्तव्य कहलाता है। इसीलिए किसी भी सभ्य समाज में जहाँ नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सुविधाएँ अधिकार के रूप में दी जानी हैं वहीं ऐसा सभ्य समाज अपने नागरिकों पर कर्तव्यों के रूप में कुछ बाध्यताएँ भी सुनिश्चित करता है जिससे राज्य व नागरिकों में परस्पर समन्वय बना रहे। कर्तव्य व्यक्तियों एवं समुदायों पर उनके सामाजिक व्यवहार में बाध्य शर्तों को तय करता है। कर्तव्य व्यक्ति को सभ्य नागरिक बनने के लिए प्रेरित करता है और प्रत्येक नागरिक को यह निर्देशित करता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। जैसे अरस्तु ने प्रतिपादित किया कि प्रत्येक नागरिक को अपने अवकाश में समय में राज्य से सम्बन्धित गतिविधि में भाग लेना चाहिए। कर्तव्यों को सकारात्मक व नकारात्मक दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है। नकारात्मक कर्तव्य व्यक्तियों को वह व्यवहार करने से रोकता है जिससे दूसरे व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों व अधिकारों का निर्वाह करने में बाधा उपस्थिति होती है यथा— सार्वजनिक स्थलों पर किसी विशेष धर्म को लेकर किसी भी प्रकार की टिप्पणी न करना एक सभ्य नागरिक का कर्तव्य है। इसी प्रकार सकारात्मक कर्तव्य नागरिकों को कुछ ऐसे दायित्वों का निर्वाह करने के लिए प्रेरित करता है जिससे एक आदर्श राज्य व समाज की स्थापना हो सके। यथा— अपने राष्ट्रीय प्रतीक चिन्हों का सम्मान करना सभ्य नागरिक का सकारात्मक कर्तव्य है। अतः नकारात्मक कर्तव्य किसी कार्यवाही को सम्पादित करने से रोकने का प्रयास है वहीं सकारात्मक कर्तव्य ऐसे कार्यों को करने हेतु प्रोत्साहित करने का प्रयास है जो कि राज्य व समाज के लिए आवश्यक व लाभदायक हो। इसके अतिरिक्त भी विचारकों ने कर्तव्यों के निम्न प्रकार भेद और बताये हैं—

- (क) **वंचना को टालने हेतु कर्तव्य** :- अर्थात् किसी दूसरे की किसी साधन से वंचित न करने या सन्तोष प्राप्त करने का कर्तव्य।
- (ख) **वंचना से रक्षा हेतु कर्तव्य** :- अर्थात् जब वंचना को टालने में कर्तव्य का सही प्रकार से निर्वाह नहीं हो पाता तब उनकी रक्षा के लिए इन कर्तव्यों का निर्वाह किया जाता है। सब के हित के लिए सरकारों द्वारा इन कर्तव्यों को लागू किया जाता है।
- (ग) **वंचितों की सहायता हेतु कर्तव्य** :- इस श्रेणी में उन कर्तव्यों को लिया जाता है जो किसी पीड़ित या असहाय की सहायता प्रदान करने हेतु सम्पादित किये जाते हैं। जैसे वृद्ध व विकलांग जनों के प्रति कर्तव्य, प्राकृतिक अपदाओं से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता कार्यवाही किये जाने सम्बन्धी कर्तव्य इत्यादि।

7.3.1 कर्तव्य बोध का महत्व— विचारकों का मानना है कि अधिकारों के प्रबन्धन के लिए कर्तव्यों का निर्धारण आवश्यक है। यदि एक सम्य समाज या राज्य में नागरिक मौलिक अधिकारों की मांग करता है तो अवश्य है कि सरकार द्वारा निर्धारित मौलिक कर्तव्यों का भी पालन करे। कर्तव्यों की अवधारणा नैतिकता से जुड़ी होने के कारण समाज को एक आदर्श समाज बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। विचारकों का मानना है कि लोकतांत्रित समाज या राज्य में जहाँ अधिकारों व कर्तव्यों में समन्वय किया जाता है वहीं फासीवाद, साम्यवाद, माओवाद जैसे सत्तावादी राज्यों में कर्तव्यों पर बल देकर एक विशेष विचारधारा व मूल्यों को समाज में स्थायित्व दिये जाने का प्रयास किया जाता है।

7.3.2 कर्तव्य बोध व अधिकार में परस्पर संबंध— अधिकार तथा कर्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना व्यर्थ है। उदारवादी मत में कर्तव्य एवं अधिकार निकट संबंधी हैं। यदि एक व्यक्ति अधिकार रखता था, तो दूसरा उनके संरक्षण एवं प्रोत्साहन हेतु कर्तव्यों से बँधा है। उदाहरण स्वरूप यदि एक के पास भौतिक सुरक्षा का अधिकार है, तो दूसरे का कर्तव्य है कि उस सुरक्षा को क्षति न पहुँचाए और यदि यह भंग होती है या इस प्रकार भौतिक सुरक्षा पर कोई हमला होता है, तो राज्य का कर्तव्य है कि उस व्यक्ति की रक्षा करे। इस प्रकार कर्तव्यों एवं अधिकारों में एकरूपता दिखाई देती है। कि कर्तव्य बोध व अधिकार में परस्पर संबंध को लेकर निम्न दृष्टिकोण प्रचलित है। यथा—

7.3.3.1 उदारवाद के अनुसार कर्तव्य व अधिकार— उदारवादी विचारधारा के अनुसार कर्तव्यों व अधिकारों के निम्न अवस्थाएँ—

- (i) **स्वत्व सिद्धांत**— इस सिद्धांत का निर्देशन **जॉर्जेमी बैन्थम** ने किया था। इसमें अधिकारों का प्राकृतिक या नैतिक न होकर कानून की प्रस्तुतियों के रूप में रखा गया। बैन्थम के अनुसार कानून कर्तव्यों का निर्धारण करने अधिकारों की गारंटी देता है। उनके अनुसार यदि एक व्यक्ति के द्वारा कोई काम करने के कारण अन्य को कष्ट हो, तो वह व्यक्ति दण्ड पाने का अधिकारी है। इसे "अनुमोदन सिद्धांत" के नाम से भी जाना जाता है। एक व्यक्ति के अधिकार का स्वत्व दूसरे का कानूनी कर्तव्य हो जाता है और यह कानूनी कर्तव्य तभी बनता है, जब दण्ड का डर हो। दण्डात्मक अधीनता का अर्थ है व्यक्ति के कर्तव्य के बोझ तले दबना। वस्तुतः एक व्यक्ति का अधिकार समाज के दूसरे व्यक्ति का कर्तव्य है। **मिल** कहते हैं कि "अधिकार रखना ऐसा कुछ रखता है, जिसके स्वत्व में समाज को व्यक्ति की रक्षा करनी चाहिए।"
- (ii) **विकल्प सिद्धांत**— **एच.एल.ए. हार्ट** इस सिद्धांत के अत्यंत महत्वपूर्ण पक्षधर हैं। उनके अनुसार अधिकार एक प्रकार की पसंद हैं। कर्तव्य-अधिकार के बीच संबंध एक कड़ी है, जो उस कर्तव्य-विशेष को धारण करने वाले व्यक्ति को एक सिरे से बाँधती है और इसका दूसरा सिरा, एक दूसरे व्यक्ति के हाथ में होता है, जो अपनी इच्छानुसार उस अधिकार का प्रयोग करता है। जिस व्यक्ति के पास अधिकार है, वह किसी कर्तव्य विशेष को टाल सकता है या बने रहने दे सकता है।
- (iii) **स्वायत्तता** — स्वायत्तता का अर्थ हमारे विचारों, प्राथमिकताओं, मूल्यों आदि के विषय में सोचने, उनका प्रतिपादन करने तथा उनमें संशोधन करने की क्षमता है। **कैन्ट** ने स्वायत्तता के संबंध में कर्तव्य की एक विशेष विवेचना की है। स्वायत्तता के लिए अपनी योग्यता से व्यक्ति कानून के अनुसार व्यवहार करता था। वह कानून उस व्यक्ति के लिए ही निश्चित होता था। इस स्वायत्तता को बढ़ाना तथा इस क्षमता के आधार पर दूसरे से व्यवहार करना हो मनुष्यों का कर्तव्य है।

7.3.3.2 रूढ़िवाद के अनुसार कर्तव्य व अधिकार— रूढ़िवादी कर्तव्यों को प्रधानता देते हैं। उनके अनुसार सामाजिक संस्थाएँ तथा लोकप्रथाएँ अनेक पीढ़ियों के प्रयासों द्वारा बनाई गई हैं। प्रत्येक पीढ़ी की संस्कृति संस्थाओं एवं लोक-प्रथाओं में शामिल की जानी चाहिए। परम्पराओं द्वारा लोगों को काम मिलता है और ऐसे उत्तरदायित्व भी मिलते हैं, जिन्हें निभाना होता है। इनको निभाकर व्यक्ति आने वाली पीढ़ियों को समाजों के सामाजिक जीवन में भागीदारी के काबिल बनाता है। इस प्रकार संस्थाओं का लक्ष्य आगे बढ़ता है। मनुष्य इन कर्तव्यों का पालन करने स्वयं को पूर्ण करता है, जिससे समाज के उद्देश्य पूर्ण होते हैं। रूढ़िवादी मानते हैं कि समाज के सदस्यों को संस्थाओं व जीवनदृष्टियों को श्रद्धा, भय तथा सम्मान से देखना चाहिए। वे कर्तव्यों को मूल्यों की किसी परम्परा के साथ जोड़ देते हैं।

7.3.3.3 गांधीवादी आधार पर कर्तव्य व अधिकार— महात्मा गाँधी हमेशा कर्तव्यों पर जोर देते थे। गाँधीजी के अनुसार आत्म-अनुशासन का कर्तव्य और उस आधार पर एक रूप परिवर्तन ही स्वराज है। गाँधीजी के मतानुसार स्वशासन का अर्थ है—दूसरों के लिए हमारी बाध्यता का ऐच्छिक हस्तांतरण। हमारे नागरिक कर्तव्य अन्दरूनी आत्मोन्नति से प्रभावित होते हैं। गाँधीजी ने प्रभुत्व स्थापना का विरोध किया। उन्होंने कहा कि आजादी नैतिक विकास के लिए जरूरी है। गाँधीजी ने धर्म-पथ को सही मानते हुए वर्ण-व्यवस्था का पोषण किया। उनके अनुसार वर्ण श्रम के मेहनताने के आधार पर नहीं विभाजित होता और न ही योग्यताओं के आधार पर वर्ण विभाजन होता है। बल्कि “वर्ण उस कर्तव्य संकेत से अधिक कुछ भी नहीं है, जो हमें हमारे पूर्वजों द्वारा सौंपा गया है।” वर्ण ने व्यक्ति को उसके विकास और व्यवसाय के लिए बढ़ावा दिया है और अपने स्वत्व की रक्षा करने में सहायता की है, क्योंकि वर्ण पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है, जिससे लोगों को ऊँचे व्यवसाय मिलने में मदद मिल रही है। गाँधीजी के अनुसार वर्ण-व्यवस्था ने भौतिक महत्वाकांक्षाओं को भी सीमित किया है। वर्ण किसी भी व्यक्ति को वह ज्ञान या योग्यता प्राप्त करने से नहीं रोकता, जो वह व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है। इसीलिए शूद्र को भी शिक्षा प्राप्त करने का उतना ही अधिकार है, जितना एक ब्राह्मण को। गाँधीजी ने स्वराज व धर्म के विचारों को अनासक्ति व अहिंसा से जोड़ा। अहिंसा दूसरों को सम्मान व समानता प्रदान करने के सिद्धांत को प्रोत्साहन देती है। इसने लोगों को भौतिक संपन्नता से उलझने के स्थान पर सच्चे प्रामाणिक विकल्पों को चुनने की स्वतंत्रता प्रदान की।

7.3.3.4 समुदायवादी परिप्रेक्ष्य में कर्तव्य का अधिकार— समुदायवादी के तर्कानुसार अधिकारों को प्राथमिकीकरण हमें विकल्पों के प्रयोग में सक्षम बनाने वाली परिस्थितियों की उपेक्षा करता है। वे अधिकारों को प्राथमिकता देने वालों पर दोषारोपण करते हैं। वे अधिकारों की श्रेष्ठता संबंधी धारण को नहीं मानते। वे यह नहीं मानते कि नैतिक आधार कर्तव्यों, सदगुणों एवं सामूहिक कल्याण से ऊपर है। अधिकार-आधारित संदर्भों के प्रति गैर-पक्षपातपूर्ण राजनीतिक धारण को भी समुदायवादी निरस्त करते हैं, क्योंकि इनमें राज्य किसी समाज में प्रभावी श्रेष्ठ जीवन की संकल्पनाओं के प्रति उदासीन रहता है। अगर लोग धारणाओं एवं कर्तव्यों द्वारा बनाई गई जीवनदृष्टियों के माध्यम से आपस में जुड़े न हों, तो अधिकारों को आदर नहीं मिलेगा। कर्तव्यों के माध्यम से हम दूसरों को प्रभावित कर पाते हैं तथा अधिकारों के क्रियान्वयन के लिए अच्छा सामाजिक वातावरण भी तैयार करते हैं। समुदायवादियों के अनुसार कर्तव्य अधिकारों के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण है। कर्तव्य सभी के हितों की रक्षा भी करते हैं।

7.4 निष्कर्ष— निष्कर्ष अतः इस प्रकार कर्तव्य बोध की अवधारणा राजनीतिक समुदाय का सदस्य होने के नाते व्यक्ति के दायित्व का निर्धारण करती है। व्यक्ति के अपने व्यवस्था के प्रति कौन-कौन से दायित्व होने चाहिए इस प्रश्न पर अलग-अलग दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. कर्तव्य बोध की अवधारणा को विस्तार से समझाइए?
2. कर्तव्य बोध के अर्थ व प्रकार को स्पष्ट करते हुए इसका महत्व बताइए?
3. कर्तव्य बोध व अधिकारों को परस्पर संबंध की विवेचना कीजिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कर्तव्य बोध की अवधारणा को समझाइए?
2. कर्तव्यबोध के प्रकार बताइए?
3. कर्तव्यबोध की अवधारणा का महत्व क्या है?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कर्तव्य बोध क्या है?
2. कर्तव्य कितने प्रकार के होते हैं?
3. कर्तव्य का अर्थ व प्रकार?

इकाई-8

नागरिकता

- 8.1 उद्देश्य
- 8.2 प्रस्तावना
- 8.3 नागरिकता का अर्थ व परिभाषा
- 8.4 नागरिकता की आवश्यक शर्तें
- 8.5 नागरिकता निर्धारण के सिद्धांत
 - 8.5.1 जन्मजात नागरिकता
 - 8.5.2 राज्यकृत नागरिकता
- 8.6 नागरिकता के सिद्धांत
 - 8.6.1 नागरिकता का ग्रीक सिद्धांत
 - 8.6.2 नागरिकता का स्टोइक सिद्धांत
 - 8.6.3 नागरिकता का रोमन सिद्धांत
 - 8.6.4 नागरिकता का उदारवादी सिद्धांत
 - 8.6.5 नागरिकता का स्वेच्छातंत्रवादी सिद्धांत
 - 8.6.6 नागरिकता का समुदाय वादी सिद्धांत
 - 8.6.7 नागरिकता का मार्क्सवादी सिद्धांत
 - 8.6.8 नागरिकता का बहुलवादी सिद्धांत
- 8.7 नागरिकता की अवधारणा की आलोचना
 - 8.7.1 नारीवादी आलोचना
 - 8.7.2 उपेक्षित वर्गीय आलोचना
- 8.8 निष्कर्ष

8.1 उद्देश्य- प्रस्तुत इकाई में नागरिकता की अवधारणा को समग्र रूप से विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है ताकि अध्ययन कर्ता-

- नागरिकता से जुड़े अधिकार व कर्तव्य को समझ सके।
- नागरिकता के विविध सिद्धांतों का गहन अध्ययन कर सकें।
- नारीवादियों व उपेक्षित वर्ग द्वारा नागरिकता की आलोचना यथार्थ व महत्व समझ सके।

8.2 प्रस्तावना- नागरिकता अधिकारों व कर्तव्यों के बीच संतुलन स्थापित करने का एक वैधानिक उपकरण या साधन है। नागरिकता व्यक्तिगत स्वार्थ तथा सामाजिक कल्याण के बीच सामंजस्य की भावना है। किंतु भूमंडलीकरण के युग में नागरिकता राष्ट्रीयता की सीमा को पार कर अंतरराष्ट्रीय सीमा के गुण मिल गई। है। नागरिकता के विस्तृत आयाम ने बहुसंस्कृतिवाद सामाजिक पूंजी जैसी नवीन अवधारणाओं को जन्म दिया है अतएव अब इसका संबंध विश्व शांति व मानवता के साथ जुड़ गया है।

8.3 नागरिकता का अर्थ व परिभाषा- नागरिकता, राज्य व व्यक्ति के बीच का एक विशेष सम्बन्ध है। एक ऐसा संबंध जिसमें व्यक्ति पर राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने पर जोर दिया जाता है। तथा राज्य द्वारा उसे राजनीतिक अधिकारों का आनंद उठाने की सुविधाएं प्रदान की जाती है। अतः नागरिकता किसी व्यक्ति की एक विशेष स्थिति है जिसमें व्यक्ति किसी राजनीतिक समुदाय या राज्य का पूर्ण और उत्तरदायी सदस्य होने के नाते सार्वजनिक जीवन में भाग लेता है जो राज्य के प्रति उसके कर्तव्य व निष्ठा का निर्धारण करता है और बदले में राज्य अपने नागरिक को

अधिकार व संरक्षण प्रदान करता है। राजनीतिक विचारक ब्रोगन ने नागरिकता के दो पक्षों पर बल दिया पहला सलाहकारी, अर्थात् प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि राजनीतिक समाज के प्रबन्धन में उसकी सलाह ली जाए और दूसरा बाध्यकारी अर्थात् सामाजिक विचार विमर्श के पश्चात सरकार द्वारा लिए गए निर्णय को मानने के लिए प्रत्येक व्यक्ति बाध्य है। अतः इस प्रकार नागरिकता किसी व्यक्ति की वह विशेष स्थिति है जिसमें वह किसी राजनीतिक समुदाय से दायित्वों व दावों (अधिकारों) से बंधा होता है। **अरस्तु** के अनुसार “एक नागरिक वह है जिसे राज्य के शासन में कुछ भाग प्राप्त हो तथा जो राज्य द्वारा प्रदान किए गये सम्मान का उपभोग करता हो।

इस प्रकार सामान्यतः नागरिकता की मूल संकल्पना में नागरिक के कर्तव्यों को अधिक महत्त्व दिया गया था और उसमें अधिकारों का विचार गौण था किन्तु वर्तमान या आधुनिक युग में नागरिकता की पहचान या नागरिकता का आधार अधिकारों को माना गया है और व्यक्ति के कर्तव्यों को वहीं तक स्वीकार किया गया है जहां तक वे इस अधिकारों को कायम रखने के लिए जरूरी हो।

सामान्यतः नागरिकता को **औपचारिक नागरिकता** व **तात्त्विक नागरिकता** में भी प्रतिपादित किया जाता है। **औपचारिकता नागरिकता** के लिए केवल किसी राष्ट्र-राज्य या राजनीतिक समुदाय की सदस्यता प्राप्त करना ही पर्याप्त होता है। जबकि **तात्त्विक नागरिकता** राजनीतिक समुदाय की सदस्यता के साथ-साथ नागरिक राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों की मांग भी करती है।

अतः इस प्रकार संक्षेप में नागरिकता व्यक्ति व राज्य का परस्पर वह सम्बन्ध है जिसमें व्यक्ति राज्य के प्रति अपनी निष्ठा व कर्तव्यों का निर्वाह करता है और बदले में राज्य व्यक्ति को संरक्षण व नागरिक, राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्रदान करता है।

नागरिकता की परिभाषाएं:-

“अपनी शिक्षित बुद्धि को लोकहित के लिए प्रयुक्त करना ही नागरिकता है।”-**लास्की**

“नागरिकता किसी व्यक्ति की उस स्थिति को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपने राज्य में साधारण तथा राजनीतिक अधिकारों का उपयोग कर सकता है और कर्तव्य का पालन करने को तैयार रहता है।” - **गटेल्**

8.4 नागरिकता की आवश्यक शर्तें-

- राज्य की सदस्यता।
- राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति।
- राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य का पालन।
- राज्यों के प्रति भक्ति या निष्ठा।

8.5 नागरिकता निर्धारण के सिद्धांत - प्रायः नागरिकता के निर्धारण हेतु दो आधार अपनाए जाते हैं-

8.5.1 जन्मजात नागरिकता- जन्मजात नागरिकता का निर्धारण तीन सिद्धांतों पर आधारित होता है-

जन्मभूमि सिद्धांत- इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी व्यक्ति की नागरिकता का निर्धारण उसके जन्मभूमि से होता है अर्थात् बच्चा जिस राज्य में जन्म लेता है वह तुरंत उस राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेता है वर्तमान में अर्जेंटाइना में इस सिद्धांत को मान्यता प्राप्त है। इस सिद्धांत से आसानी से नागरिकता ग्रहण की जा सकती है किन्तु इस सिद्धांत में कमी यह है कि किसी बच्चे को उसके माता पिता के देश की नागरिकता से वंचित होना पड़ता है इसलिए यह सिद्धांत सर्वमान्य नहीं है।

वंश सिद्धांत - इस सिद्धांत के अनुसार बच्चे की नागरिकता उसके माता-पिता की नागरिकता के अनुसार निर्धारित होती है अर्थात् माता-पिता जिस राज्य के नागरिक हो बच्चे को भी उसी राज्य की नागरिकता मिल जाएगी चाहे उसका जन्म विश्व के किसी भी राज्य में क्यों ना हुआ हो। इटली, फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, स्वीटजरलैंड आदि देश इस सिद्धांत को मान्यता देते हैं किन्तु इस सिद्धांत से अवैध तरीके से पैदा बच्चे की नागरिकता निर्धारित नहीं होती।

दोहरा सिद्धांत - इस सिद्धांत के अनुसार किसी बच्चे की नागरिकता उसकी जन्म भूमि तथा माता-पिता या वंश दोनों के आधार पर निर्धारित की जाती है। अमेरिका व इंग्लैंड इस सिद्धांत को स्वीकारते हैं।

8.5.2 राज्यकृत नागरिकता - स्वाभाविक नागरिकता जहां जन्म व वंश से निर्धारित होती है वही कृत्रिम रूप से नागरिकता राज्य द्वारा प्रदान की जाती है उसके लिए आवेदन करना पड़ता है वह कुछ शर्तें माननी पड़ती है यथा-

- नागरिकता का त्याग-पहले से ली गई किसी अन्य राज्य की नागरिकता का त्याग करना होगा।
- नागरिकता प्राप्त करने के लिए एक निश्चित अवधि तक उस राज्य में निवास करना आवश्यक है।

- किसी किसी राज्य में नागरिकता प्राप्त करने के लिए अचल संपत्ति का स्वामी होना आवश्यक होता है जैसे पेरू व मैक्सिको में।
- कुछ देशों में यह नियम है कि अगर कोई व्यक्ति वहां की नागरिकता प्राप्त करना चाहता है तो उसे वहां की लड़की से विवाह करना पड़ता है यथा जापान में।
- जब कोई राज्य पराजित हो जाता है या अपना क्षेत्र किसी दूसरे राज्य को समर्पित कर देता है तो पराजित या समर्पित राज्य के नागरिकों को वंचित राज्य की नागरिकता प्राप्त हो इत्यादि

8.6 नागरिकता के सिद्धांत

नागरिकता की संकल्पना काल व परिस्थितियों के अनुसार परिवर्ती होती रही और यह परिवर्तन निम्न सिद्धान्तों के रूप में समझा जा सकता है:-

8.6.1 नागरिकता का ग्रीक सिद्धान्त—नागरिकता के विचार तथा सिद्धान्त को सर्वप्रथम ग्रीक विचारकों ने अपने चिंतन में स्थान दिया। ग्रीक राज्यों में नागरिकता की धारणा में अधिकार कम व दायित्व अधिक थे। यह एक विशेषाधिकार व प्रतिष्ठा का पद था जिसे नागरिक दायित्व के साथ स्वीकार करते थे। यह विशेषाधिकार वंशानुगत होता था। यहां सम्पत्ति रखने का अधिकार भी केवल नागरिकों को प्राप्त था। इस युग में दासों स्त्रियों व विदेशी व्यक्तियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होता था। यद्यपि प्लेटो ने अपने दर्शन में नागरिकता को कोई विशेषाधिकार नहीं माना और उसने प्रतिपादित किया कि राज्य का प्रत्येक अच्छा व्यक्ति चाहे वह दास हो या स्त्री सभी को नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु अरस्तु ने अपने ग्रंथ में नागरिकता सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार नागरिक वही है “जो स्थायी रूप से न्याय के प्रशासन में तथा राजकीय पदों को ग्रहण करने में भाग लेता है।” अरस्तु का नागरिक सभी तरह के राजनीतिक अधिकारों से सम्पन्न तथा राजसत्ता के प्रयोग में सक्रिय रूप से भाग लेने वाला है। इसलिए यह सीमित नागरिकता की बात करता है अर्थात् वह दासों, स्त्रियों, विदेशियों, श्रमिकों, शिल्पियों को नागरिकता में अधिकार से वंचित रखता है।

8.6.2 नागरिकता का स्टोइक सिद्धान्त :- स्टोइक विचारकों के अनुसार नागरिकता की केवल एक ही योग्यता है और वह है बुद्धिमत्ता एवं विवेक। इस सिद्धान्त का मानना है कि किसी भी मनुष्य को अपनी निष्ठा तथा भक्ति एक राज्य विशेष की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रखनी चाहिए उसे अपने आपको सम्पूर्ण विश्व का नागरिक समझना चाहिए। इस प्रकार स्टोइक विचारकों ने विश्व नागरिकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सर्वप्रथम सिनिक विचारकों ने घोषित किया था कि वे किसी नगर राज्य के नागरिक नहीं हैं बल्कि विश्व के नागरिक हैं। कालान्तर में स्टोइक विचारक जीनो द्वारा प्रतिपादित विश्व नागरिकता का सिद्धान्त लोकप्रिय हो गया।

8.6.3 नागरिकता का रोमन सिद्धान्त :- रोमन विचारकों द्वारा नागरिकता की व्यावहारिक अवधारणा विकसित की गयी। इसके तहत समाज के निम्न वर्ग, व्यापारियों व विदेशियों को भी नागरिकता प्रदान की गई। नागरिकों के मध्य भेदभाव को मिटाने के लिए “जूमसअम जंडसमे” की घोषण की गई जो भविष्य में लंबे समय तक रोमन नागरिक कानून का आधार बनी। यद्यपि शुरु-शुरु में तो यहां भी नागरिकता को विशेषाधिकार माना गया किन्तु कालान्तर में यह सामान्य जनों के लिए भी सुलभ कर दी गयी। ग्रीक सिद्धान्त के अनुसार जहां नागरिक को कानून का संरक्षक माना जाता था वहीं रोमन सिद्धान्त में नागरिक को कानून का संरक्षण प्रदान किया गया।

8.6.4 नागरिकता का उदारवादी सिद्धान्त:- इस सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक टी.एच.मार्शल को माना जाता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ “Citizenship and Social Class” (1950) में नागरिकता का मूलाधार नागरिक अधिकारों को माना। मार्शल के अनुसार नागरिकता किसी भी सामाजिक समुदाय की पूर्ण सदस्यता है। मार्शल लिखते हैं कि नागरिकता विभिन्न व्यक्तियों के लिए समान अधिकार और कर्तव्य, स्वतंत्रताएं और प्रतिबंध शक्तियां व उत्तरदायित्व का निर्धारण करती है। चूंकि यह सिद्धान्त अधिकारों के विकास में विश्वास करता है इसलिए इसे नागरिकता का विकासात्मक सिद्धान्त भी कहा जाता है।

8.6.5 नागरिकता का स्वेच्छातंत्रवादी सिद्धान्त:- इस सिद्धान्त का उदय 1980 के दशक में हुआ जब राज्य के लोकल्याणकारी रूप पर उँगलियां उठने लगी, राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप का विरोध होने लगा, लोग नागरिक जीवन की अपेक्षा अपने पारिवारिक निजी जीवन को ज्यादा महत्त्व देने लगे। इस सिद्धान्त ने प्रतिपादित किया कि बाजार समाज ही नागरिकता का आधार है। इस सिद्धान्त के अनुसार नागरिकता की स्थिति व्यक्तियों के स्वतंत्र चयन और अनुबंध का परिणाम है। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता राबर्ट नॉजिक है जिन्होंने अपनी पुस्तक “Anarchy state and Utopia” (1974) में प्रतिपादित किया कि नागरिकता का अर्थ है ‘सार्वजनिक वस्तुओं का विवेकशील उपभोक्ता। नॉजिक का मानना है राज्य एक विशाल उद्यम है तथा नागरिक उसके ग्राहक या सेवार्थी। व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा के लिए संरक्षक संस्थाओं की सेवाएं प्राप्त करते हैं और और राज्य इन संरक्षक संस्थाओं में सर्वश्रेष्ठ है।

8.6.6 नागरिकता का समुदाय वादी सिद्धांत:— यह सिद्धान्त स्वेच्छातंत्रवादी सिद्धान्त के विपरित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार नागरिकता का मुख्य लक्षण नागरिक सहभागिता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता हन्ना आरेंट, बेंजामिन बार्बर तथा माइकल वाल्जर हैं। यह सिद्धान्त सिद्धान्त व्यक्ति और समुदाय के सुदृढ़ बंधन पर बल देता है। इसके अनुसार नागरिक एक ऐसा व्यक्ति है जो राजनीतिक वाद-विवाद और निर्णय प्रक्रिया में भाग लेकर अपने समाज का भावी रूप निर्धारित करने में सक्रिय भूमिका निभाता है। यह सिद्धान्त नागरिकों के जीवन में ऐसी एकता स्थापित करना चाहता है जैसी किसी परिवार, धार्मिक समुदाय के निष्ठावान सदस्यों में पायी जाती है। वे एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व की भावना से बंधे हुए एक ही लक्ष्य के प्रति समर्पित होते हैं।

8.6.7 नागरिकता का मार्क्सवादी सिद्धांत:— जहां उदारवादी सिद्धान्त नागरिकता को एक उपलब्धी मानता है वहीं मार्क्सवाद नागरिकता को शंका की दृष्टि से देखते हुए उसे एक अस्थायी स्थिति मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार नागरिकता से जुड़े हुए अधिकार वर्ग संघर्ष की देन है अर्थात् वर्ग संघर्ष में कोई वर्ग अपने विरोधी वर्ग का दमन करके जो अधिकार प्राप्त करता है, वही नागरिकता की बुनियाद है। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिनिधि विचारक एंथनी गिडेंस को माना जाता है। गिडेंस ने मार्शल के विपरित नागरिकता से जुड़े अधिकारों को दो प्रकार से विभेदित किया—

- **वैयक्तिक स्वतंत्रता व कानून के समक्ष समानता:**— ये ऐसे नागरिक अधिकार हैं जिन्हें मुख्यतः उदोद्यमान बुर्जवा वर्ग अर्थात् पूंजीपति वर्ग ने सामन्त वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध संघर्ष करके प्राप्त किया। इन्होंने अर्थव्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप को अनुचित ठहराया।
- **आर्थिक नागरिक अधिकार:**— ये ऐसे अधिकार हैं जो बुजुर्ग वर्ग या पूंजीपति के विरुद्ध मजदूर वर्ग द्वारा संघर्ष से उत्पन्न हुए। इनमें मजदूर संघ के निर्माण, उसकी गतिविधियों के विस्तार व हड़ताल का अधिकार शामिल है। इन अधिकारों ने पूंजीवादी प्रणाली के प्रमुख को चुनौती दी।

8.6.8 नागरिकता का बहुलवादी सिद्धान्त:— इस सिद्धान्त की मान्यता है कि नागरिकता का विकास किसी एक कारण का परिणाम नहीं है इसे न ही वर्ग संघर्ष की उपज माना जा सकता है और न ही पूंजीवादी राज्यों द्वारा प्रदत्त अधिकारों का परिणाम। नागरिकता का विकास बहुत जटिल व बहुआयामी प्रक्रिया है इस सिद्धान्त के प्रमुख विचारक बी. एस. टर्नर व डेविड हैल्ड हैं। यह सिद्धान्त नागरिकता को अधिकार व कर्तव्यों का समन्वय या सामंजस्य मानता है। इनके अनुसार एक का अधिकार दूसरे का कर्तव्य है तथा दूसरे का अधिकार पहले का कर्तव्य है इस प्रकार नागरिकता का सार तत्त्व सामुदायिक जीवन में व्यक्ति की सक्रिय सहभागिता है। संक्षेप में नागरिकता का बहुलवादी सिद्धान्त वंचित वर्गों को मुख्य धारा में शामिल करने का प्रयास है और चूंकि वंचित वर्ग हमेशा परिवर्तनशील रहता है। अतः नागरिकता का विचार भी परिवर्तित होता रहता है।

8.7 नागरिकता की अवधारणा की आलोचना:— नागरिकता के सिद्धान्त की आलोचना मुख्यतः दो दृष्टिकोणों द्वारा की गयी—

8.7.1 नारीवादी आलोचना:— नारीवादी विचारधारा के समर्थक यह मांग करते हैं कि जब तक सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों का समान सहभागिता नहीं दी जाती तब तक नागरिकता की संकल्पना को तत्क्रसंगत नहीं माना जा सकता। नारीवादी विचारक तर्क देते हैं कि यद्यपि समाज में स्त्रियों को प्रकट रूप से पूर्ण नागरिकता प्राप्त है तथापि सार्वजनिक जीवन या राजनीतिक सत्ता के स्तरों तक उनकी सहभागिता व हिस्सेदारी का प्रतिशत अत्यन्त अल्प है। अतः नारीवादी विचारक नागरिकता के तहत दिये जाने वाले अधिकार व सहभागिता को स्त्रियों पुरुषों में समान किये जाने पर बल देते हैं।

8.7.2 उपेक्षित वर्गीय आलोचना:— उपेक्षितवर्गीय सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि केवल कानूनी या औपचारिक स्तर पर सब नागरिकों को समान अधिकार देने से उपेक्षित वर्ग की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता। एंटोनियो ग्राम्शी के अनुसार किसी भी समाज के शासक वर्ग द्वारा जिन वर्गों पर अपने प्राधान्य का प्रयोग किया जाता है वह उपेक्षित वर्ग है। मौटे तौर पर किसान, कामगारों, मजदूरों व उपेक्षित वर्ग को उपेक्षित वर्ग कहा जाता है और इनका मुख्य लक्षण है सामाजिक पराधीनता। अतः जब तक नागरिकता के तहत दिये जाने वाले अधिकार व सुविधाएं उपेक्षित वर्ग के लिए लाभदायक नहीं होंगी तब तक नागरिकता की संकल्पना का कोई औचित्य नहीं है।

8.8 निष्कर्ष:— अतः इस प्रकार उपयुक्त विवेचन नागरिकता क्या है को समझने का एक सार्थक व सारगर्भित प्रयास है। आदर्श नागरिकता उचित अधिकारों व कर्तव्यों के सामंजस्य में निहित है तथा किन्हीं विशिष्ट शर्तों के पूरा करने पर राज्य द्वारा प्रदान की जाती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. नागरिकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके लिए आवश्यक शर्तों का उल्लेख कीजिए?
2. नागरिकता निर्धारण के प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए?
3. नागरिकता के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना कीजिए?

लघु आत्मक प्रश्न

1. नागरिकता के लिए आवश्यक शर्तों का उल्लेख कीजिए?
2. नागरिकता के सिद्धांत की आलोचना कीजिए?

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. नागरिकता को परिभाषित कीजिए?
2. नागरिकता का जन्म भूमि (jus soil theory) सिद्धांत क्या है?
3. नागरिकता निर्धारण के दो सिद्धांत कौन-कौन से हैं?

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 सम्प्रभुता का अर्थ व परिभाषा

9.3.1 सम्प्रभुता की विशेषताएं

9.3.2 सम्प्रभुता के प्रकार

9.3.2.1 औपचारिक व वास्तविक सम्प्रभुता

9.3.2.2 कानूनी सम्प्रभुता

9.3.2.3 राजनीतिक सम्प्रभुता

9.3.2.4 लोकप्रिय सम्प्रभुता

9.3.2.5 विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता

9.4 सम्प्रभुता के सिद्धान्त

9.4.1 सम्प्रभुता का एकलवादी सिद्धान्त

9.4.2 सम्प्रभुता का बहुलवादी सिद्धान्त

9.5 निष्कर्ष

9.1 उद्देश्य- इस अध्याय के अन्तर्गत राजनीति सिद्धान्त में प्रचलित सम्प्रभुता की अवधारणा का वर्णन किया गया है इसे पढ़ने के पश्चात अध्ययनकर्ता-

- सम्प्रभुता की अवधारणा के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्ष को समझ पाएंगे।
- सम्प्रभुता के विविध रूपों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सम्प्रभुता में एकलवादी व बहुलवादी सिद्धान्त का राजनीति सिद्धान्त पर प्रभाव को समझा जा सकेगा।

9.2 प्रस्तावना- राजनीति सिद्धान्त के क्षेत्र में सम्प्रभुता का वह स्थान है जो विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण के नियम का है। सम्प्रभुता राज्य का एक अनिवार्य व आवश्यक तत्व है। इसी तत्व के रहने के कारण राज्य समाज के अन्य सभी संघों से श्रेष्ठ तथा शक्तिशाली माना जाता है। लास्की ने भी इसी मत को स्वीकारते हुए कहा है कि "सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के मानव संघों से भिन्न प्रकृति का है"। प्राचीन काल व महाकाल में सम्प्रभुता की अवधारणा का उचित विकास नहीं हो पाया। इस प्रकार से सम्प्रभुता आधुनिक युग की देन है। जीत बौदा पहला राजनीतिक विचारका था जिसने राजनीति सिद्धान्त के विकास में सम्प्रभुता शब्द का प्रयोग किया।

9.3 सम्प्रभुता: अर्थ व परिभाषा- सम्प्रभुता अंग्रेजी शब्द 'Sovereignty' से बना है जो लैटिन शब्द 'Superanus' से लिया गया है जिसका शब्दिक अर्थ है सर्वोच्च शक्ति। फ्रांसीसी विचारक जीन बौदा सबसे पहला व्यक्ति था जिसने 1576 में अपनी पुस्तक 'पग ठवो ब्दबमतदपदह जीम त्मचनइसपब' में सम्प्रभुता के लिए सोवरनिटे शब्द का प्रयोग करते हुए उसे नागरिकों एवं प्रजाजनों पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति बताते हुए उसे कानूनों नियंत्रण से परे बताया। राज्य के चार तत्वों में प्रभुसत्ता एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है जिसके बल पर राज्य ऐसे कानून और आदेश जारी करता है जिसका पालन राज्य सीमा के अंदर प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है। प्रभुसत्ता ही राज्य का एक मात्र ऐसा तत्व है जो राज्य को समाज की अन्य संस्थाओं जैसे परिवार शिक्षा संस्थान आदि से अलग करता है। प्रभुसत्ता की अवधारणा की उत्पत्ति 16वीं सदी में आधुनिक राष्ट्रराज्य के उदय के साथ हुई। विभिन्न विचारकों ने सम्प्रभुता को निम्न रूपों में परिभाषित किया है यथा-

"सम्प्रभुता नागरिकों और प्रजाजनों के उपर सर्वोच्च शक्ति है जो कानून द्वारा नियंत्रित नहीं है।" - **बोदों**

"सम्प्रभुता उस व्यक्ति में निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कृत्य अन्य किसी पर आश्रित न हो तथा जिसकी आज्ञा का उल्लंघन न किया जा सकता हो" - **ग्रोशियस**

"सम्प्रभुता प्रत्येक प्रजाजन तथा उसके समस्त समुदायों पर राज्य की मौलिक, निरंकुश तथा असीमित शक्ति है।" - **बर्गोस**

“सम्प्रभुता राज्य की सर्वोपरी इच्छा है” –**विलोबी**

“यदि एक निश्चित उच्च कोटि का व्यक्ति जो स्वयं अपने समान किसी दूसरे की आज्ञा पालन करने का अभ्यस्त नहीं है उसकी आज्ञा को समाज के अधिकांश लोग स्वभावतः मानते हों, तो वह समाज में सम्प्रभु है तथा है तथा समाज उस उच्चकोटि के व्यक्ति सहित एक राजनीतिक व स्वतंत्र समाज है।” –**आस्टिन**

अतः इस प्रकार सामान्य अर्थ में सम्प्रभुता राज्य की वह शक्ति है जो आन्तरिक रूप से स्वतंत्र व बाह्य रूप से सर्वोच्च हो अर्थात् राज्य के अन्तर्गत जितनी भी संस्थाएं और व्यक्ति हैं उन पर राज्य का पूर्ण अधिकार है। राज्य उन्हें आज्ञापालन करने पर दण्ड भी दे सकता है। इसी प्रकार बाह्य रूप से राज्य किसी दूसरे रूप की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नहीं है। अतः राज्य अन्तः व बाह्य नियंत्रण से मुक्त होता है। जैसा कि **जेलिनेक** ने कहा है कि “सम्प्रभुता राज्य की वह विशेषता है जिससे उसे अपनी इच्छा के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति सीमित नहीं कर सकती।”

9.3.1 सम्प्रभुता की विशेषताएं:– विभिन्न विचारकों ने सम्प्रभुता की निम्न विशेषताएं या लक्षण बताये हैं–

- (i) **पूर्णः**– सम्प्रभुता ऐसी शक्ति है जो किसी अन्य शक्ति पर आश्रित नहीं होती चाहे वह राज्य के बाहर हो या राज्य के भतर। सम्प्रभुता को सर्वोच्च तथा मौलिक शक्ति भी माना जाता है। यह असीमित भी है अर्थात् यह किसी भी अन्य इच्छा से बंधी नहीं होती। यह मौलिक है क्योंकि यह शक्ति किसी अन्य द्वारा प्रदान नहीं की जाती।
- (ii) **सार्वभौमिकता:**– सम्प्रभुता की सार्वभौमिकता से तात्पर्य है राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत प्रभुत्व की व्यापकता। राज्य के अन्तर्गत जितने व्यक्ति, संघ तथा संगठन हैं सब इसके आज्ञापालन के लिए बाध्य हैं। राज्य उनको अपने नियमों का पालन करने के लिए विवश कर सकता है तथा विधि का उल्लंघन करने वालों को दण्ड दे सकता है।
- (iii) **स्थायित्व:**– स्थायित्व से आशय है कि सम्प्रभुता राज्य का स्थाई गुण है, जब तक राज्य का अस्तित्व रहेगा तब तक सम्प्रभुता विद्यमान रहेगी। राज्य का विनाश ही सम्प्रभुता की समाप्ति का कारण हो सकता है। किन्तु प्रभुत्वधारी की मृत्यु या पदच्युति के कारण राज्य की सम्प्रभुता का नाश नहीं होता वरन् वह उसी क्षण नए प्रभुत्वधारी के हाथों में हस्तांतरित हो जाती है।
- (iv) **अदेयता:**– सम्प्रभुता अखण्ड व निस्सीम है इसलिए यह किसी और को नहीं सौंपी जा सकती। यदि सम्प्रभुता राज्य अपनी सम्प्रभुता किसी और को हस्तांतरित करना चाहे तो उसका अपना अस्तित्व ही मिट जायेगा। यदि एक राज्य अपने क्षेत्र का कोई हिस्सा किसी दूसरे राज्य को अर्पित कर देता है तो उस हिस्से पर उसकी अपनी सम्प्रभुता समाप्त हो जायेगी व दूसरे राज्य की सम्प्रभुता स्थापित हो जायेगी।

(अ) **अविभाज्यता या एकता:**– अविभाज्यता का आशय है कि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शरीर से आत्मा को अग्नि से तपन को तथा जल से तरलता को अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार राज्य के प्रमुख गुण सम्प्रभुता को विभाजित नहीं किया जा सकता। अमेरिकन विचारक कैलहॉउन का कहना है कि “सम्प्रभुता एक समग्र वस्तु है इसे विभाजित करना इसे नष्ट करना है।” इसी प्रकार से गैटेल ने लिखा है कि “यदि सम्प्रभुता विभाजित है तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व हो जाता है।”

9.3.2 सम्प्रभुता के प्रकार:– यद्यपि सम्प्रभुता मूलतः एक कानूनी संकल्पना है परन्तु राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत सम्प्रभुता के कुछ अन्य रूप भी स्वीकार किये जाते हैं–

9.3.2.1 औपचारिक व वास्तविक सम्प्रभुता:– औपचारिक या नाममात्र की सम्प्रभुता से तात्पर्य है सम्प्रभुता का सांकेतिक प्रयोग जैसे इंग्लैण्ड के राजा व भारत का राष्ट्रपति। वहीं वास्तविक सम्प्रभुता की शक्तियों का वास्तविक या यथार्थ में प्रयोग। जैसे– इंग्लैण्ड व भारत में मंत्रिमंडल व संसद।

9.3.3.2 कानूनी सम्प्रभुता:– किसी राजनीतिक समुदाय में विधि निर्माण की शक्ति अनितम रूप से जिस व्यक्ति या संस्था में निहित होती है उसे कानूनी सम्प्रभुता कहा जाता है। कानूनी सम्प्रभुता वह निश्चित सत्ता है जो राज्य के सर्वोच्च आदेशों को कानूनी रूप में व्यक्त कर सके। यह सत्ता ऐसी होती है जो दैवीय नियमों, नैतिकता के सिद्धान्तों अथवा जनमत का अतिक्रमण भी कर सकती है। कानून इसी सम्प्रभुता की घोषित इच्छा मात्र हैं। इसके निम्न लक्षण हैं– यह निश्चित व स्थिर है, यह विधि निर्माण की अन्तिम सर्वोच्च शक्ति है, इसके कानूनों को भंग करना दण्डनीय है यह राज्य की इच्छा को घोषित करती है, स्पष्ट व विविध द्वारा मान्य है। इत्यादि। उदा.– इंग्लैण्ड में कानून निर्माण की सर्वोच्च सत्ता संसद में निहित है अतः इंग्लैण्ड की संसद कानूनी सम्प्रभुता है।

9.3.2.3 राजनीतिक सम्प्रभुता:– किसी भी राजनीतिक समाज में कानूनी सम्प्रभुता के पीछे एक अदृश्य शक्ति रहतली है, इसी अदृश्य, असंगठित किन्तु फिर भी प्रभावशाली शक्ति को राजनीतिक सम्प्रभुता कहा जाता है। राजनीतिक सम्प्रभुता राज्य में उन प्रभावशाली शक्तियों का समूह है जो कानून के पीछे रहकर कानून को प्रभावित करता है। यदि भारत में

कानूनी सम्प्रभुता संसद में निहित है तो संसद की क्रियाओं को प्रभावित करने वाले निर्वाचकों, जनमत तथा जन आन्दोलनों की अदृश्य शक्ति को राजनीतिक सम्प्रभुता कहा जाता है। यदि राज्य अलोकप्रिय कानूनों का निर्माण करता है तो यह असंगठित सुप्त जनशक्ति कानूनी सम्प्रभुता को बाह्य करती है कि वह अनुचित कानूनों को रद्द करे। वैधानिक को राजनीतिक सम्प्रभुता के सामने झुकना पड़ता है जैसा कि डायसी ने कहा है कि “जिस सम्प्रभु का वकील लोग स्वीकार करने में है। उसके पीछे एक दूसरा सम्प्रभु रहता है। जिसके सामने वैधानिक सम्प्रभु को झुकना पड़ता है।” अतः लोकमत की इसी शक्ति को राजनीतिक सम्प्रभुता कहा जाता है। भले ही राजनीतिक सम्प्रभुता अस्पष्ट, असंगठित तथा अदृश्य है तथापि कानूनी सम्प्रभुता के पीछे इसका प्रभावशाली निवास है।

9.3.2.4 लोकप्रिय सम्प्रभुता:— लोकप्रिय सम्प्रभुता का अर्थ है ‘जनता की इच्छा’। रूसो ने जिसे सामान्य इच्छा तथा ग्रीन ने जिसे सामान्य हित की सामान्य चेतना कहा है वही शक्ति लोकप्रिय सम्प्रभुता है। आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में सम्प्रभुता का यह रूप अधिक मान्य है क्योंकि प्रजातंत्र की यह मूलभूत मान्यता है कि जनता ही राजनीतिक सत्ता की अन्तिम संरक्षक शक्ति है। लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि शासन का अस्तित्व जनहित के लिए होता है। अतः जनहित या लोकमत को कानूनी रूप प्रदान करने तथा शासन को प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बनाने के लिए नियमित चुनाव, जनमत संग्रह, आरम्भक तथा प्रत्याह्वान जैसी प्रक्रियाओं को अपनाये जाने पर बल दिया जाना चाहिए।

9.3.2.5 विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता—यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दायरे में प्रतिपादित सम्प्रभुता के दो रूप हैं। ये दोनों रूप क्रांति या राजनीतिक अस्थिरता के दौरान अधिक स्पष्ट रूप से उजागर होते हैं। जब किसी राज्य में राजनीतिक उथल-पुथल होती है तो वहां अनायास ही दो सरकारें स्थापित हो जाती हैं। एक वह सरकार जिसे अपदस्थ कर दिया गया है किन्तु वह वैधानिक रूप से शासन पर अपना दावा करती है। इस सरकार की सम्प्रभुता को विधितः सम्प्रभुता कहते हैं। दूसरी ओर वैधानिक सरकार को हटाकर एक दूसरी सरकार स्थापित होती है जो राज्य की शक्ति को अपने हाथों में ले लेती है भले ही उसे वैधता प्राप्त नहीं हुई है इस दूसरे प्रकार की सत्ता को वस्तुतः सम्प्रभुता कहा जाता है। जैसे—1949 में चीन में च्यांग काई शेक की वैधानिक सत्ता (विधितः सत्ता) को हटाकर माओ के नेतृत्व में साम्यवादियों ने वस्तुतः सम्प्रभुता की स्थापना की। आस्टिन ने विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता में कोई भेद नहीं किया क्योंकि उनके अनुसार विधितः और वस्तुतः सम्मत शब्द सरकार के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं सम्प्रभुता के लिए इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

9.4 सम्प्रभुता के सिद्धान्त:— विभिन्न विचारकों ने सम्प्रभुता को अलग-अलग दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया है जो निम्नवत हैं—

9.4.1 सम्प्रभुता का एकलवादी सिद्धान्त:— इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि राज्य समाज की एक बुनियादी संस्था है जो समाज के लिए कानून बनाती है। कानून की दृष्टि से राज्य की सत्ता अनन्य सर्वोच्च तथा असीम है। बोदां, हाब्स, ग्रोशियस तथा आस्टिन इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं। एकलवादी सिद्धान्त की मान्यता है कि समाज की समस्त शक्ति का केवल एक ही केन्द्र है और वह केन्द्र है राज्य। अतः यह सिद्धान्त निरंकुश सरकार का समर्थन करता है।

बोदां को आधुनिक सम्प्रभुता के सिद्धान्त का जन्मदाता माना जाता है। सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए उसने लिखा है “वह नागरिकों तथा प्रजाजनों पर सर्वोच्च सत्ता है जो कानून द्वारा प्रतिबंधित नहीं है।” बोदां राष्ट्रवादी था, वह व्यक्तियों का विकेंद्रीकरण नहीं चाहता था अपितु समाज को सभी शक्तियों का केन्द्र राजा या शासक को बनाना चाहता था। उसके अनुसार सम्प्रभुता ही वह तत्त्व जिसके आधार पर राज्य किसी भी नागरिक को आदेश दे सकता है, कोई भी कानून बना सकता है। अतः सम्प्रभुता ही राज्य को किसी भी कानून से ऊपर तथा श्रेष्ठ बनाती है किन्तु फिर भी बोदां माध्ययुगीन विचारधारा से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सका इसलिए उसने सम्प्रभुता को वैधानिक मानते हुए भी सब विधानों से मुक्त नहीं किया। बोदां ने सम्प्रभुता को ईश्वरीय विधान किन्तु प्राकृतिक विधान तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की मर्यादाओं से सीमित किया।

इसी प्रकार ग्रोशियस ने भी लोकप्रिय सम्प्रभुता या जन सम्प्रभुता का विरोध करते हुए राज्य की निरंकुश सम्प्रभुता का समर्थन किया। किन्तु बोदां समान ग्रोशियस ने भी प्राकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों से सम्प्रभुता को प्रतिबंधित किया। कालान्तर में हाब्स ने सम्प्रभुता को इन सभी बाधाओं से मुक्त कर दिया और स्थापित किया कि ऐसी सभी संस्थाएं और कानून जो सम्प्रभु शक्ति को सीमित करते हैं अनुचित और अनैतिक हैं। और इस प्रकार हाब्स सम्प्रभुता की सर्वोच्चता व निरंकुशता को स्थापित करता है।

सम्प्रभुता के एकलवादी सिद्धान्त की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति आस्टिन के चिन्तन में देखने को मिलती है उसने सम्प्रभुता के कानूनी स्वरूप का श्रेष्ठ विवेचन किया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक “Lectures on Jurisprudence” में इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या की। आस्टिन ने सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि

“यदि किसी समाज का अधिकांश भाग किसी निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति की आज्ञाओं का साधारणतः पालन करे तथा वह निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति किसी अन्य प्रधान की आज्ञा मानने का आदी न हो तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति सम्प्रभू है

तथा वह समाज उस निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति सहित स्वतंत्र समाज है।" इस परिभाषा के आधार पर आस्टिन की धारणा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

- (i) प्रत्येक राजनीतिक समुदाय के लिए सम्प्रभुता का होना आवश्यक है क्योंकि सम्प्रभुता के बिना कानून का अस्तित्व नहीं हो सकता।
- (ii) सम्प्रभु सदैव निश्चित होती है अर्थात् यह शक्ति किसी निश्चित संस्था या व्यक्ति में निहित होती है न कि अव्यक्त सामान्य ईच्छा या अनिश्चित जन समाज में।
- (iii) इस निश्चित सर्वोच्च सम्प्रभु के आदेशों का पालन अधिकांश समाज आदतन या अपनी ईच्छा से करता है।
- (iv) यह निश्चित सर्वोच्च सम्प्रभु आन्तरिक व बाहरी नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त होता है। यह समाज में सर्वोपरि है तथा यह किसी अन्य सत्ता से आदेश नहीं लेता। अतः सम्प्रभु असीमित व निरपेक्ष है।

(अ) कानून सम्प्रभु के आदेश या सम्प्रभु की ईच्छा का मूर्त या प्रकट रूप है। सम्प्रभु ही कानूनों का जन्मदाता है इसलिए वह अपने द्वारा निर्मित कानूनों से सीमित नहीं किया जा सकता।

आलोचना:-

1. निश्चित सम्प्रभु का विचार भ्रामक है। प्राचीन काल में निश्चित सम्प्रभु के अभाव में भी भावनाओं, परम्पराओं, लैकिक-नैति मान्यताओं के आधार पर कानून का पालन किया जाता रहा है।
2. कानून का स्रोत राज्य को बताना उचित नहीं क्योंकि राज्य स्वयं कानून से मर्यादित है।
3. यह सिद्धान्त राज्य को साध्य व व्यक्ति को साधन बताता है जिनकी परिणति निरंकुश राज्य के रूप में होने की संभावना रहती है।
4. यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि व शांति के लिए खतरा उत्पन्न करता है।

9.4.2 सम्प्रभुता का बहुलवादी सिद्धान्त:- सम्प्रभुता के बहुलवादी सिद्धान्त की शुरुआत मध्ययुग के संघ या श्रेणी प्रणाली में देखी जा सकती है। आधुनिक युग में जर्मनी में गियर्क तथा इंग्लैण्ड में मैटलैण्ड को बहुलवादी सिद्धान्त का जन्मदाता माना जाता है। बहुलवादियों द्वारा सम्प्रभुता के एकलवादी सिद्धान्त की आलोचना दो आधारों पर की गयी जो निम्नवत है—

(क) **संघीय भिन्नता का दृष्टिकोण:-** एकलवादी सिद्धान्त के समर्थक अन्य संघों या संगठनों की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्त्व देते हैं। राज्य को अन्य संघों की अपेक्षा अधिक सर्वोच्च व श्रेष्ठ मानते हैं। इसके विपरीत बहुलवादियों का मानना है कि मानव का जीवन एकांगी नहीं है अतः कोई एक संघ या समूह उसकी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इसलिए भिन्न-भिन्न संगठन या संघ मानव जीवन के लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितना की राज्य। अतः समाज में जितने संघ अस्तित्व में हैं उनका अपना स्वतंत्र व स्थायी व्यक्तित्व होता है। इस दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक हैं— गिर्येक, मैटलैण्ड, फिगिस, लिण्डसे, बाक्रर इत्यादि। गिर्येक तथा मैटलैण्ड राज्य की वैधानिक स्थिति की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए उसकी निरंकुश सम्प्रभुता को स्वीकार नहीं करते। ये दोनों विचारक "संघों के वास्तविक व्यक्तित्व" के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि राज्य का मुख्य कार्य विभिन्न संघों में समन्वय व सन्तुलन कायम रखना है। इसी प्रकार मैकाइवर ने कहा है कि राज्य समाज की अनेक संस्थाओं में से केवल एक संस्था है। इसलिए राज्य कानून का पिता व शिशु दोनों हैं अर्थात् वह कानूनों का निर्माण भी करता है और उनका अतिक्रमण भी नहीं कर सकता।

(ख) **वैधानिक या कानूनी दृष्टिकोण:-** सम्प्रभुता का एकलवादी सिद्धान्त राज्य को ही कानून का स्रोत मानता है तथा राज्य द्वारा निर्मित कानून को सर्वोपरि मानता है। किन्तु द्युग्बी, क्रैब, हालैण्ड इत्यादि बहुलवादी विचारकों का मानना है कि राज्य न तो कानून का स्रोत है और न ही किन्हीं भी कार्यकलापों के लिए राज्य की सहमति आवश्यक होती है इन बहुलवादियों का मानना है कि कानून में जीवन की कुछ नितान्त आवश्यकताएं व्यक्त होती हैं। द्युग्बी के अनुसार कानून का पालन इसलिए अनिवार्य होता है क्योंकि वे सामाजिक सुरक्षा व सामाजिक सुदृढ़ता के लिए आवश्यक होते हैं। इसी प्रकार बहुलवादी विचारक क्रैब प्रतिपादित करता है कि कानून राज्य को सीमित करता है, राज्य कानून को सीमित नहीं करता। उनका मानना है कि राज्य का अस्तित्व कानून पर निर्भर करता है।

आलोचना:-

1. बहुलतावादी सिद्धान्त राज्य की सम्प्रभुता व सर्वोच्चता को चुनौति देकर उसे अन्य संगठनों के समकक्ष मानने पर बल देता है जिससे समाज में अराजकता व संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।
2. बहुलतावादी विचारक एक और तो राज्य की सम्प्रभुता का विरोध करते हैं और दूसरी तरफ राज्य को अन्य संघों में तालमेल व सामंजस्य बिठाने का कार्य सौंपते हैं।

3. बहुलतावादी राज्य को अन्य संघों के समकक्ष मान लेते हैं जो कि अनुचित है क्योंकि राज्य के कतिपय विशिष्ट कार्य हैं जो अन्य संगठन नहीं कर सकते जैसे—सुरक्षा, कराधान
4. बहुलतावादी विचारक राज्य को कानून का स्रोत नहीं मानते किन्तु राज्य को भले ही कानून का एकमात्र स्रोत न माना जाये किन्तु उसे कानून का स्वरूप निश्चित करने वाला व इसे घोषित करने वाला एक स्रोत अवश्य माना जाता चाहिए। समाज में जब तक कानून के पीछे राजकीय बाह्यकारी शक्ति नहीं होगी तब तक न तो कानून का समुचित पालन होगा और न ही राज्य का अस्तित्व बना रहा पायेगा।

9.5 निष्कर्ष:- उपर्युक्त तथ्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सम्प्रभुता राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है। यह राज्य की आत्मा है। यह राज्य की सभी शक्तियों का उद्गम स्थल है। बोदां, हाब्स, लाक तथा रूसो ने क्रमशः निरंकुश, सीमित तथा लोकप्रिय सम्प्रभुता का चित्रण किया। अन्त में ऑस्टिन ने वैधानिक सम्प्रभुता पर प्रचण्ड प्रहार किया व राज्य को परिवार, संघ चर्च और राजनीतिक दल के समान माना लेकिन उसमें राज्य की सर्वोच्चता को भी स्वीकार किया गया।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता की परिभाषा कीजिए व इसके लक्षणों की विवेचना कीजिए?
2. सम्प्रभुता के विभिन्न प्रकारों पर लेख लिखिए?
3. सम्प्रभुता के सिद्धांत व्याख्या कीजिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

निम्नलिखित में अन्तर बताइए?

1. औपचारिक व वास्तविक सम्प्रभुता में।
2. विधितः सम्प्रभुता और वस्तुतः सम्प्रभुता में।
3. वैधानिक व राजनीतिक सम्प्रभुता में।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता क्या है?
2. वैधानिक सम्प्रभुता से क्या तात्पर्य है?
3. लोकप्रिय सम्प्रभुता अर्थ क्या है?

राज्य व नागरिक समाज

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 राज्य का अर्थ व परिभाषा

10.3.1 राज्य के आवश्यक तत्व

10.4 नागरिक समाज का अर्थ व परिभाषा

10.4.1 नागरिक समाज के लक्षण व संगठन

10.5 राज्य और नागरिक समाज में परस्पर संबंध

10.5.1 नागरिक समाज व राज्य परस्पर पूरक है

10.5.2 नागरिक समाज राज्य का विरोधी है

10.6 निष्कर्ष

10.1 उद्देश्य- इस इकाई में राज्य और नागरिक समाज की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है इस इकाई का उद्देश्य है कि-

- उदार लोकतांत्रिक युग में नागरिक समाज की अवधारणा को स्पष्ट किया जाए।
- नागरिक समाज व राज्य का संगठन क्या है?
- नागरिक समाज व राज्य के परस्पर संबंधों को सकारात्मक व नकारात्मक दोनों रूपों में समझकर एक संतुलित दृष्टिकोण विकसित किया जाए।

10.2 प्रस्तावना- आधुनिक नागरिक समाज की अवधारणा राजनीतिक सिद्धांत के लिए एक नवीन अवधारणा है इससे पूर्व राज्य को ही एकमात्र राजनीतिक संगठन के रूप में स्वीकार किया गया था। अतः राज्य जहां प्राचीन यूनानी व मध्य युग की देन है वहीं नागरिक समाज आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की देन सही जा सकती है। नागरिक समाज एक ओर तो राज्य के सर्व सत्तावादी रूप को चुनौती देने का माध्यम बन जाता है वहीं उदार लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में यह राज्य के दायित्वों को हल्का करने का एक स्वस्थ उपकरण भी बन जाता है। अतः वर्तमान युग में राज्य व नागरिक समाज दोनों का परस्पर सहयोग सभ्य समाज के लिए वांछनीय है।

10.3 राज्य का अर्थ व परिभाषा- राज्य, राजनीति शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु है। राज्य की धारणा एक जटिल अवधारणा है। जिसकी प्रत्येक विचारक ने अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है। यूनानी दार्शनिकों ने राज्य को एक नैतिक संस्था के रूप में देखा, तो ईसाई विचारकों ने इसे मनुष्य के पापों का परिणाम बनाया। आधुनिक आदर्शवादी विचारक राज्य को नागरिक की सद्दर्शना पर आधारित संस्था मानने हैं तो यथार्थवादी इसे शक्ति का पुंज स्वीकार करते हैं।

साधारण भाषा में राज्य एक ऐसा राजनीतिक संगठन है जिसमें मनुष्यों का समूह किसी निश्चित भू-भाग में रहते हैं। जिनकी अपनी सम्प्रभुता सम्पन्न सरकार है। राज्य या 'जंजम' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इटली के विद्वान **मैकियावेली** ने अपनी पुस्तक **The prince (1531)** में किया। इससे पूर्व राजनीतिक समाज के लिए **पॉलिस, रेस पब्लिका, सिविटस तथा रैगनम** जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था। प्रसिद्ध विचारक **मैक्स वेबर** ने राज्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि "राज्य एक मानवीय समुदाय है। जिसके द्वारा यह दावा किया जाता है। कि उसे किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में भौतिक शक्ति का प्रयोग करने का वैधानिक एकाधिकार प्राप्त है।" प्रसिद्ध समाजशास्त्री **प्रो. मैकडवेल** ने अपने ग्रंथ **The Modern State** में लिखा है। कि "राज्य एक ऐसा ढांचा है जिसकी उत्पत्ति समाज के साथ नहीं हुई है और न ही इसकी शक्तियां राज्य के समकक्ष हैं। राज्य का जन्म कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु हुआ है और वह विशिष्ट उद्देश्य है समाज में कानून के माध्यम से व्यवस्था की स्थापना करना तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान करना है।"

आधुनिक राजनीति शास्त्र में राज्य की सर्वाधिक युक्तिसंगत व मान्य परिभाषा **गार्नर** द्वारा दी गयी है-

"राज्य थोड़े अथवा अधिक व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से निवास करता हो, जो किसी बाह्य नियंत्रण से पूर्णतया या अधिकांश रूप से मुक्त हो और जिसकी ऐसी संगठित सरकार हो जिसके आदेशों का पालन निवासियों द्वारा स्वभावतः किया जाता है।"

अतः उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर राज्य के निम्न आवश्यक तत्व हैं—

1. **जनता या जनसंख्या** :—राज्य के भौतिक स्वरूप या मूर्त स्वरूप का दर्शन उसमें रहने वाले जनसमुदाय द्वारा ही सम्भव हो सकता है। किसी भी संगठन के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य हो इसलिए जनता के बिना राज्य की कल्पना करना सम्भव नहीं है। किन्तु राज्य की जनसंख्या को लेकर विचारकों में मतभेद है। जैसे प्लेटो के अनुसार राज्य की जनसंख्या 5040 होनी चाहिए जबकि अरस्तु आदर्श जनसंख्या 10,000 मानता था। किन्तु आधुनिक काल में राज्य के प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात में जनसंख्या को आँका जाता है। अतः राज्य एक मानवीय संस्था है जिसका प्रथम आवश्यक तत्व जनसंख्या है।
2. **निश्चित भू-भाग** :—यह राज्य का दूसरा आवश्यक तत्व है। यदि जनसमुदाय है तो उसे निवास के लिए भौगोलिक प्रदेश की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है तथा साथ ही यदि निश्चित भू-भाग नहीं होगा तो राज्य की प्रभुसत्ता व उसके कानूनों के लागू करने वाले दायरे को निर्धारित करना कठिन हो जायेगा। अतः राज्य के निर्माण के लिए प्रभुसत्ता के अधिकार क्षेत्र की स्पष्टता के लिए, नागरिकता की पहचान के लिए तथा राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की स्पष्टता के लिए निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है। जनसंख्या के समान आदर्श भू-भाग कितना हो इसको लेकर भी अलग-अलग विचार हैं। यूनानी दार्शनिकों के मतानुसार भूमि न अधिक होनी चाहिए और न ही कम। किन्तु आधुनिक काल में राज्य की विशालता उसकी शक्ति का अंग मानी जाती है। साधनों सैनिक शक्ति तथा जनसंख्या की दृष्टि से छोटे आकार वाले राज्यों की शक्ति अपेक्षाकृत कम रहती है।
3. **सरकार**— सरकार राज्य का तीसरा प्रमुख तत्व है। यह राज्य का संगठनात्मक रूप है या राज्य का दिखायी पड़ने वाला क्रियाशील तत्व है। राज्य एक अमूर्त संस्था है तथा सरकार उसका मूर्त रूप है सरकार राज्य की दृश्यमान संस्था है जिसके द्वारा राज्य की सामूहिक ईच्छा कानून के रूप में व्यक्त की जाती है। सरकार का संगठन विधानमण्डल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के रूप में किया जाता है। सरकार के कई प्रकार होते हैं यथा—राजतंत्र लोकतंत्र, संसदात्मक, अध्यक्षीय। किन्तु सरकार का कौन सा प्रकार सर्वश्रेष्ठ होता है इसको लेकर विचारकों में मतभेद है तथापि यह निर्विवाद सत्य है राज्य के गठन के लिए सरकार का होना नितान्त आवश्यक है।
4. **सम्प्रभुता**— सम्प्रभुता राज्य का अन्तिम व सर्वप्रमुख तत्व है। यह राज्य की सर्वोपरि वैधिक शक्ति है जो राज्य को समाज के अन्य संगठन से सर्वोच्च व विशिष्ट बना देती है। सम्प्रभुता का साधारण अर्थ है राज्य की सर्वोच्च कानूनी शक्ति जिसके कारण राज्य आन्तरिक व बाह्य क्षेत्रों में दूसरों से पूर्णतः स्वतंत्र व सर्वोच्च बन जाता है। सम्प्रभुता के दो पक्ष हैं आन्तरिक व बाह्य। आन्तरिक सम्प्रभुता से तात्पर्य है राज्य के अन्तर्गत निवास करने वाले व्यक्तियों समुदायों संस्थाओं व संगठनों पर सर्वोच्च शक्ति तथा बाह्य सम्प्रभुता से आशय है अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्वतंत्रतापूर्वक अपनी विदेश नीति का संचालन। अतः इस प्रकार सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च व विशिष्ट कानूनी शक्ति है जो जनसंख्या, भू-भाग व सरकार का राज्य का दर्जा प्रदान करती है।

10.4 नागरिक समाज का अर्थ व परिभाषा— परम्परागत रूप से राज्य तथा नागरिक समाज शब्दों को समानार्थी माना जाता था। सबसे पहले प्राचीन रोम विचारक सिसरो ने राज्य का संकेत देने के लिए नागरिक समाज शब्द का प्रयोग किया। इसी प्रकार 17वीं-18वीं शताब्दी में जान लॉक व रूसो ने भी नागरिक समाज को राजनीतिक समाज का समवर्ती मानते हुए उसे अनुशासन व्यवस्था व सुरक्षा स्थापित करने का साधन बताया।

19वीं शताब्दी में जर्मन दार्शनिक हीगल ने नागरिक समाज और राज्य में अंतर करते हुए मान्यता रखी कि नागरिक समाज **विश्वजनीत स्वार्थवाद** का क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति अपने हितों की अधिकतम सिद्धि के लिए अन्य मनुष्यों को अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन समझता है। अतः यह विशेष रूप से आर्थिक गतिविधियाँ का क्षेत्र है। इसके विपरीत राज्य **विश्वजनीत परार्थवाद** का क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठाकर सम्पूर्ण समुदायके हित में त्याग करने को तत्पर होता है। 20वीं शताब्दी में मार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी ने नागरिक समाज को एक नये रूप में स्थापित किया। उसने स्थापित किया कि पूंजीवादी समाज की अधिरचना के दो स्तर होते हैं— पहला स्तर नागरिक समाज है जो आधार के निकट है तथा जो पूंजीवादी समाज को वैधता प्रदान करने में सहयोग देता है दूसरा स्तर राजनीतिक समाज है जिसमें बलप्रयोग मूलक संरचनाएं आती हैं। ग्राम्शी ने नागरिक समाज की भूमिका को विशेष महत्व दिया क्योंकि इसकी संस्थाएं (परिवार, पाठशाला धार्मिक संस्थाएं) नागरिकों को समाज में व्यवहार के नियमों से परिचित करती हैं और उन्हें यह शिक्षा देती है कि शासन वर्गों के प्रति स्वाभाविक सम्मान का भाव रखना चाहिए। इसी प्रकार **फ्रांसीसी दार्शनिक ताकवील** ने अपनी कृति “Democracy in America” में नागरिक समाज को एक नया आयाम प्रदान किया। ताकवील ने व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए व्यक्ति व राज्य के बीच मध्यवर्ती स्वैच्छिक साहचर्यों की आवश्यकता पर बल दिया जिन्हें नागरिक समाज कहा जा सकता है।

1960-1970 के दशकों में नागरिक समाज की संकल्पना को विशेष लोकप्रियता मिली। आधुनिक युग में आते आते नागरिक समाज की न केवल संकल्पना विस्तृत हो गई अपितु इसका अर्थ व भूमिका दोनों परिवर्तित हो गई। इस काल में पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में सर्वाधिक कारवादी राज्य के विरुद्ध नागरिक समाज के उपकरण का विस्तृत प्रयोग किया गया। दक्षिण अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका में भी नागरिक समाज की संकल्पना को सत्ताधारीयों के विरुद्ध एक प्रभावशाली साधन माना गया। इसी प्रकार पश्चिमी विचारकों **डेविड हेल्ड, जी. एल. कोहेन, रोबोट पुटमैन** जैसे विचारकों ने माना कि नागरिक कर्तव्यों के प्रति जो उदासीनता पश्चिमी देशों में बढ़ती जा रही है उससे दूर करने के लिए नागरिक समाज एक प्रभावशाली उपकरण बनाया जा सकता है। अतः पश्चिमी बुद्धिजीवियों दोबारा भी ऐसे स्वैच्छिक साहचर्य का जाल बिछाने पर बल दिया गया जो राज्य तथा व्यापार जगत दोनों से स्वाधीन हो। अतः इस प्रकार नागरिक समाज ऐसा मंच भी प्रदान कर सकता है जहां लोगों को राज्य की नीति और कार्यवाही की आलोचना का अवसर मिले। इस तरह नागरिक समाज आर्थिक विषमता के निराकरण व सामाजिक न्याय की स्थापना का उपयुक्त साधन बन सकता है। विभिन्न विचारकों ने नागरिक समाज को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

“नागरिक सामाज एक सामाजिक स्थान है जो राज्य और व्यापारिक क्षेत्रों में अलग होता है किंतु साथ साथ काम करते हुए राज्य के साथ कभी-कभी तनावपूर्ण सहसंबंध रखता है” —**जॉर्ज हर्जिस**

“नागरिक समाज एक संगठित सामाजिक जीवन को दर्शाता है जो कि स्वैच्छिक, स्वजनित, स्वसमर्थक, होता है और एक वैधानिक व्यवस्था या सहभागिता मूल्यों के समुच्चय द्वारा गिरा होता है” —**लैरी डायमंड**

“नागरिक समाज तमाम ऐसे ऐच्छिक संगठनों और सामाजिक अंतर क्रियाओं को समावेशित करता है जिन पर राज्य का नियंत्रण नहीं होता” —**नीरजा गोपाल जायल**

10.4.1 नागरिक समाज के लक्षण व संगठन— उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर नागरिक समाज में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

- यह राज्यतर संस्थाओं को इंगित करता है।
- इसमें समाज का विशाल क्षेत्र आता है।
- इसके अंतर्गत वे समूह आते हैं जो राज्य तथा परिवार के बीच होते हैं।
- यह संगठन की स्वतंत्रता विचार की स्वतंत्रता तथा अन्य नागरिक एवं आर्थिक अधिकारों के अस्तित्व को सुनिश्चित करता है।
- यह सप्ताह बाद तथा निरंकुशतावाद का विरोध करता है।
- यह राजनीतिक प्रशासनिक मामलों में नागरिक को की भागीदारी का रास्ता खोलता है।
- यह जनमत का निर्माण करता है वह स्वैच्छिकतावाद का महत्वपूर्ण प्रतीक है।
- यह स्वायत्त होते हुए भी राज्यों की सत्ता के अधीन है।

नागरिक समाज की छत्र अवधारणा में निम्नलिखित संगठन व समूह आते हैं—

- गैर सरकारी संगठन।
- समुदाय आधारित संगठन।
- मजदूर संगठन।
- किसान संगठन।
- सरकारी संस्थाएं।
- धार्मिक संगठन इत्यादि।

अतः इस प्रकार नागरिक समाज उन स्वैच्छिक व व्यवसायिक संगठनों का समूह है जो सार्वजनिक नीति व सरकारी कामकाज की त्रुटियों के बारे में जनमत तैयार करते हैं और कानून के दायरे में रहकर उन तथ्यों को दूर करने का प्रयास करते हैं।

10.5 राज्य और नागरिक समाज में परस्पर संबंध— आधुनिक लोकतांत्रिक युग में नागरिक समाज एक नवीन तत्व के रूप में उभर कर आया है यद्यपि नागरिक समाज लोकतंत्रीय व्यवस्था में ही पनप सकते हैं क्योंकि लोकतंत्रीय व्यवस्था में ही लोगों को बोलने संगठन बनाने तथा सभा करने की स्वतंत्रता प्राप्ति होती है किंतु फिर भी राज्य व नागरिक समाज के परस्पर संबंधों को लेकर विचार में दो विरोधी दृष्टिकोण प्रचलित है—

10.5.1 नागरिक समाज व राज्य परस्पर पूरक है— अधिकांश विचारकों का मानना है आधुनिक युग में व्यक्ति तथा राज्य के बीच जितने भी तरह के संगठन पाए जाते हैं वह सभी नागरिक समाज की परिधि में आते हैं। **डेविड हेल्ड** के अनुसार व्यक्तियों को जो भी सचरिया आर्थिक लेनदेन संस्कृति गतिविधियां या राजनीतिक विचार विमर्श से सरोकार रखते हैं या उनके जो भी समूह राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बाहर रहकर तरह-तरह के कार्य करते हैं वह सभी नागरिक समाज के अंग हैं। **तॉकविल** ने तर्क दिया कि नागरिक सहचर यह लोकतंत्र की पाठशाला आए हैं तथा इसके माध्यम से व्यक्तियों की सहभागिता व संवाद में बढ़ोतरी होती है जो कीर लोकतांत्रिक राज्य के स्वास्थ्य सूचक हैं। इसी प्रकार अमेरिकी समाज वैज्ञानिक **रोबोट पुटमैन** ने प्रतिपादित किया कि नागरिक समाज से जुड़े साहचर्य सामाजिक पूंजी का सर्जन करते हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश विचारक **पॉल हर्स्ट** ने प्रतिपादित किया कि नागरिक समाज लोकतांत्रिक राज्य के आधार स्तंभों की भूमि निभाते हैं उनका मानना है कि जब यह स्वशासी सहचार्य सारे सार्वजनिक कृत्य संपन्न करेगा तो इससे राज्य का कार्यभार कम हो जाएगा तब राज्य का कार्य इन साहचार्यों की देखरेख करना व उनमें तालमेल स्थापित करना रह जाएगा। अतः इस प्रकार नागरिक समाज व राज्य एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि राज्य नागरिक समाज के संरक्षण प्रदान करेगा और नागरिक समाज जन सहभागिता बढ़ाकर व सार्वजनिक कृतियों का संपादन करके राज्य के दायित्व के भार को कम करने में राज्य की मदद करेगा।

10.5.2 नागरिक समाज, राज्य का विरोधी है— कुछ विचार को का यह भी मानना है कि नागरिक समाज के अधिक सशक्त व विकसित होने से राज्य की जड़े कमजोर हो जाएगी विचार को का मानना है तब अधिकांश सार्वजनिक कृत्य स्वैच्छिक सहचार्य द्वारा संपादित किए जाएंगे तो सारी शक्ति इन सहचार्य के हाथ में आ जाएगी जिससे यह शक्तिशाली हो जाएंगे वह राज्य की शक्ति व भूमिका धीरे-धीरे सीमित होती जाएगी। इसी प्रकार अधिक संगठित मुखर और शक्तिशाली सहचार्य अपने सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने के लिए अन्य स्त्रियों के हितों को नुकसान पहुंचाएंगे जिससे लोकतंत्र गुटतंत्र में रूपांतरित हो जाएगा तथा विभिन्न साहचार्यों के मध्य शक्ति संघर्ष की प्रवृत्तियों उत्पादन हो जाएंगी। इसके अतिरिक्त विचार को का यह भी मानना है कि अधिकतर जनसभागीता कई बार राज्य विरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है जिससे कानून व व्यवस्था को बनाए रखने में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

10.6 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हैंकि नागरिक समाज का कार्य क्षेत्र स्वस्थ लोकतांत्रिक समाज का आवश्यक अंग है। नागरिक समाज से जुड़े साहचार्य सामाजिक पूंजी का सर्जन करते हैं। यह एक ऐसी सामाजिक प्रथाओं का समुच्चय है जो मनुष्यों को नागरिक जीवन से जुड़े कर्तव्यों का बोध कराती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. नागरिक समाज पर एक लेख लिखिए?
2. राज्य व उसके आवश्यक तत्वों की व्याख्या किजिए?
3. नागरिक समाज व राज्य के परस्पर संबंध की विवेचना कीजिए?

लघुतरात्मक प्रश्न

1. नागरिक समाजके संघटकों का उल्लेख किजिए ?
2. नागरिक समाज व राज्य परस्पर पूरक है, स्पष्ट किजिए?
3. नागरिक समाज, राज्य का विरोधी है, स्पष्ट किजिए?

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. राज्य क्या है?
2. नागरिक समाज से क्या तात्पर्य है?

इकाई—11

शक्ति एवं सत्ता

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 शक्ति अर्थ व परिभाषा

11.3.1 शक्ति के विविध आयाम

11.4 सत्ता अर्थ व परिभाषा

11.4.1 सत्ता की विशेषताएं

11.4.2 सत्ता के सिद्धांत

11.4.3 सत्ता के विविध रूप

11.4.4 शक्ति व सत्ता में परस्पर संबंध

11.5 निष्कर्ष

11.1 उद्देश्य— इस इकाई के अंतर्गत राजनीतिक सिद्धांत की दो प्रमुख अवधारणा को समझना का प्रयास किया गया है जिससे अध्ययनकर्ता—

- शक्ति व सत्ता के सैद्धांतिक व व्यवहारिक पक्ष को समझ सके।
- किस प्रकार शक्ति वैधानिकता से युक्त होने पर सम्मानित सत्ता में परिवर्तित हो जाती है।
- आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में शक्ति व सत्ता किस प्रकार परस्पर प्रथक व घनिष्ट रूप से संबंधित रहते हैं।

11.2 प्रस्तावना— शक्ति व सत्ता अतीत काल से राजनीतिक सिद्धांत के महत्वपूर्ण अवधारणाएं रही हैं। शक्ति व्यक्ति, समूह या भौतिक परिस्थितियों के प्रतिरोध के होते हुए भी स्वतंत्र कार्य करने की क्षमता का नाम है। यह मानव भावनात्मक तथा अनिश्चित होती है, इसलिए इसे निश्चित रूप देना आवश्यक हो जाता है और यह कार्य सत्ता के माध्यम से किया जा सकता है क्योंकि सत्ता वह शक्ति है जो स्वीकृत, ज्ञात, सम्मानित तथा औपचारिकताएं पूर्ण होती है। जब शक्ति संस्थाकृत हो जाती है या संस्था के माध्यम से व्यक्त होने लगती है तब यह सत्ता का रूप ले लेती है। इस प्रकार सत्ता व शक्ति एक दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी दोनों में घनिष्ट संबंध होता है।

11.3 शक्ति: अर्थ व परिभाषा— राजनीति विज्ञान के अध्ययन में “शक्ति की अवधारणा” का विवेचन प्राचीन काल से होता रहा है। अरस्तु, मैकियावेली, हाब्स जैसे विचारकों ने शक्ति को राज्य का आधार माना। और प्रतिपादित किया गया कि जिस प्रकार समाज का केन्द्रिय तत्त्व व्यक्ति तथा अर्थशास्त्र का केन्द्रिय तत्त्व धन है उसी प्रकार राजनीति का केन्द्रीय तत्त्व शक्ति है। शक्ति की अवधारणा को आधुनिक रूप देने का श्रेय अमेरिकी राजनीतिशास्त्रियों के शिकागो स्कूल को जाता है जिन्होंने राजनीति के शक्तिवादी दृष्टिकोण को स्थापित किया। कैटलिन पहला राजनीतिक विचारक था जिसने एक ऐसे व्यवस्थित सिद्धान्त या संकल्पनात्मक संरचना का विकास किया जिसमें शक्ति को केन्द्रिय स्थान पर रखा गया। कैटलिन के अतिरिक्त मैरियम, लासवेल, राबर्ट डाहल, बट्रैण्ड रसेल इत्यादि विचारकों ने भी शक्ति की अवधारणा को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में शक्ति को दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। **पहले** एवं **चिर-परिचित** रूप में लोग जो कुछ नहीं करना चाहते, उनसे वैसा कराने की क्षमता को शक्ति की संज्ञा दी गयी है। अर्थात् यह एक ऐसी क्षमता है जिससे एक व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूह पर अपना नियंत्रण या प्रभुत्व स्थापित करता है। किन्तु समकालीन चिन्तन में शक्ति को **दूसरे** अर्थ में प्रयुक्त किया गया। इस अर्थ में शक्ति से अभिप्राय है अपनी इच्छा तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपेक्षित साधनों तक पहुंच। जब स्त्रियों के सशक्तीकरण का या निर्धन वर्गों के सशक्तीकरण का मुद्दा उठाते हैं तो संकेत शक्ति के इस दूसरे अर्थ की ओर होता है। विभिन्न विचारकों ने शक्ति के निम्न परिभाषाएं दी हैं—

“शक्ति का अर्थ है किसी सामाजिक सम्बन्ध के अन्तर्गत एक कर्ता द्वारा दूसरों की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा को क्रियान्वित करने की संभावना।”— **मैक्स वेबर**

“यह किसी भी सम्बन्ध से जुड़ी हुई ऐसी क्षमता है जिसमें दूसरों से कोई काम लिया जाता है या आज्ञा पालन कराया जाता है।”— **मैकाइवर**

“शक्ति से तात्पर्य है, मनचाहा प्रभाव पैदा करना।” — बट्रैंड रसैल

“शक्ति आदेश देने की क्षमता है।” — पिप्पर व शेरेवुड

“शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग” — बायर्सटेट

अतः इस प्रकार यदि संकुचित विश्लेषण किया जाए तो वह मूलतः बल-प्रयोग एवं कठोर शास्तियों से युक्त होती है। यही कारण है कि कभी-कभी इसे हिंसा, बल प्रयोग, भय, आतंक आदि का पर्याय समझ लिया जाता है। किन्तु शक्ति का व्यापक विश्लेषण करने से ज्ञान होता है कि शक्ति का आशय अन्य मनुष्यों या समुदायों के मस्तिष्क का विश्लेषण करना है। विभिन्न विचारकों ने इसके स्वरूप या प्रकृति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं। जैसे मैकियावेली, हॉब्स आदि विचारक इसे स्वतंत्र कारक या तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। **कैटलिन** उसे साधनात्मक सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करता है तथा **डाहल** ने शक्ति को स्वयं अपने आप में एक लक्ष्य माना है।

अतः इस प्रकार—

(i) शक्ति एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है।

(ii) शक्ति दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों का संकेत है, यह एक पक्षीय न होकर द्विपक्षीय है।

(iii) यह सापेक्ष अवधारणा है निरपेक्ष अवधारणा नहीं।

(iv) यह साध्य व साधन दोनों हैं।

(v) इसके पीछे अनुशक्ति होती है, बिना अनुशक्ति के शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता।

11.3.1 शक्ति के विविध आयामः— सामान्यतः शक्ति को तीन रूपों में विभाजित किया जाता है—

(क) **राजनीतिक शक्ति—** इससे तात्पर्य है कि जब कोई सत्ता रूढ़ या शासक वर्ग अपने कानून या आदेश जारी करके और उनका अनुपालन कराकर जिस शक्ति का प्रयोग करता है उसे राजनीतिक शक्ति कहा जाता है। इसमें नीतियां और कानून बनाने, कानून को लागू करने कर लगाने और वसूल करने, कानून या आदेश का पालन न करने वालों को पकड़ने तथा दंड देने तथा शत्रुओं और आक्रमणकारियों को नष्ट करने की क्षमता या शक्ति आ जाती है। अतः पुलिस, न्यायालय, कारागृह तथा सैन्य शक्ति इसके उपकरण हैं।

राजनैतिक शक्ति का प्रयोग सरकार के विभिन्न अंग विधानमण्डल कार्यपालिका व न्यायपालिका करते हैं, इन्हें राजनैतिक शक्ति में औपचारिक अंग कहते हैं। इसके अलावा दबाव समूह, राजनीतिक दल तथा अन्य प्रभावशाली लोग भी सार्वजनिक निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं, इन्हें राजनैतिक शक्ति के अनौपचारिक अंग कहते हैं।

(ख) **आर्थिक शक्तिः—** आर्थिक शक्ति से तात्पर्य है कि धन-सम्पदा उत्पादन के साधनों या अन्य दुर्लभ संसाधनों के बल पर निर्धन लोगों या निर्धन राष्ट्रों के व्यवहार पर नियंत्रण स्थापित करना। विश्लेषकों का मानना है कि आर्थिक शक्ति राजनैतिक शक्ति को व्यापक रूप से प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ— आन्तरिक रूप से व्यापार व वाणिज्य संगठन तथा बाह्य रूप से अमेरिका जैसे देश आर्थिक शक्ति के बल पर सार्वजनिक नीतियों को प्रभावित करते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार सब तरह की शक्ति न केवल आर्थिक शक्ति की नींव पर टिकी है वरन् आर्थिक शक्ति सारा सामाजिक विषमता की जड़ भी है।

(ग) **वैचारिक शक्तिः—** विचारकों का मानना है कि वैचारिक शक्ति राजनैतिक शक्ति को आधार प्रदान करती है। वैचारिक शक्ति से तात्पर्य है किसी विचारधारा के बल पर लोगों के सोचने समझने के ढंग को प्रभावित करने की क्षमता। यही वह शक्ति है जो किसी शासन या शासक वर्ग को लोगों की दृष्टि में उचित ठहरा कर उसे वैधता प्रदान करती है। वस्तुतः विचारधारा उन युक्तियों तथा मान्यताओं का व्यवस्थित समुच्चय है जिन्हें किसी वर्तमान या प्रस्तावित व्यवस्था को उचित ठहराने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

11.4 सत्ता अर्थ व परिभाषा— सत्ता औपचारिक शक्ति है जिसका आधार सदैव वैधता होता है। सत्ता किसी व्यक्ति, संस्था, नियम या आदेश का ऐसा गुण या क्षमता है जिसके कारण उसे सही या प्रमाणिक मानकर स्वेच्छा से उसके निर्देशों का पालन किया जाता है। सत्ता के कारण ही आधिकारिक नीतियां, नियम तथा निर्णय समाज में स्वीकार किये जाते हैं और प्रभावशाली तरीके से लागू किये जाते हैं। सत्ता को प्रशासन में प्रबंधकीय कार्यों की कुंजी माना गया। विभिन्न विचारकों ने इसे भिन्न-भिन्न तरीके से परिभाषित किया हैः—

“सत्ता आदेश देने का अधिकार है तथा उसके पालन करवाने की शक्ति है।” — हेनरी फेयोल

“सत्ता निर्णय लेने एवं आदेश देने का अधिकार है।” — डेविस

“आदेश देने एवं उसके पालन की आज्ञा को सत्ता कहा जाता है।” — पेटरसन

अतः इस प्रकार सत्ता आदेश देने, निर्णय लेने तथा उनका पालन करवाने की वह शक्ति या स्थिति है जो अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किये जाने पर अर्थपूर्ण बन जाता है।

11.4.1 सत्ता की विशेषताएं –

- सत्ता निश्चित, स्पष्ट तथा औपचारिक होती है।
- सत्ता कानूनी, वस्तुपरक तथा संगठनात्मक होती है।
- सत्ता को पहचानने के लिए विभिन्न चिन्हों जैसे ताज, मोहर, पद, वेशभूषा आदि का प्रयोग किया जाता है।
- सत्ता में अधीनस्थों की भूमिका अधिक होती है।
- सत्ता को व्यक्तियों समूह तथा संस्थाओं में प्रत्यायोजित किया जा सकता है।

11.4.2 सत्ता के सिद्धांत— सत्ता की प्रकृति के संबंध में दो प्रमुख सिद्धांत प्रचलित हैं—

- **औपचारिक सत्ता सिद्धांत** इस सिद्धांत के अनुसार सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर चलता है ऊपर के अधिकारी जो सत्ता में रहते हैं अधीनस्थ अधिकारियों को आदेश देते हैं। नौकरशाही इसका उदाहरण है।
- **स्वीकृत सत्ता सिद्धांत** व्यवहारवादी सत्ता के इस सिद्धांत में विश्वास करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार सत्ता का वास्तविक आधार अधीनस्थों की स्वीकृति होती है। इस सिद्धांत के अनुसार सत्ता कानूनी रूप से तो केवल औपचारिक होती है किंतु जब अधीनस्थ स्वेच्छा से अधिकारियों के आदेश को स्वीकार कर लेते हैं तो वह सत्ता-स्थिति बन जाती है।

11.4.3 सत्ता के विविध रूप :- जर्मन विचारक मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक “जेम जेमवतल विवबपंस दक म्बवदवउपब वतहंदप्रंजपवद” में आधुनिक राज्य में सत्ता के तीन प्रकारों या रूपों का वर्णन किया है:-

- परम्परागत सत्ता:-** यह सत्ता किसी व्यक्ति को योग्यता या वैज्ञानिक नियमों के अन्तर्गत पद पर आसीन होने के कारण नहीं बल्कि परम्परा या वंशानुगत द्वारा स्वीकृत पद पर आसीन होने के कारण प्राप्त होती है। परम्परागत सत्ता इस मान्यता पर टिकी हुई है कि प्रचलित मूल्य या मान्यताएं यथोचित होती हैं। यहां यह माना जाता है कि जो व्यक्ति या वंश प्रचलित परम्परा के अनुसार देश में शासन करता रहा है, उसे ही शासन करने का अधिकार है। जैसे- जनजातियों में मुखिया की सत्ता, कृषि युग में पंचायतों की सत्ता, ब्रिटेन में राजतंत्र इत्यादि। यहां उल्लेखनीय है कि जिसप्रकार वैधानिक सत्ता कानूनों के अनुसार निश्चित व सीमित होती है उस प्रकार से परम्परागत सत्ता सीमित व निश्चित नहीं होती क्योंकि इसमें स्पष्ट व निश्चित नियमों का अभाव होता है।
- करिश्माई सत्ता:-** करिश्माई सत्ता ऐसे नेतृत्व के रूप में व्यक्त होती है जिसके अनुयायी अपने नेता के गुणों को बढ़ा चढ़ा कर आंकते हैं। इसमें सत्ता का स्त्रोत वैयक्तिक गुण व उसकी अपनी विशेषताएं होती हैं। समाज या अधीनस्थ उस व्यक्ति के गुणों के कारण उसमें अलौकिकता का बोध करता है और अपने समस्त अधिकारों को उस व्यक्ति को सौंप देता है। जैसे- शंकराचार्य, दलाई लामा, पोप, महात्मा गांधी, जूलियस सीजर इत्यादि।
- वैधानिक सत्ता:-** यह सत्ता समाज में स्वीकृत और प्रचलित वैधानिक कानूनों के साथ जुड़ी हाती है, व्यक्ति विशेष के साथ नहीं। अर्थात् जो व्यक्ति जिस पद पर आसीन होता है उसके हाथों में उस पद से सम्बन्धित समस्त सत्ता होती है। व्यवस्था से जुड़े व्यक्ति निर्धारित योग्यताओं के आधार पर चुने जाते हैं किसी परम्परा या करिश्मा के आधार पर नहीं। अतः इसका क्षेत्र वहीं तक सीमित होता है जहां तक वैधानिक नियम उस पद को विशिष्ट अधिकार प्रदान करते हैं।

11.4.4 शक्ति व सत्ता में परस्पर संबंध :- सामान्यतः सत्ता और शक्ति बहुत कुछ समानार्थी लगते हैं तथापि राजनीति सिद्धान्त में ये दोनों शब्द अपना पृथक व विशेष स्थान रखते हैं। जब शक्ति को कानूनी रूप दे दिया जाता है तो वह सत्ता बन जाती है। शक्ति का अस्तित्व सत्ता के अभाव में सम्भव तो है परन्तु उसका दीर्घकालीन स्थायित्व सत्ता के अभाव में सम्भव नहीं है। शक्ति के स्थायित्व के लिए जरूरी है कि उसका प्रयोग अधिकार के रूप में किया जाए तथा उसके आदेशों को कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया जाए। अतः इस प्रकार शक्ति असंस्थागत, परिस्थितिजन्य एवं अनिश्चित होती है जबकि सत्ता संस्थागत, स्पष्ट तथा निश्चित होती है। सहमति व स्वीकृति के बिना शक्ति हिंसा, बल प्रयोग एवं उत्पीड़न के रूप में अमान्य एवं निन्दनीय मानी जाती है।

सत्ता संस्थागत, स्पष्ट व निश्चित होती है यद्यपि सत्ता के दो मुख्य घटक- शक्ति और वैधता होते तथापि सत्ता शक्ति के अभाव में भी विद्यमान रह सकती है। जैसे-एक डॉक्टर, प्रोफेसर या संत, धार्मिक गुरु की सत्ता। किन्तु इसमें भी संदेह नहीं है कि शक्ति के बिना सम्पूर्ण समाज पर आधिकारिक निर्णयों एवं नियमों को लागू करना बहुत कठिन होता है

क्योंकि कुछ लोग अपने तात्कालीन लाभ व स्वार्थ सिद्धि के लिए वैधानिक नियमों की अवहेलना कर समाज में कानून व व्यवस्था को स्थापित करने में बाधा उत्पन्न करते हैं जैसे— यातायात के नियमों की अवहेलना। अतः यदि शक्ति की तुलना नंगी तलवार से करें तो सत्ता अपने म्यान में ढकी हुई तलवार है जो जरूरत पड़ने पर ही बाहर निकाली जाती है। इसलिए शक्ति व सत्ता परस्पर सम्बद्ध है और दोनों को अपने प्रयोग के लिए एक दूसरे की आवश्यकता होती है।

11.5 निष्कर्ष :- उपयुक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सत्ता व शक्ति राजनीतिक सिद्धांत की प्रमुख अवधारणाएं मानी जाती हैं। सत्ता व शक्ति परस्पर संबंधित होते हुए भी एक दूसरे से पृथक् अस्तित्व रखती हैं जैसे की **एम. जी. स्मिथ** का कथन है की “शक्ति के अभाव में सत्ता अप्रभावशाली होती है तथा बिना सत्ता के शक्ति असंस्थाईकृत व अनिश्चित रहती है।” अतएव सत्ता व शक्ति में राजनीतिक संगठनों के माध्यम से एकीकरण स्थापित किया जा सकता है दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. शक्ति की अवधारणा की विवेचना कीजिए?
2. सत्ता का तात्पर्य क्या है इसके विभिन्न रूप बताइए?
3. सत्ता पर एक लेख लिखिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आर्थिक शक्ति क्या है?
2. शक्ति व सत्ता पर परस्पर संबंध क्या है?
3. सत्ता की विशेषताएं क्या हैं?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. शक्ति क्या है?
2. राजनीतिक शक्ति से क्या तात्पर्य है?
3. वैधानिक औपचारिक सत्ता का तात्पर्य क्या है?

वैधीकरण व राजनीतिक दायित्व

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 वैधता: अर्थ, परिभाषा व लक्षण

12.4 राजनीतिक दायित्व की अवधारणा

12.4.1 राजनीतिक सत्ता की पहचान

12.4.2 राजनीतिक सत्ता के स्रोत

12.4.3 राजनीतिक दायित्व का सीमा क्षेत्र

12.5 वैधता व राजनीतिक दायित्व में परस्पर सम्बन्ध

12.6 निष्कर्ष

12.1 **उद्देश्य:**— इस अध्याय के अन्तर्गत अध्ययकर्ता यह जानने का प्रयास करेगा कि—

- राजनीतिक वैधता व राजनीतिक दायित्व क्या है?
- इन दोनों का सीमा क्षेत्र क्या है?
- कैसे वैधता व राजनीतिक दायित्व पूरक व परस्पर सम्बद्ध है?

12.2 **प्रस्तावना:**— प्रत्येक राजनीतिक समाज के कुछ दायित्व हैं जिनका पालन उनके द्वारा किया जाता है यथा—यथा कर चुकाना, मतदान में हिस्सा लेना, राष्ट्रीय प्रतिक चिन्हों का सम्मान करना, सैनिक सेवा इत्यादि। प्रश्न उठता है कि ये दायित्व किसके प्रति हैं? तो इसका एक सामान्य सा अन्तर है वैधतायुक्त सत्ता के प्रति। किन्तु साथ ही माइ ऑकशॉट जैसे विचारक यह तर्क भी देते हैं कि राजनीतिक दायित्व अनुबंध जैसा बंधा-बंधाया दायित्व न होकर मैत्री की तरह बिखरा हुआ दायित्व है। जैसे मित्रों के बीच पहले से यह निश्चित नहीं होता कि वे एक दूसरे के लिए क्या-क्या करेंगे या क्या-क्या नहीं करेंगे, वैसे ही व्यक्ति व राज्य के परस्पर सम्बन्ध के मामले में व्यक्तियों के लिए पहले से यह निश्चित नहीं होता है कि वे राज्य के लिए क्या-क्या करेंगे व क्या-क्या नहीं करेंगे। क्योंकि राजनीतिक अनुसंधानकर्ता ने अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि कोई भी शासन प्रणाली सम्पूर्ण जनता की दृष्टि से शत-प्रतिशत वैध नहीं होती। अत्यन्त लोकप्रिय शासन प्रणाली के अन्तर्गत भी कहीं न कहीं विरोध छुपा होता ही है। कुछ लोग शासन के प्रति उदासीन होते हैं, कुछ असहमत व असंतुष्ट होते हैं। कुछ विद्रोह पर उतारू होते हैं। तो कुछ सशस्त्र आतंकवादी बन जाते हैं। अतः वैधता व दायित्वों में किस प्रकार सम्बन्ध बनाया जाए यह राजनीतिक सिद्धान्त की प्रमुख समस्या मानी जा सकती है।

12.3 **वैधता: अर्थ, परिभाषा व लक्षण:**— वैधता शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'स्महपजपउने' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है कानूनरत या संविधानिक नियमों के अनुकूल साधारण शब्दों में जो कानून या विधान के अनुरूप हो, उसे वैधता कहा जाता है। वैधता, बल को शक्ति तथा शक्ति को सत्ता में बदलने की योग्यता रखती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तत्व है जो शासक व शासित के मध्य एक मूल्य प्रधान विश्वास एवं सहमति के रूप में प्रकट होता है। वैधता ही वह तत्व है जो किसी राजनीतिक व्यवस्था को न्याय संगत बनाती है और उसे स्थायित्व प्रदान करती है। वैधता वास्तव में शक्ति व सत्ता के बीच की कड़ी है। वैधता ऐसा तत्व है जो पाशविक शक्ति को मान्य सत्ता के रूप में ढाल देती है। और फिर लोग स्वेच्छा से उसके आगे सिर झुकाते हैं। कभी-कभी लोकतंत्र और अधिनायक तंत्र में अन्तर भी इसी आधार पर किया जाता है। क्योंकि लोकतंत्र का प्रधान लक्षण जनसहमति या वैधता है जबकि अधिनायक तंत्र प्रधान लक्षण शक्ति या बल प्रयोग होता है। अतः इस प्रकार किसी नियम कानून या राजनीतिक व्यवस्था की वैधता उसकी सामाजिक स्वीकृति का संकेत देती है। विभिन्न विचारकों ने वैधता की निम्न परिभाषाएं दी हैं:—

“वैधता से अभिप्राय व्यवस्था की उस क्षमता से है जिसके द्वारा यह विश्वास उत्पन्न किया और स्थिर रखा जाता है कि प्रचलित राजनीतिक संस्थाएं समाज के लिए सर्वाधिक उचित हैं।”—**एस.एम. लिपसेट**

“वैधता कानूनों और शासकों के न्याय संगत होने का ऐसा प्रतीक है जो उनकी सत्ता में वृद्धि करता है।”—**कार्ल जे. फ्रेडरिक**

संक्षेप में वैधता वह सहमति या स्वीकृति है जो लोगों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को प्रदान की जाती है। और लोगों की यह स्वीकृति या सहमति इस विश्वास पर आधारित होती है कि वह राजनीतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक उचित व न्याय संगत है। वैधता का स्रोत भय या प्रलोभन न होकर लोगों के विश्वास व मूल्यों पर आधारित उनकी स्वेच्छिक स्वीकृति होती है। वैधता के उपरोक्त स्पष्टीकरण से वैधता के निम्न लक्षण स्पष्ट होते हैं—

- (i) वैधता विशाल पर समुदाय की सहमति पर आधारित होती है न कि किसी वर्ग विशेष के व्यक्तियों को सहमति पर
- (ii) वैधता शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करने वाली श्रमता है शक्ति या सत्ता का आधार जब तक सहमति नहीं होता तब तक उसे स्थायित्व प्राप्त नहीं हो सकता।
- (iii) वैधता लोगों के मूल्यों तथा विश्वासों पर आधारित होती है। वैधता तब उत्पन्न होती है जब राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों व जनसाधारण के मूल्यों में तादात्म्य उत्पन्न होता है।
- (iv) वैधता का मापदण्ड सार्वजनिक कल्याण होता है।

12.4 राजनीतिक दायित्व की अवधारणा— राजनीतिक दायित्व की समस्या राजनीतिक दर्शन की चिर-प्राचीन समस्या मानी जा सकती है। इसका मुख्य सरोकार यह रहा कि व्यक्ति अपने राज्य के कानून और आदेशों का पालन करने के लिए कब, क्यों और कितना बाध्य है। राजनीतिक दायित्व की संकल्पना राजनीतिक सत्ता के प्रति व्यक्ति के दायित्वों का निर्धारण करती है। राजनीतिक दायित्व की संकल्पना में राजनीतिक वैधता तथा प्रभावशीलता स्वतः शामिल है। राजनीतिक दायित्व का आशय सत्तासीन लोगों के प्राधिकार का पालन करना ही नहीं है बल्कि उनके प्राधिकार का आलोचनात्मक परीक्षण करना भी है। यदि व्यक्तियों की खातिर प्राधिकरण के विरुद्ध प्रतिरोध का रवैया भी अपना सकते हैं। लोक ग्रीन तथा लास्की जैसे उदारवादियों ने भी उन परिस्थितियों को स्वीकार किया है। जिसमें व्यक्ति अपने प्रतिरोध का प्रदर्शन कर सकता है। राजनीतिक दायित्व की संकल्पना राजनीतिक सत्ता के प्रति व्यक्ति कर्तव्यों का निर्धारण करती है। पिछले अध्यायों में विश्लेषित किया गया कि शक्ति नग्न तलवार के समान है किन्तु जब उसे जन सहमति या स्वीकृति की म्यान मिलने पर वह सत्ता के रूप में स्थायित्व प्राप्त कर लेती है। अर्थात् जन सहमति ही वह महत्वपूर्ण कारक जो शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करता है। किन्तु साथ ही राजनीतिक चिन्तन में यह भी ज्वलंत प्रश्न रहा है कि सहमति के साथ कर्तव्य व दायित्व भी अनायास ही जुड़े रहते हैं। जब राज. दायित्व की संकल्पना को समझने का प्रयास किया जाता है। तो इसके तीन महत्वपूर्ण पक्ष सामने आते हैं—

12.4.1 राजनीतिक सत्ता की पहचान— इसके तहत इस प्रश्न की छानबीन की जाती है कि व्यक्ति के राजनीतिक दायित्व किसके प्रति है अर्थात् व्यक्ति किसके प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिए बाध्य है। इस संदर्भ में अलग-अलग मत प्रचलित हैं जैसे हीगल जैसे विचारक राज्य को 'विवेक की साक्षात् प्रतिमा' के रूप में मान्यता देकर राज्य के प्रति पूर्ण सम्पर्ण की मांग करते हैं। वहीं दूसरी तरफ लास्की ने तर्क दिया कि राज्य अमूर्त संस्था है अतः व्यवहार के स्तर पर राज्य की शक्ति का प्रयोग सरकार द्वारा किया जाता है इसलिए व्यक्ति के राजनीतिक दायित्व सरकार के प्रति है। ये दोनों मत असंगत हैं क्योंकि हीगल का मत सर्वाधिकार को बढ़ावा देता है व लास्की का मत मानने से सरकार को असीम शक्ति सौंप देने से मनमानी व अत्याचार का रास्ता खुल जायेगा।

अंग्रेज दार्शनिक ग्रीन ने प्रतिपादित किया कि राजनीतिक दायित्व का उपयुक्त पात्र न राज्य है और न ही सरकार अपितु मनुष्य का राजनीतिक दायित्व समाज के प्रति होना चाहिए। ग्रीन का मानना है कि समाज का आधार यह है कि इसके सदस्य एक दूसरे को अपने आप में साध्य मानते और सामान्य हित की चेतना से जुड़े रहते हैं और यही सामान्य हित की चेतना मनुष्यों को अपने कर्तव्यों को स्वीकार करने की प्रेरणा देती है।

12.4.2 राजनीतिक सत्ता का स्रोत— राजनीतिक दायित्व से जुड़ा दूसरा पक्ष यह है कि राजनीतिक सत्ता का आधार क्या है जिसने व्यक्ति को राजनीतिक दायित्व से बांध दिया अर्थात् वो कौन से कारक है जिन्होंने व्यक्ति को राजनीतिक सत्ता के प्रति अपने दायित्वों व कर्तव्य निभाने हेतु प्रेरित किया। इस संदर्भ में भी मुख्यतः तीन दृष्टिकोण या मत प्रचलित हैं—
अनिवार्य बाध्यता का सिद्धान्त— इसके समर्थ विचारकों का मानना है कि राज्य की अदभ्य शक्ति के आगे मनुष्य सर्वथा विवश है इसलिए वह हर तरह से आज्ञापालन के लिए बाध्य है। जैसा की जॉन एडमस ने कहा है कि अधिकांश करकारें भय की नींव पर खड़ी हैं।”

वैधता का सिद्धान्त— इस सिद्धान्त का मानना है कि किसी समाज के सदस्य किसी संस्था, नियम या कानून को अपने लिए और सारे समाज के लिए उचित मानते हैं इस कारण वे उनसे जुड़े दायित्वों को सहर्ष स्वीकार करते हैं जैसा की प्राचीन यूनानी दार्शनिक ने प्रतिपादित किया था कि राजनीतिक दायित्व का आधार न्याय की स्थापना का प्रयत्न है। इसकी सिद्धि के लिए लोग स्वभावतः राज्य के रूप में संगठित होते हैं। इसी प्रकार डेविड ह्यूज ने भी तर्क दिया कि किसी भी तरह की राजनीतिक सत्ता के आज्ञापालन से जो लाभ होता है, वह उसके उल्लंघन करने से होने वाली हानि से कहीं अधिक होता है

इसलिए राजनीतिक दायित्वों का पालन किया जाता है। अतः इस प्रकार यह सिद्धान्त मानता है कि मनुष्य का नैतिक विकास व कल्याण राज्य में ही सम्भव है इसलिए राजनीतिक दायित्व भी अनिवार्य और असीम होते हैं।

सहमति का सिद्धान्त— यह सिद्धान्त सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त के विचारकों द्वारा प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि मनुष्य विवेकशील व स्वतंत्र है इसलिए उसे आज्ञापालन करने हेतु बाध्य नहीं किया जा सकता अपितु वह अपनी समति से ही किसी राजव्यवस्था की आज्ञा का पालन करने हेतु तैयार हो सकता है। कोई भी सरकार अपने नागरिकों की व्यक्त या अत्यक्त सहमति के आधार पर ही अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकती है। जहां हॉब्स व रूसो ने पूर्ण सम्प्रभुता की बात करते हुए असीम राजनीतिक दायित्व का समर्थन करते हैं वहीं लॉक ने सरकार को व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए स्थापित न्यास मानते हुए सीमित राजनीतिक दायित्व का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

12.4.3 राजनीतिक दायित्व का सीमाक्षेत्र— जिस प्रकार राजनीतिक दायित्वों का स्रोत क्या है, राजनीतिक दायित्व का आधार क्या है, ये प्रश्न अनेक दृष्टिकोणों का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार व्यक्ति किन-किन मामलों में किन-किन शर्तों पर और किस सीमातक राजनीतिक दायित्वों को निभाने के लिए बाध्य किया जा सकता है, को लेकर भी अलग-अलग दृष्टिकोण व मत प्रचलित हैं। यथा—

रूढ़िवादी दृष्टिकोण— यह दृष्टिकोण असीम राजनीतिक दायित्व का समर्थन करता है। डेविड ह्यूम इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक माने जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण की मान्यता है कि सत्ता का सम्मान व आज्ञा का पालन मानव स्वभाव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। और क्योंकि मनुष्य स्वयं यह अनुभव करने में समर्थ नहीं होते कि न्याय कि नियमों का पालन करने में ही उनका कल्याण निहित है। अतः जब कोई सत्ता उनसे इन नियमों का पालन कराती है तो उसका समर्थन करने में ही उन्हें अपना हित दिखाई देता है। अतः इस प्रकार रूढ़िवादी सिद्धान्त बिना शर्त असीम राजनीतिक दायित्व की अवधारणा को स्वीकार करता है।

अराजकतावादी दृष्टिकोण— इस दृष्टिकोण के समर्थक नकारात्मक राजनीतिक दायित्व की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इनका मानना है कि सम्पूर्ण सरकारी सत्ता अर्बव है क्योंकि राज्य बल प्रयोग मूलक संस्था हैं। यह केवल भ्रष्ट तथा अन्यायपूर्ण समाज के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। अतः व्यक्ति का दायित्व है कि वह ऐसे अन्यायपूर्ण समाज का विरोध करे और ऐसे समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिए जिसके समस्त सदस्य न्याय के नियमों के अनुरूप स्वेच्छापूर्वक सहयोग कर सकें। मार्क्सवादी विचारक और प्रोधा व पीटर क्रॉपटकिन इस दृष्टिकोण के समर्थक माने जाते हैं।

गांधीवादी दृष्टिकोण— यह दृष्टिकोण भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने प्रतिपादित किया। इसके अनुसार ऐसा कानून जो अन्यायपूर्ण हो का उल्लंघन करना सविनय अवज्ञा कहलाता है। इसका भावार्थ है कि सामान्य रूप से कानून का हार्दिक सम्मान किया जाना चाहिए किन्तु केवल अन्यायपूर्ण कानून को ही तोड़ा जाना चाहिए। महात्मा गांधी ने स्वाधीनता आंदोलन के दौरान सविनय अवज्ञा आंदोलन को अहिंसात्मक संघर्ष व सत्याग्रह की संकल्पना के साथ मिलाकर एक विस्तृत सिद्धान्त का रूप दिया।

12.5 वैधता एवं राजनीतिक दायित्व में परस्पर सम्बंध — वैधता के कारण ही नागरिक राज्य व्यवस्था तथा संगठनों में विश्वास रखते हैं। इसलिए साधारणतया वैधता वह तत्व है जो पाशविक शक्ति को मान्यता प्राप्त सत्ता में परिवर्तित कर देता है। और फिर लोग स्वेच्छा से उसके आगे सिर झुकाते हैं। आधुनिक विचारक जॉन लॉक ने भी लोगों की सहमति को राज्य की वैधता का आधार बताया और वर्तमान की लोकतांत्रिक प्रणालियों में जनसाधारण की बढ़ती सहभागिता को राज्य की वैधता का आधार माना जा सकता है। इस प्रकार वैधता मुक्त शासन जन सहमति पर आधारित होता है और यह जनसहमति ही राजनीतिक दायित्वों का आधार होती है। अर्थात् जो राज्य वैध होगा, जनता की सहमति पर आधारित होगा उसी में जन समुदाय अपने दायित्वों को पूरा करने का ईच्छुक होगा। कभी-कभी लोकतंत्र व अधिनायकतंत्र में अंतर भी इसी आधार पर किया जाता है। कि लोकतंत्र का प्रधान लक्षण वैधता होने के कारण जनता द्वारा स्वेच्छा से अपने दायित्वों का निर्वाह किया जाता है जबकि अधिनायकतंत्र मुख्यतः शक्ति या बल प्रयोग पर आधारित होने के कारण उसमें जनता द्वारा राजनीतिक दायित्वों का निर्वाह कर शासन के विरुद्ध क्रांति या जन आंदोलन को अपनाया जाता है। अतः इस प्रकार वैधता व राजनीतिक दायित्व एक दूसरे के पूरक हैं। जो शासन वैधता पर आधारित होता है वहां दायित्वों का निर्वाह स्वतः होता है उसके लिए बाध्यकारी शक्तियां अपने राजनीतिक दायित्वों का निर्वाह स्वेच्छा से बिना किसी दबाव से कर रहा है तो सिद्ध है कि वह शासन वैधतायुक्त है। अतः इस प्रकार जो शासन वैधता पर आधारित नहीं होगा उसी में क्रांति, जनआंदोलन, विद्रोह, सविनय अवज्ञा, तोड़-फोड़ जैसी घटनाएं घटित होती हैं।

12.6 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार सत्ता की वैधता जनता के कल्याण या जनता की सहमति पर आधारित होती है तथा वैधता युक्त सत्ता के प्रति ही जनता द्वारा अपने दायित्वों का निर्वाह किया जाता है। वैधता व दायित्व परस्पर अन्तःसम्बन्धित अवधारणाएं हैं जो एक दूसरे के अस्तित्व को सुनिश्चित करते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वैधता पर एक लेख लिखिए?
2. वैधता क्या है? इसके विविध रूप क्या हैं?
3. वैधता व राजनीतिक दायित्वों में परस्पर सम्बन्ध बताइए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. वैधता के लक्षण बताइए?
2. राजनीतिक दायित्वों को परिभाषित कीजिए?
3. राजनीतिक दायित्व व वैधता में परस्पर सम्बन्ध क्या है?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. वैधता क्या है?
2. राजनीतिक दायित्वों का अर्थ क्या है?

सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा

13.1 उद्देश्य

13.2 प्रस्तावना

13.3 सत्याग्रह का अर्थ व स्वरूप

13.3.1 सत्याग्रह व निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर

13.3.2 सत्याग्रह के प्रमुख सिद्धांत

13.3.3 सत्याग्रह की आचरण संहिता

13.3.4 सत्याग्रह की स्थितियाँ

13.4 सत्याग्रह की सीमाएं

13.5 सविनय अवज्ञा का अर्थ व स्वरूप

13.5.1 सविनय अवज्ञा व आपराधिक अवज्ञा में अन्तर

13.5.2 सविनय अवज्ञा व असहयोग आन्दोलन में अन्तर

13.6 निष्कर्ष

13.1 **उद्देश्य**— प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य उन अहिंसात्मक उपकरणों की व्याख्या करना है जिससे विवादों का शांतिपूर्ण समाधान सम्भव हो सके। इसका अध्ययन करने के पश्चात अध्ययनकर्ता—

- सत्याग्रह के अर्थ व स्वरूप को जा पायेंगे।
- सत्याग्रह के सिद्धान्त व नियमों को समझ पायेंगे।
- सविनय अवज्ञा की अवधारणा को जान पायेंगे।

13.2 **प्रस्तावना**— सत्याग्रह से तात्पर्य है सत्य के प्रति आग्रह अर्थात् जो सत्य लगे उसे शांतिपूर्ण तरीके से मनवाना अतः सत्याग्रह व सविनय अवज्ञा में साध्य व साधन का सम्बन्ध है। वर्तमान के हिंसात्मक व तनावपूर्ण युग में सत्याग्रह व सविनय अवज्ञा की अवधारणा अन्तराष्ट्रीय स्तर पर प्रासंगिक बन चुकी है।

13.3 **सत्याग्रह का अर्थ व स्वरूप**— गाँधीवाद का मूल तत्त्व सत्याग्रह है, जो राजनीतिक सिद्धांत तथा व्यवहार को गाँधीजी की सर्वोत्तम देन है। यह वह केन्द्र है जिसके चारों ओर उनकी अत्य धारणाएं — राजनीतिक का आध्यात्मिकरण, साहय — साधन की एकता व पवित्रता इत्यादि।

सत्याग्रह शब्द का शब्दिक अर्थ है सत्य पर डटे रहना अर्थात् सत्य का बल। अतएव सत्याग्रह का अर्थ है बिना किसी दुर्भावना तथा घृणा के धैर्यपूर्वक कष्ट सहना तथा इसके द्वारा अपने विरोधी को अपनी बात को सत्याता पर विश्वास दिलाना। गाँधीजी इसे आत्मबल भी कहते हैं क्योंकि आत्मा में अस्तित्व व उसकी वास्तविकता में विश्वास सत्याग्रह के नैतिक शस्त्र के प्रयोग की प्रथम शर्त है। गाँधीजी ने कहा कि सत्याग्रही का उद्देश्य यह कभी भी नहीं होना चाहिए कि वह गलत कार्य करने वाले को लज्जित करें। सत्याग्रह की अपील विरोधी के भय पर आधारित नहीं होनी चाहिए अपितु उसके हृदय से सम्बन्धित होनी चाहिए। सत्याग्रही का उद्देश्य गलत कार्य करने वाले व्यक्ति का हृदय परिवर्तन करना है न कि उसको सजा देना। गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ यह है कि गैर व्यक्तिगत और सामूहिक हितों तथा नैतिक रूप से सही बात के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध। गैर व्यक्तिगत हितों के लिए लड़ने के लिए जिस तैयारी की आवश्यकता होती है उसके लिए सत्याग्रही को बहुत ही अनुशासित रहना पड़ता है। और इसके लिए आरम्भ से हो कम से कम पाँच व्रतों का पालन करना होता है। यथा— सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य।

अपनी जीवनी में गाँधीजी ने यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार सत्याग्रह शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। उन्होंने कहा कि उनसे पूर्व जो आन्दोलन उनमें जैसे विचारों पर आधारित थे, उन्हें निष्क्रिय प्रतिरोध के नाम से जाना जाता था लेकिन गाँधी को लगा कि दक्षिण अफ्रीका में चलाया गया उनका आन्दोलन निष्क्रिय प्रतिरोध से अलग प्रकार का है। और इसके लिए अलग नाम की आवश्यकता थी। उन्होंने अपने पक्ष 'द इण्डियन ओपिनियन' में इसके विषय में सुझाव मांगे और सबसे

अच्छा सुझाव मगनलाल गाँधी का लगा जिसे उसने सदाग्रह के नाम से प्रेषित किया, गाँधी ने सदाग्रह को सत्याग्रह में परिणित कर दिया क्योंकि यह शब्द उनके विचारों को सही ढंग से व्यक्त कर रहा था।

13.3.1 सत्याग्रह व निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर— हालांकि गाँधी ने 'हिंद स्वराज्य' में सत्याग्रह व निष्क्रिय प्रतिरोध को समानार्थी माना किन्तु अपनी पुस्तक "सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका" में इन दोनों में निम्न अंतर बताये—

- (क) निष्क्रिय प्रतिरोध करने वाले लोग अपने आप को कमजोर मानते हैं इसलिए निष्क्रिय प्रतिरोध का सहारा लेते हैं जबकि सत्याग्रह करने वाले लोग स्वयं की शक्ति में विश्वास करते हैं।
- (ख) निष्क्रिय प्रतिरोध में जहाँ प्रेम का कोई स्थान नहीं होना वहीं सत्याग्रह में घृणा के लिए कोई स्थान नहीं होता।
- (ग) निष्क्रिय प्रतिरोध में पाशविक बल या शारीरिक बल का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु सत्याग्रह में इस प्रकार के बल का निषेध है।
- (घ) निष्क्रिय प्रतिरोध केवल विरोधियों के विरुद्ध किया जाता है जबकि सत्याग्रह अपने से नजदीक व प्रिय लोगों के विरुद्ध भी किया जा सकता है।
- (ङ) निष्क्रिय प्रतिरोध में हमेशा अपने विरोधी को परेशान करने का विचार किया जाता है किन्तु सत्याग्रह में विरोधी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायी जाती।
- (च) निष्क्रिय प्रतिरोध में जब तक हिंसा का प्रयोग उचित न हो तब तक अहिंसा को केवल बाह्य रूप से स्वीकार किया जाता है लेकिन सत्याग्रह में अहिंसा उसकी आत्मा है।
- (छ) निष्क्रिय प्रतिरोध एवं नकारात्मक स्थिति है जिसमें प्रेम के लिए कोई स्थान नहीं जबकि सत्याग्रह एक सकारात्मक व सक्रिय प्रतिरोध जो विरोधी से प्रेम तथा विरोधी का मन जीतनेपर अवलम्बित है।

गाँधी का कथन था कि सत्याग्रह का सिद्धान्त कोई नवीन विचार नहीं है। यह केवल ग्रह जीवन के नियमों का राजनीतिक क्षेत्र में आरोपण है। घर के झगड़ों की साधारणतया प्रेम व सहानुभूति से सुलझाया जाता है। कभी-कभी सत्याग्रह को युद्ध का नैतिक विकल्प कहा जाता है क्योंकि यह एक ऐसा युद्ध है जो बहुत सी क्रूर विशेषताओं से अभिमुक्त है, यह अत्यन्त वीरतापूर्ण युद्ध है। इसका उद्देश्य विनाश से ध्येय से अधिक पवित्र है। जे.बन्हपोपाध्याय के अनुसार सत्याग्रह के सक्रिय प्रतिरोध होने की विशेषता इन चार तत्त्वों से प्रदर्शित होती है—

1. अहिंसा
2. किसी भी प्रतिरोध के पीछे गैर व्यक्तिगत प्रेरणा
3. अभय
4. सृजनात्मक शक्ति

13.3.2 सत्याग्रह के प्रमुख सिद्धांत :— गाँधी का मानना था कि सत्याग्रह के लिए कुछ प्रमुख तत्व महत्वपूर्ण हैं जिनके अभाव में सत्याग्रह का कोई अर्थ नहीं है यथा—

- सत्य, सबसे प्रमुख तत्व है जिसके लिए आग्रह करना हो सत्याग्रह है।
- दूसरा प्रमुख तत्व अहिंसा है जिसके बिना सत्याग्रह का सफल संचालन सम्भव नहीं है।
- तीसरा, महत्त्वपूर्ण तत्व आत्मपीड़ा भोग है, इस तत्व के द्वारा गाँधी सत्याग्रह की प्रक्रिया को समझाते हैं।
- चौथा तत्व है व्यक्ति का महत्त्व। सत्याग्रह बिना सत्याग्रही में सम्भव नहीं है इसलिए सत्याग्रह के सिद्धांत, प्रक्रिया, उद्देश्य के साथ-साथ सत्याग्रह कौन कर रहा है, यह भी महत्त्वपूर्ण है। सत्याग्रह को संचालित करने के लिए इन तीन बातों का ध्यान रखना होगा—

1. अभियान को निर्देशित करने वाले मूलभूत नियम।
2. अनुशासन की संहिता
3. वह चरण जिनके द्वारा इस अभियान को आगे बढ़ाया जाए।

मूलभूत नियम—

- सार्वकालिक आत्मनिर्भरता।
- अभियान के उद्देश्यो, युद्धनीति एवं रणनीति का प्रचार।

- अपनी मांगों को सत्य के साथ संगत करते हुए न्यूनतम बनाना।
- आन्दोलन के क्रमिक विकास पर बल।
- अपनी दुर्बलताओं का परीक्षण।
- पूर्ण समझौते पर बल। इत्यादि

13.3.3 सत्याग्रह की आचरण संहिता:— सविनय अवज्ञा गाँधी द्वारा सत्याग्रह के साधनों में एक महत्वपूर्ण साधन था। 1930 में गाँधी ने सत्याग्रहों के लिए एक आचरण – संहिता जारी की थी जिसमें वर्णित नियमों का पालन करना उनके द्वारा आरंभ किए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन में हिस्सा लेने वालों के लिए आवश्यक था। 27 फरवरी 1930 'यंग इंडिया' में उन्होंने इस नौ सूत्री आचरण – संहिता का स्पष्ट किया है:—

1. एक सत्याग्रही किसी प्रकार का क्रोध नहीं रखेगा।
2. वह अपने विरोधी के क्रोध को स्वीकार करेगा।
3. ऐसा करते हुए वह अपने विरोधी द्वारा उस पर किए गए अत्याचारों को सहन करेगा लेकिन कभी भी बदले की भावना से कार्य नहीं करेगा। वह कभी भी सजा के भय से अपने आपको समर्पित नहीं करेगा।
4. जब सत्ता के लोग सत्याग्रही को गिरफ्तार करेंगे तो वह गिरफ्तारी देने को तैयार रहेगा। वह अपनी संपत्ति को छोड़ने को तैयार होगा और किसी भी प्रकार से सत्ता के द्वारा अपनी संपत्ति को लेने का विरोध नहीं करेगा।
5. लेकिन अगर सत्याग्रही के पास कोई संपत्ति न्यासी के नाते है तो वह उसे देने से इंकार करेगा, चाहे ऐसा करने पर उसको जीवन त्याग करना पड़े।
6. बदला ना लेने के अंतर्गत अपशब्दों का प्रयोग और निंदा का निषेध शामिल है।
7. इस प्रकार सत्याग्रही अपने विरोधी का कभी भी अपमान नहीं करेगा।
8. सच्चाई कभी भी इंग्लैंड के राष्ट्रीय ध्वज यूनियन जैक को सलामी नहीं देगा लेकिन वह उनके अधिकारियों का अपमान नहीं करेगा।
9. अगर संघर्ष के दौरान कोई सत्याग्रह किसी अफसर को परेशान करता है। उसका अपमान करता है या उस पर हमला करता है तो सत्याग्रही उस अफसर का बचाव करेगा।

यह सारे नियम गांधी की शाश्वत विचारधारा पर आधारित नहीं हैं, अपितु उस समय की तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए सत्याग्रह को व्यवहार में सफल बनाने के लिए आवश्यक कदमों में से एक था।

प्रसिद्ध विचारक जे. बंदोपाध्याय के अनुसार सत्याग्रह के विभिन्न कार्यक्रमों को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. उपवास।
2. हिंसा की अवज्ञा।
3. उपवास के अलावा स्व निर्मित यातना।
4. असहयोग।
5. सविनय अवज्ञा।

13.3.4 सत्याग्रह की स्थितियाँ— गांधी जी के सत्याग्रह को क्रियान्वित करने के लिए बहुत सी स्थितियाँ आवश्यकताएँ एवं नियम महत्वपूर्ण हैं यथा—

1. हर किसी अन्याय पुर विषय वस्तु के लिए सत्याग्रह का प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि सत्याग्रह का अर्थ सत्य के प्रति आस्था है।
2. सत्याग्रह अपनी परिभाषा से ही हिंसा के किसी भी प्रकार के उपभोग का निषेध करता है यानी इसमें मन, वचन, कर्म से हिंसा का समावेश नहीं होना चाहिए। सत्याग्रह पूर्ण अहिंसा की मांग रखता है। गांधी मानते हैं कि उनके अनुभव ने उन्हें सिखलाया है कि सत्याग्रह का सबसे कठिन भाग है विनयशीलता और यह विनयशीलता केवल शब्दों और बाह्य आवरण में नहीं होनी चाहिए अपितु आंतरिक रूप से मनुष्य के हृदय में समानी चाहिए जिससे वह सही प्रकार से यह ईच्छा रख सके की उसके विरोधी का भला हो और उसका बुरा ना हो।
3. सत्याग्रही यह पूर्व अनुमान लगाता है कि राज्य के कानूनों का विवेकीकृत और स्वेच्छा से पालन करना चाहिए और ऐसा करने पर ही सत्याग्रही स्वाभाविक रूप से अभय को प्राप्त होगा। इसी प्रकार सत्याग्रह की एक पूर्व

शर्त यह भी है कि अगर सत्याग्रही सहनशीलता को स्वीकार करें तब उसे ऐसे बहुत से कानूनों के प्रति सहनशील होना पड़ता है जो उसके लिए सही प्रतीत नहीं होते लेकिन जो नैतिक रूप से सही हैं।

4. सत्याग्रही कष्ट सहने की इच्छा और सामर्थ्य को पूर्व अनुमानित करता है। जो व्यक्ति पीड़ा सहन करने की सामर्थ्य नहीं रखता उसे सत्याग्रही नहीं बनना चाहिए।
5. सत्याग्रह में अनुशासन बनाए रखना आवश्यक है और इसके लिए व्यक्तियों को रचनात्मक सामाजिक कार्यों में लिप्त रहना चाहिए जिससे वह अनुशासित जीवन जीने की कला को सीख जाए। एक अनुशासित सैनिक ही सत्याग्रह में सफल हो सकता है।
6. सत्याग्रही से सत्याग्रह में उच्च स्तर की विनम्रता अपेक्षित है। सत्याग्रही के कार्य ही सत्याग्रह का प्रचार करें और उसके कार्य जितने सही होंगे उतना ही उसका प्रभाव अधिक होगा।
7. सत्याग्रह को कभी भी व्यक्तिगत हितों को प्राप्त करने के लिए काम में नहीं लिया जा सकता यह केवल दूसरों के अच्छे पन के लिए ही काम में आ सकता है। इस प्रकार गांधी मानते हैं कि चरित्र के बिना सत्याग्रह का कोई अर्थ नहीं है।

राघवन अय्यर के अनुसार सत्याग्रह के साधनों को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

- शुद्धीकरण।
- पश्चातापी।
- असहयोग के तरीके।
- सविनय अवज्ञा के तरीके।

यह सभी तरीके व्यक्ति, समूह या जनता के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र और सामाजिक जीवन में काम में ले जा सकते हैं। पहले वर्ग में शपथ, उपवास एवं प्रार्थना सम्मिलित हैं इसमें सत्याग्रही यह शपथ लेता है कि वह हिंसा का सहारा नहीं लेगा और असत्य का सहारा भी नहीं लेगा और जहाँ-जहाँ उसे अन्याय नजर आएगा उसी को समाप्त करने के लिए वह सत्याग्रह का सहारा लेगा। दूसरे वर्ग में असहयोग के तरीकों में हम हड़ताल, बहिष्कार, मृत्यु तक उपवास और हिंजरत को शामिल कर सकते हैं। इसके अंतर्गत श्रमिक या जनता अपना कार्य करने से मना करेगी और सरकार को यह प्रदर्शित करेगी कि जनता उस से नाखुश है। बहिष्कार सार्वजनिक संस्थाओं के विरुद्ध किया गया एक प्रतीकात्मक विरोध है जो अन्यायी राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध किया जाता है। हिंजरत के द्वारा किसी स्थान से वहाँ के निवासियों का दूसरे स्थान पर स्वेच्छा से चले जाना है। गांधी ने बारदोली में किसानों की समस्याओं को उठाने के लिए 1928 में इसका प्रयोग किया था। सविनय अवज्ञा के अंतर्गत तीसरे वर्ग में धरना, एटैक्स का न प्रदान करना, लंबे जुलूस निकालना और कुछ कानूनों का पालन न करना शामिल है। गांधी ने इन सब निषेधात्मक प्रयोगों के साथ सत्याग्रह के सकारात्मक पक्ष पर भी बल दिया है। गांधी ने रचनात्मक कार्यक्रम को सकारात्मक सत्याग्रह माना है।

13.4 सत्याग्रह की सीमाएं— गाँधी के सत्याग्रह का सिद्धान्त एक बहुत ही मौलिक सिद्धांत है जिसने राजनीतिक चिंतन में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। गाँधी की सत्याग्रह की सीमाओं को इंगित करते हुए भीखू पारेख (2001:73-74) कहते हैं कि

1. गाँधी का यह मानना कि स्वयं के कष्ट भोगने से दूसरों का हृदय पिछलता है, सभी स्थितियों में सही हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरों के कष्ट देखकर हृदय परिवर्तन होना इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरा व्यक्ति उस कष्ट को सही मानता है या नहीं। युद्ध में विजयी सैनिक पराजित सैनिकों के कष्ट से कभी प्रभावित नहीं होते और न ही जिस यहूदियों को दिए जाने वाले कष्ट से नाजी जर्मनी में अधिसंख्यक जर्मन इस बात से प्रभावित नहीं हुए थे कि यहूदियों को कैसा कष्ट दिया जा रहा है।
2. गाँधी का कहना है कि सत्याग्रह कभी भी असफल नहीं होता यह आदर्शात्मक है लेकिन व्यवहार में सही सिद्ध नहीं होता है। एक सीमित संदर्भ में सत्याग्रह बहुत सी अन्य तकनीकों की अपेक्षा राजनीतिक रूप से अधिक सफल है लेकिन वह हर परिस्थिति में सफल हो यह आवश्यक नहीं। जैसा कि प्रसिद्ध यहूदी विचारक मार्टिन बूबर ने गाँधी को लिखा था कि जब तक कोई गवाह नहीं होता, तक तक कोई शहीद, शहीद नहीं होता और बिना शहीद के सत्याग्रह नैतिक ऊर्जा से वंचित हो जाता है।
3. गाँधी ने केवल अहिंसा को ही सभी समस्याओं का समाधान माना है लेकिन व्यवहार में ऐसा नजर आता है कि परिस्थितियों में थोड़ी हिंसा भी आवश्यक रूप से उसका हिस्सा होती है और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अंत में यह कहा जा सकता है कि गांधी के सत्याग्रह की कई सीमाएं होने के पश्चात भी वह एक प्रभावी तरीका है जिसको दुनिया भर में निरंकुश शासकों और असमानता उत्पन्न करने वाली सार्वजनिक नीति के विरुद्ध काम में लाया गया है। अमेरिकन नागरिक अधिकार आंदोलन जो 1950 से 1960 के दशक में मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में चला। वह पूर्णतया गाँधी से प्रेरित था। मार्टिन लूथर किंग ने लिखा है कि मैं जितना गांधी के अहिंसक प्रतिरोधों वाले आंदोलनों के बारे में पढ़ता हूँ उतना ही मैं उससे प्रभावित होता हूँ।

गांधी का यह कहना था कि सत्याग्रह कभी भी असफल नहीं होता यह आदर्शात्मक है लेकिन व्यवहार में सही सिद्ध नहीं होता है। एक सीमित संदर्भ में सत्याग्रह बहुत से अन्य तकनीकों की अपेक्षा राजनीतिक रूप से अधिक सफल है लेकिन वह हर परिस्थिति में सफल हों यह आवश्यक नहीं है। जैसा कि प्रसिद्ध यहूदी विचारक मार्टिन बूबर ने गांधी को लिखा था कि जब तक कोई गवाह नहीं होता तब तक कोई शहीद नहीं होता और बिना शहीद के सत्याग्रह नैतिक ऊर्जा से वंचित हो जाता है। उन्हांधी ने केवल अहिंसा को ही सभी समस्याओं का समाधान माना है लेकिन व्यवहार में ऐसा नजर आता है कि कुछ परिस्थितियों में थोड़ी सी हिंसा भी आवश्यक रूप से उसका हिस्सा होती है और जिसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती।

13.5 सविनय अवज्ञा का अर्थ व स्वरूप— सत्याग्रह स्वयं पीड़ा भोग कर अपने प्रतिद्वंदी विरोधी को जीतने की कला है। गांधी ने निष्क्रिय प्रतिरोध व सत्याग्रह में अंतर कर स्पष्ट किया कि सत्याग्रही को दुर्बल ना समझा जाए। 1920 गांधी ने सत्याग्रह के सिद्धांत की विवेचना करते हुए लिखा कि सत्याग्रह एक बरगद के वृक्ष की तरह है जिसकी बहुत से शाखाएं हैं। सत्य अहिंसा मिलकर इसके तने का निर्माण करता है तथा सविनय अवज्ञा इसकी शाखा है। गांधी मानते थे कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम को उसका हिस्सा बनाना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना वह सफल नहीं हो पायेगा। राजनीतिक आंदोलनों के इतिहास में यह पहला प्रयोग था जिसमें आंदोलन के साथ-साथ आंदोलनकर्ताओं को रचनात्मक कार्यक्रम में निरंतर लगे रहने का संदेश दिया गया। गांधी यह मानते थे कि रचनात्मक कार्य व्यक्ति को अनुशासित करते हैं उन्हें अपने जीवन यापन को स्वतंत्र रूप से करने के लिए प्रशिक्षित करते हैं तथा उससे आंदोलनकर्ता में आत्मबल बढ़ता है।

13.5.1 सविनय अवज्ञा व आपराधिक अवज्ञा में अन्तर— गांधी ने सविनय अवज्ञा और अपराधिक अवज्ञा के मध्य अंतर किया है।

1. सविनय अवज्ञा करने के पश्चात् अराजकता नहीं फैलती जबकि आपराधिक अवज्ञा के पश्चात् हमेशा अराजकता फैलती है।
2. प्रत्येक राज्य आपराधिक अवज्ञा को बल के द्वारा समाप्त कर सकता है लेकिन सविनय अवज्ञा को बल प्रयोग द्वारा समाप्त करना अंतःकरण को कैद करने जैसा है।
3. सविनय अवज्ञा करने वाला सैनिक हथियारों का प्रयोग नहीं करता इसलिए वह राज्य के लिए हानिकारक नहीं है। वह सिर्फ जनमत को सही प्रकार से राज्य तक पहुंचाने का कार्य कर रहा है जबकि आपराधिक अवज्ञा हिंसा पर आधारित होने के कारण राज्य के लिए हानिकारक होती है।

अतः इस प्रकार सविनय अवज्ञा का एक महत्वपूर्ण अंग यह है कि केवल उन कानूनों का विरोध किया जाए जो मनुष्य के नैतिक स्थापनाओं के विरुद्ध है लेकिन उन सभी कानूनों का कर्तव्य निष्ठा से पालन करना चाहिए जो नैतिकता के मापदंड पर खरे उतरते हैं।

13.5.2 सविनय अवज्ञा व असहयोग आन्दोलन में अन्तर— गांधी मानते हैं कि सविनय अवज्ञा का अधिकार प्रत्येक नागरिक का मौलिक अधिकार है और यह अधिकार वह अपने कर्तव्यों से प्राप्त करता है। इसलिए सविनय अवज्ञा उस समय एक धार्मिक कर्तव्य बन जाती जब राज्य कानून विहीन हो जाए यानि भ्रष्ट हो जाए। गांधी ने 1921 में सविनय अवज्ञा और असहयोग में अंतर किया। वे मानते थे कि सविनय अवज्ञा एक संकुचित अवधारणा है जिसके राजनीतिक अर्थ महत्वपूर्ण हैं। असहयोग एक वृहद संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन का बहुत बड़ा उपकरण है। सविनय अवज्ञा एक सार्वभौमिक मानवीय अधिकार है जो केवल कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही प्रयोग में लाया जा सकता है क्योंकि यह तप अथवा पीड़ा भोग को स्वीकार करने या उनका अभ्यास करने पर ही संभव है जबकि असहयोग सामाजिक परिवर्तन का एक सामान्य तरीका है जिसमें बहुत ज्यादा आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता नहीं होती अतः इस प्रकार जहां असहयोग में गांधी अहिंसा पर अत्यधिक बल देते हैं वहीं सविनय अवज्ञा में वह तप को अधिक महत्व देते हैं हालांकि एक अर्थ में दोनों समान हैं। इस प्रकार गाँधी के सविनय अवज्ञा संबंधी तर्क को दो भागों में बांटा जा सकता है—

1. वह इसे एक सार्वभौमिक प्राकृतिक अधिकार मानता है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने अंतःकरण की आवाज पर प्रयोग में लेना चाहिए
2. यह प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य मानता है कि वह राज्य के उन कानूनों का विरोध करने के योग्य तब बनेगा, जब वह राज्य के अन्य कानूनों का पालन सच्चे मन से कर्तव्यनिष्ठाता से कर रहा हो और राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने की सजा भोगने का तैयार हो।

इस प्रकार का सविनय अवज्ञा साधारणतया व्यक्ति विशेष पर लागू हो सकता है। गाँधी ने उसे समूह पर आधारित बनाने की भी कोशिश की।

13.6 निष्कर्ष— अतः उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सत्याग्रह एक मनोवैज्ञानिक उपकरण जिसकी व्यवहार में परिनिती सविनय अवज्ञा आन्दोलने के रूप में देखी जा सकती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. सत्याग्रह की अवधारणा को समझाइयें?
2. सत्याग्रह के अर्थ व स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सत्याग्रही के लिए आवश्यक आचार संहिता बताइये?
3. सविनय अवज्ञा पर एक लेख लिखिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सत्याग्रह के साधन बताइये?
2. सविनय अवज्ञा व असहयोग में अन्तर बताइये?
3. सत्याग्रह व निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर बताइये?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सत्याग्रह क्या है?
2. हिंजरत से क्या तात्पर्य है?
3. निष्क्रिय प्रतिरोध क्या है?

इकाई—14

राजनीतिक हिंसा

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 राजनीतिक हिंसा अर्थ व प्रकृति

14.3.1 राजनीतिक हिंसा के कारण

14.3.2 राजनीतिक हिंसा के रूप

14.3.2.1 हिंसक विरोध प्रदर्शन

14.3.2.2 आतंकवाद

14.3.2.3 सैन्य विद्रोह

14.3.2.4 विद्रोह एवं राजद्रोह

14.3.2.5 युद्ध

14.4 राजनीतिक हिंसा के समाधान

14.4.1 उदारवादी उपचारात्मक प्रयास

14.4.2 उग्र बलप्रयोगमूलक प्रयास

14.4.3 द्वैध नीति या दोहरी नीति

14.5 निष्कर्ष

14.1 उद्देश्य— उद्देश्य प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं के समक्ष उपस्थित हिंसात्मक कार्यवाही के लिए उत्तरदाई कारकों को समझना एवं उसका निदान प्रस्तुत करना है। इसका अध्ययन करने के पश्चात यह जाना जा सकेगा कि—

- राजनीतिक हिंसा के लिए उत्तरदाई कारक क्या हैं?
- राजनीतिक हिंसा किन किन रूपों में प्रकट होती है?
- इसे समाधान हेतु क्या प्रयास किए जाने चाहिए?

14.2 प्रस्तावना—हिंसा आधुनिक सभ्यता व संस्कृति की देन है। जब हिंसा का प्रयोग किसी राजनीतिक व्यवस्था को दबाव में डालने या उसमें आमूलचूल परिवर्तन लाने के लिए किया जाता है तो उसे राजनीतिक हिंसा कहा जाता है। सामान्यतः हिंसा का प्रतीक रूप किसी भी प्रकार की विषमता के विरुद्ध उत्पन्न होता है। सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक विषमता सभी प्रकार की हिंसा को जननी है और यही असंतोष हिंसा के अलग-अलग रूपों यथा आतंकवाद सैन्य विद्रोह दंगों तथा हड़ताल रूप में प्रदर्शित होता है।

14.3 राजनीतिक हिंसा अर्थ व प्रकृति— अरस्तु कहते हैं कि कोई भी इंसान क्रांति नहीं करना चाहता क्योंकि वह अपनी मौत को नहीं बुलाना चाहता किंतु कई बार क्रांति वंचित कथा अनिवार्य हो जाती है। इसलिए कई बार राजनीतिक आत्मा रा सम्मान का स्वाद भी हो जाता है और राजनीतिक हिंसा का समर्थन भी किया जाता है। एक देश में आतंकवादी का दर्जा प्राप्त व्यक्ति किसी दूसरे देश का स्वतंत्रता सेनानी माना जाता है।

साधारण शब्दों में राजनीतिक हिंसा सरकार की किसी नीति या किसी सरकार विशेष को सत्ता से हटाने के लिए किया गया आक्रमण या हिंसात्मक प्रयास होता है। राजनीतिक हिंसा का आरंभ प्रदर्शना से होता और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु यह सामूहिक हिंसा या दंगों का रूप ले लेता है।

हिंसा के इस प्रकार के रोग का प्रयोग जनसाधारण द्वारा समाज या सरकार के विरुद्ध अपने असंतोष को प्रदर्शित करने हेतु किया जाता है। अरस्तु ने सर्वप्रथम अपने ग्रंथ “The Politics” में राजनीतिक हिंसा का व्यवस्थित वर्णन किया है। अरस्तु ने अपने दर्शन में अव्यवस्था विषमता को इस प्रकार की हिंसा के लिए सर्वाधिक प्रमुख उत्तरदाई कारण माना।

भारतीय राजनीतिक विचारक चाणक्य ने भी राजनीतिक हिंसा के कारणों व उपाय का विशद उल्लेख किया है। इस का मानना है कि शक्ति संतुलन में परिवर्तन ही राजनीतिक हिंसा को प्रोत्साहित करता है। वह राजा के अभद्र व्यवहार व आचरण को भी इसके लिए उत्तरदायी मानता है।

आधुनिक युग में राजनीतिक हिंसा की समस्या भयावह होती जा रही है। वस्तुतः राजनीतिक हिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना की स्वयं राज्य का। 1648 की **वेस्टफेलिया की संधि** के बाद राज्य बेहद शक्तिशाली संस्था के रूप में उभरा। जिस पर किसी अन्य संस्था का किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। सामान्यतः राजनीतिक हिंसा राज्य की ओर अभिलक्षित होती है क्योंकि राज्य को ही अन्याय तथा दमन का मुख्य स्रोत समझा जाता है। सरकार की गलत नीतियों के विरुद्ध समाज के निश्चित वर्गों के विरोध को दर्ज करने हेतु हिंसा एक इच्छाकृत राजनीतिक कार्यवाही है। राजनीतिक हिंसा लोगों के समूह की अपने असंतोष को उजागर करने के लिए सरकार के विरुद्ध एक सामूहिक हिंसात्मक कार्यवाही है। यह सरकार की किसी नीति विशेष के खिलाफ विरोध प्रदर्शन स्वरूप हो सकती है, यह किसी सरकार विशेष को सत्ता से हटाने के लिए हो सकती है अथवा इसका सहारा किसी को विशेष राजनीतिक व्यवस्था को बदल डालने के लिए लिया जाता है। सामान्यतः राजनीतिक हिंसा राज्य उसकी संपत्ति तथा उन व्यक्तियों के विरुद्ध है जो किसी संस्थाओं को चलाने के लिए उत्तरदायी होते हैं।

अतः राजनीतिक हिंसा राज्य व उनकी विभिन्न संस्थाओं के खिलाफ एक प्रकार का शक्ति प्रदर्शन है। हिंसा राज्य संस्था में अंतर्निर्मित है क्योंकि राज्य शक्ति का प्रयोग अपने दमनकारी अभी कारणों के माध्यम से करता है जैसे कि सेना पुलिस जेल अदालत या न्यायालय। जब राज्य द्वारा शक्ति का प्रयोग इन महिमा से किया जाता है तो वह अपने आदेश को लागू करने के लिए विधिवत स्वीकृति हिंसा का प्रयोग करने का हकदार होता है। किंतु जब राज्य इन संस्थाओं का प्रयोग नागरिक उत्पादन के लिए करने लगे तो वह स्थिति राजनीतिक हिंसा को जन्म देती है

14.3.1 राजनीतिक हिंसा के कारण- राजनीतिक हिंसा को जन्म देने वाले अनेक कारण होते हैं जैसे कि चाणक्य ने कहा था कि व्यक्ति को अपने ही लोगों की प्रकृति में परिवर्तन बगावत है। इसी प्रकार अरस्तु ने कहा कि किसी राज्य विशेष में सामाजिक शक्ति संतुलन में परिवर्तन ही राजनीतिक अव्यवस्था हेतु उत्तरदायी होता है। अतः विभिन्न विचारकों ने राजनीतिक हिंसा के लिए निम्न कारकों को उत्तरदायी बताया यथा—

- सामान्य कारण
- राष्ट्रीय आत्म निर्धारण को अवधारणा
- विचारधारा
- धार्मिक— नस्लीय विरोध
- आर्थिक विषमता व वंचना
- अभिजन गैर अभिजन में विरोध
- शत्रु देशों का हस्तक्षेप
- **राजनीतिक हिंसा के सामान्य कारण-** कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कहा है कि सरकार की गलत नीतियां और शासकों का अशिष्ट व्यवहार ही प्रजा की बगावत को जन्म देता है। सरकार की गलत व दमनकारी नीतियां जनता के दिमाग में नाराजगी पैदा कर देती है और लोग उन गलत नीतियों को बदल डालने के लिए हिंसक हो उठते हैं। अत्यधिक कराधान, अनिवार्य ज़िंसा, की मूल्य वृद्धि, शक्ति प्रयोग में कानून व नैतिकता की अवहेलना, समाज के कुछ निश्चित वर्गों के साथ अन्याय संगत सलूक, राजनीतिक अक्षमता व अराजकता तथा शांतिपूर्ण आंदोलन को दबाने के लिए अत्यधिक व अकुशल बल प्रयोग आदि हिंसा के आम कारण हैं। कौटिल्य ने दृढ़ता पूर्वक कहा कि दरिद्रता लोग और असंतोष की विद्रोह के कारण है।
- **राष्ट्रीय आत्म निर्णय की अवधारणा-** राष्ट्रीय आत्म निर्णय की प्रक्रिया दो तरफा थी एक तरफ तो तीसरी दुनिया के लोग स्वर को विदेशी शासन से मुक्त कराना चाहते थे अतएव उन्होंने विदेशी शासन के खिलाफ हिंसक संघर्ष छेड़ दिया हमारे पास वियतनाम, अल्जीरिया व इंडोनेशिया जैसे अफ्रीकी एशिया देशों में एक प्रकार के संघर्षों के अनेक उदाहरण हैं।

वहीं दूसरी तरफ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तीसरी दुनिया के बहुत से देश स्वतंत्र हो गए इन देशों के सामने राष्ट्रीय निर्णय की समस्या थी क्योंकि राजनीतिक एकीकरण प्रक्रिया कमजोर थी। परंतु जनता के दिमाग में राजनीतिक चेतना बढ़ रही थी। इन राज्यों में कुछ प्रांतों ने जिसकी एक विशेष सांस्कृतिक अथवा धार्मिक पहचान थी। अपने अपने अधिकार क्षेत्र हेतु आत्म निर्णय के अधिकार की मांग की राष्ट्रीय स्वयं आंदोलन के समर्थकों ने इससे राष्ट्रीय स्वतंत्रता हेतु एक आंदोलन कहा

जबकि इस आंदोलनों के विरोधियों ने इन्हें उत्तराधिकार वादी आंदोलन कहा अधिकांश तीसरी दुनिया के देश इस समस्या से जूझ रहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन कनाडा जैसे विकसित देशों ने भी क्रमशः उत्तरी आयरलैंड व क्यूबैंक में उत्तराधिकार की समस्या का सामना किया। आयरिश रिपब्लिकन आर्मी तथा श्रीलंका के लीट्टे विश्व में सर्वाधिक दुर्दान्त पृथक्तावादी गिरोह हैं। इन आंदोलनों की पहचान है दोनों ही ओर से अत्यधिक हिंसा का प्रयोग है।

- **विचारधारा—** विचारधारा लोगों को संगठित करती है और राज्य के खिलाफ संघर्ष छेड़ने हेतु उन्हें एक निश्चित कारण प्रदान करती है। विचारधारा ही समाज की वर्तमान परिस्थितियों को स्पष्ट करती है और एक बेहतर शासन व्यवस्था लाने के लिए उसे बदल डालने हेतु लोगों का आह्वान करती है। दो विश्व युद्धों के बीच यूरोप में साम्यवाद (फैंसिस्ट) विरोधी आंदोलन लोकप्रिय हो गया। इटली में फासीवाद और जर्मनी में नाजीवाद ने राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए हिंसा का उग्र रूप अपनाया। क्रांतिकारी समाजवाद के विचारधारा पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन का पक्षग्रहण करती है जो कि राज्य हिंसा पर आधारित है। समाजवादियों का तर्क है कि वे राज्य हिंसा का सम्मान करने के लिए ही हिंसा का सहारा लेते हैं। ऐसे अनेक देश हैं जो आज भी हिंसक समाजवादी क्रांतियों के प्रत्यक्ष दर्शक हैं भारत में क्रांतिकारी राजनीतिक गतिविधियों में नक्सलवादी लिप्त हैं
- **धार्मिक व जातीय संघर्ष—** विश्व के अधिकांश देशों में विभिन्न धार्मिक आस्थाओं से जुड़े और विभिन्न नृजातीय समूह से संबंध रखने वाले लोग निवास करते हैं। इसी कारण अधिकतर देशों में धार्मिक व नृजातीय अल्पसंख्यक दल होते हैं। आधुनिक राज्य उन्हें किसी एक केंद्रीय राजनीतिक प्राधिकार के अधीन लाने का प्रयास कर रहा है धार्मिक व नृजातीय अल्पसंख्यक दल इस प्रयास का विरोध करते हैं क्योंकि उन्हें डर है कि इस राजनीतिक एकीकरण की वजह से उसकी अलग पहचान लुप्त हो जाएगी जिस क्षण इस नीति को सुलझाने हेतु जोड़ दिया जाता है यह समुदाय विरोध और हिंसा का सहारा लेते हैं।

17वीं व 18वीं शताब्दी के दौरान अनेक पश्चिम यूरोपियन देशों ने धार्मिक संघर्षों को प्रत्यक्ष देखा। अन्तर्जातीय संघर्ष दो धार्मिक समूहों के बीच ईसाइयों और मुसलमानों के बीच, यहूदियों और मुसलमानों के बीच, अथवा हिंदू व मुस्लिम के बीच हुआ करते हैं। वे रूढ़िवादी समूह हैं जो अपने धर्म को शुद्ध करना चाहते हैं हिंसा का उग्र रूप अख्तियार कर लेते हैं। वह लोग जो धर्म के इस अतिशय नियम निष्ठ दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते धर्म के शत्रुओं के रूप में देखे जाते हैं और एक संघात एक युद्ध स्थित बन जाती है। अल्जीरिया, मिश्र, अफगानिस्तान व अनेक मुस्लिम देश एक समस्या का सामना कर रहे हैं। इसी प्रकार से सांस्कृतिक व नृजातीय अल्पसंख्यक दल अपनी अलग पहचान को बचा कर रखते हैं अतएव वे अपने अधिकारों को सुनिश्चित व सुरक्षित करना चाहते हैं। यह अल्पसंख्यक दल, प्रजाति, भाषा व संस्कृति के आधार पर बनाए जाते हैं। यदि उन्हें खतरा लगता है तो वे हिंसा अपनाते हैं। कनाडा व क्यूबैंक प्रांत, भारत में नागालैंड, ग्रेट ब्रिटेन में उत्तरी आयरलैंड, रूस में चेचेन्स, चीन में तिब्बत और इराक व ईरान में कुर्द इसके उदाहरण हैं। श्रीलंका जैसे कुछ उदाहरणों में अल्पसंख्यकों के संघर्ष में पृथक्तावादी हिंसा का रूप ले लिया जो विद्रोह में फूटा।

- **विभिन्न उच्च वर्गों के बीच राजनीतिक द्वंद—** हर राज्य में साक्षी अभिजात वर्ग में कुछ समूह और गुट होते हैं और यह समूह गुट सत्ता राजनीतिक में लगे रहते हैं। यह समूह गुट गली प्रदर्शन संप्रदायिक दंगे व तोड़फोड़ करवाकर लोगों का समर्थन जुटाने के लिए हिंसात्मक तरीकों का इस्तेमाल करते हैं। असंतुष्ट समूह सासी समूह के विरुद्ध हिंसा भड़का सकता है अथवा राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए सेना में किसी स्वार्थी गुटका मदद ले सकता है। कभी-कभी यह असंतुष्ट नेता पृथक्तावादी आंदोलनों का भी समर्थन कर सकते हैं 1972 के बाद अफगान इतिहास, पाकिस्तान और बांग्लादेश में फौजी तख्ता पलट इसी प्रकार की राजनीति के उदाहरण हैं।
- **आर्थिक स्थिति और सापेक्ष वंचना—** आर्थिक स्थितियां विभिन्न प्रकार की राजनीतिक हिंसा को जन्म देती हैं। यह सरकार की गलत नीतियां ही हैं जो समाज के कुछ वर्गों की हिमायत करती हैं और लोगों के एक बड़े वर्ग को गरीबी की रेखा के नीचे धकेल देती हैं। सरकार की गलत नीतियों की वजह से ही बढ़ती मुद्रास्फीति, लोगों का गिरता जीवन स्तर, मूल्य वृद्धि बेरोजगारी तथा बाजार में अनिवार्य ज़िंसों की अनुपलब्धता होती है। यह कारक ही लोगों को सरकार के विरुद्ध सड़कों पर उतरने और हिंसक प्रदर्शनों में भाग लेने को मजबूर करते हैं। कामगार, किसान, छात्र व समाज के अन्य वर्ग सरकार की नीतियों के खिलाफ विरोध करने हेतु प्रदर्शनों में भाग लेते हैं। इसी प्रकार से जब लोगों का कोई वर्ग यह मानने लगता है कि उसे उन मूल्यवान लाभों से जानबूझकर वंचित किया जा रहा है जिनका वह हकदार है वह आंदोलन का सहारा लेता है। वंचना स्रोत उन सामाजिक प्रक्रियाओं में निहित होते हैं जो इन दो बातों में फरक पैदा करते हैं— लोग किसके हकदार हैं, और क्या उन्हें मिलता है। आधुनिक युग में शिक्षा की वजह से लोगों के दिमाग में वंचना का एहसास जाग्रत हो गया है। साक्षेप वंचना का एहसास इस प्रकार राजनीतिक हिंसा को जन्म देता है।
- **शत्रु देशों द्वारा समर्थन—** राजनीतिक हिंसा विशेषकर किसी एक राज्य में पोषित राजनीतिक हिंसा हमेशा उन निकटवर्ती देशों से समर्थन पाती है जो विद्वेष रखते हैं। बाहरी देश शस्त्र धन प्रशिक्षण वह आश्चर्य के रूप में समर्थन देता है। उदाहरण के लिए जम्मू-कश्मीर में राजनीतिक हिंसा को पाकिस्तान द्वारा समर्थन दिया जाता है।

14.3.2 राजनीतिक हिंसा के रूप— राजनीतिक हिंसा के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं जो किसी हिंसक प्रदर्शन का रूप ले सकता है अथवा यह कोई युगांतरकारी क्रांति हो सकती है जैसे—

- हिंसक विरोध प्रदर्शन
- आतंकवाद
- सैन्य विद्रोह एवं तख्तापलट
- विद्रोह एवं राजद्रोह
- युद्ध

14.3.2.1 हिंसक विरोध प्रदर्शन— एक असंगठित उत्तेजित भीड़ व्यापक नुकसान पहुंचा सकती है। सामान्यतः लोग हिंसा का सहारा तब लेते हैं जब उनको उपलब्ध सभी संवैधानिक उपाय विफल हो जाते हैं। लोगों के हिंसक विरोध प्रदर्शन विभिन्न रूप ले लेते हैं। वे सरकार के सामान्य कामकाज को भंग करने का प्रयास करते हैं वे समूह सुसंगठित होते हैं। सरकार के विरुद्ध लोगों को संगठित करते हैं और एक विरोध के विभिन्न तरीके अपनाते हैं। वे कार्य स्तवन बंद हड़ताल आदि की घोषणा करते हैं। उत्तेजित वीडियो के हिंसक विरोध प्रदर्शनों का प्रभाव स्वभावतः अस्थायी होता है क्योंकि सरकार उसे नियंत्रण करने के लिए दमनकारी कदम उठाती है।

14.3.2.2 आतंकवाद— वर्तमान में आतंकवाद राजनीतिक हिंसा का एक महत्वपूर्ण रूप बन गया है क्योंकि एक बड़ी संख्या में युवा जन सरकार में परिवर्तन लाने के लिए आतंकवादी गुटों में शामिल हो जाते हैं। आतंकवादी राज्य प्राधिकरणों को सबक सिखाने के लिए सभी प्रकार के तरीके अपनाते हैं। यह आतंकवाद तोड़फोड़, हत्या, अचानक बंदूक चला कर बड़ी संख्या में नरसंहार, किसी विमान अथवा बस का अपहरण, फिरोती के लिए लोगों को पकड़ लेने, व्यक्ति अपहरण, राजनीतिक हत्याओं, लूट खरसोट, पूजा स्थलों दुकानों में आग लगा देने, जातीय व संप्रदायिक दंगों को भड़काने आदि गतिविधियों में लग जाते हैं। जैसे— अलकायदा, आई एस आई, फलिस्तीनी गुरिल्ला संगठन, आयरिश रिपब्लिकन आर्मी, लिबरेशन टाईगर्स फॉर तमिल इलम, इत्यादि। आतंकवादी अपराध का सहारा लेते हैं परंतु वह साधारण अपराधी नहीं होते क्योंकि वह वैचारिक रूप से प्रेरित होते हैं और एक बेहतर समाज स्थापित करने का सपना देखते हैं। आतंकवादी गतिविधियां उनकी विचारधारा द्वारा वेद सिद्ध होती है। आतंकवाद के वैचारिक अभिविन्यास के हम तीन दिन चरण देखते हैं— **प्रथम चरण** में उनका लक्ष्य था राष्ट्रीय स्वतंत्रता। **दूसरे चरण** में अधिकांश आतंकवादियों ने अपनी अनु शक्ति विप्लववादी समाजवाद के प्रति रखी और वर्तमान में उनका बिग विन्यास धार्मिक रूढ़िवाद नृजातीय अलगाववाद है। **तीसरे चरण** हर आतंकवादी आंदोलन का अपना बुद्धि जीवी वर्ग होता है जो हिंसा प्रयोग की वैज्ञानिक व्यवस्था करता है।

14.3.2.3 सैन्य विद्रोह— वर्तमान में देश की सेना अथवा सशस्त्र बल तीसरी दुनिया की राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। राजनीतिक हिंसा में सैन्य प्रवेशन दो रूपों में प्रकट होता है।

- सैन्य विद्रोह।
- फौजी तख्तापलट अथवा कू. डे. टा. अर्थात् शासन में हिंसात्मक परिवर्तन।

कुछ आर्थिक या राजनीतिक कारणों से यह सैनिक हथियार उठा लेते हैं और हिंसक गतिविधियों में लिप्त हो जाते हैं उदाहरण के लिए 1857 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी सेना के भारतीय सिपाहियों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह किया।

राजनीतिक हिंसा का दूसरा रूप है कू. डे. टा. का सफल प्रबंध कर सैन्य सत्ता परिवर्तन। सैन्य सत्ता परिवर्तन या तख्तापलट का अर्थ है राज्य के मुख्य प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण स्थापित करके राजनीतिक सत्ता हथियाने हेतु सेना अधिकारियों के किसी समूह द्वारा तीर्थ सशस्त्र विद्रोह। यह एक सुनियोजित कार्यवाही होती है जिसमें जनसाधारण को अनदेखा कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए 1975 में बांग्लादेश में राष्ट्रपति शेख मुजिबुर्रहमान व उनके पूरे परिवार को पूरी तरह समाप्त कर दिया गया 1965-66 में इंडोनेशिया में सैन्य राज्य विप्लव बहुत ज्यादा हिंसा पूर्ण था सैन्य सत्ता परिवर्तन में जनसाधारण शामिल नहीं होता और अनेक अफ्रीकी एशियाई व लैटिन अमेरिकी देशों में सेना लोकतांत्रिक सरकार को हटा देती है और सत्ता हड़प लेती है।

14.3.2.4 विद्रोह एवं राजद्रोह— विद्रोह व राजद्रोह आम संतुष्टि की वजह से होती है। विद्रोह समाज के कुछ निश्चित वर्गों को क्रोध को प्रकट करते हैं और सरकार की नीतियों को बदल डालने अथवा सरकार को परिवर्तन पर अभी लक्षित होते हैं विद्रोह देश के विभिन्न भागों में हो सकते हैं और विद्रोहियों की मांगे नितांत जातीय हो सकती है। राजद्रोह विद्रोह की दूसरी अवस्था इस अर्थ में है कि इस चरण में राजद्रोही वैचारिक रूप से प्रतिबंध होते हैं और वे भाभी समाज का

सपना विकसित कर चुके होते हैं राजद्रोही सामान्यता छापामार युद्ध कार्यप्रणाली अपनाते हैं क्योंकि उसके पास राज्य बलों से लड़ने हेतु समृद्ध शक्ति का अभाव होता है। वे बाहरी हुकूमत समाप्त कर भूमिहीनों को भूमि, नृजातीय अल्पसंख्यक वर्गों के लिए क्षेत्रीय स्वातंत्र्य व राजनीतिक समानता का विश्वास दिलाते हैं। क्रांतिकारी छापामार युद्ध कार्य चीन वियतनाम क्यूबा जैसे देशों में सफल रहे।

14.3.2.5 युद्ध— राजनीतिक हिंसा का पराकाष्ठा है इस अर्थ में की युद्ध दो प्रतिस्पर्धी ब्लॉक को परस्पर आमने सामने ला खड़ा करता है। बाह्य युद्ध व्यापक शक्ति और विनाश उत्पन्न करता है क्योंकि दोनों ही पक्ष बारी सेनाओं व्यापक विनाश के आधुनिक हथियारों तथा वायु सैन्य बल का प्रयोग करते हैं। आंतरिक युद्ध केंद्र सरकार बलों व अलगाववादी ताकतों के बीच लड़ा जाता है यह जनता की कुछ वर्ग विशेष ओ द्वारा विद्रोह अथवा लोगों के व्यापक जन समूह है द्वारा राजद्रोह हो सकता है आंतरिक युद्ध समान रूप से विद्वान शिकारी है और यह व्यापक विनाश और जनसंघ आर को जन्म दे सकता है।

14.4 राजनीतिक हिंसा के समाधान— हिंसा से निजात पाने के लिए राज्यों द्वारा सामान्यतः तीन प्रकार की विधियाँ अपनाई जाती हैं यथा—

14.4.1 उदारवादी उपचारात्मक प्रयास— सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था में आवश्यक सुधार को अपनाकर राजनीतिक हिंसा पर काबुल पाया जा सकता है। यह आवश्यक है कि सरकार लोगों को असंतोष व क्रोध को कम करने हेतु उपचारी कदम उठाएँ सामाजिक व आर्थिक शिकायतों को इन दोनों क्षेत्रों में बुनियादी सुधारों का सूत्रपात करने के दूर किया जा सकता है, इनमें शामिल हैं— लोगों को अवसर की समानता प्रदान करना, कर भार को कम करना, धन संपत्ति का सम्यक वितरण तथा राज्य व समाज द्वारा थोपी गई सभी निरयोग्यताओं का निराकरण। अतः इस प्रकार उप सरचन आत्मक प्रयासों से तात्पर्य है—

- क्रमिक विकास।
- संवैधानिक कार्यप्रणाली।
- प्रति हिंसा का अल्प होना।

14.4.2 उग्र बलप्रयोगमूलक प्रयास— राजद्रोहीयों की हिंसा का मुकाबला बड़ी राज्य हिंसा से ही किया जा सकता है क्योंकि यदि आप राजद्रोही को नहीं मार सकते वह आप को मार डालेंगे। राज्य को दंड भेद नीति को अपनाना चाहिए और राजपुरोहित को तटस्थ अस्त व्यस्त कर देना चाहिए। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सुझाया कि राजा को विद्रोह के नेताओं के खिलाफ कार्यवाही शुरू करनी चाहिए क्योंकि यह नेता ही विद्रोह के नेतृत्व प्रदान किया करते हैं। किसी भी सूरत में उनको जन समुदाय के खिलाफ बल प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि यह व्यापक रक्तपात में परिणत हो सकता है। यद्यपि उसने विद्रोह के बल प्रयोग का सुझाव दिया उसने बड़ी तत्परता से जोर देकर कहा कि विद्रोह के कारण पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिए।

14.4.3 द्वैधनीति या दोहरी नीति— द्वैधनीति एक दोहरी नीति है जो जिसमें सरकार मध्यमा गिरियो हेतु पुरस्कारों व रियायतों का प्रस्ताव रख सकती है परंतु साथ ही वह उग्रवादियों के खिलाफ अपनी सैन्य कार्यवाहियों जारी रख सकती है यदि यह मध्य मरगी सरकार के साथ कोई सौदा करने के लिए समर्थन जुटाने में समर्थ होते हैं तो उग्रवादी समर्थन को देते हैं और उस प्रक्रिया में वह निष्प्रभावी हो जाते हैं।

हिंसा पर विजय पाने के लिए राज्य विभिन्न तरीके अपना सकता है परंतु उसे सर्वप्रथम विरोध के कारणों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए कौटिल्य ने कहा कि महज राजद्रोहीयों को मार कर ही राजद्रोह को नहीं रोका जा सकता उस कारण को दूर करना जरूरी है जो नए राजद्रोहीयों का जन्म दे सकता है।

14.5 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार राजनीतिक हिंसा प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक स्थिरता के विरुद्ध हानिकारक होती है। अतः आवश्यक है कि इसके कार्य को का पता लगाकर इन्हें यथाशीघ्र दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक हिंसा की प्रकृति व कार्य क्षेत्र की विवेचना कीजिए?
2. राजनीतिक हिंसा के कारकों की सविस्तार व्याख्या कीजिए?
3. राजनीतिक हिंसा उपचार हेतु समाधान बताइए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

4. राजनीतिक हिंसा के क्या तात्पर्य हैं?
5. राजनीतिक हिंसा के लिए उत्तरदाई किन्हीं पांच कारकों की व्याख्या कीजिए?
6. आतंकवाद को संक्षिप्त में समझाइए?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक हिंसा क्या है?
2. सैन्य विद्रोह किसे कहते हैं?
3. राजनीतिक हिंसा के उपचार की द्वंद्व नीति क्या है?

परंपरागत उदारवाद

15.1 उद्देश्य

15.2 प्रस्तावना

15.3 परंपरागत उदारवाद अर्थ व परिभाषा

15.4 परंपरागत उदारवादी की मान्यताएं

15.5 परंपरागत उदारवादी विचारक

15.6 आलोचना

15.7 निष्कर्ष

15.1 उद्देश्य— इस इकाई में चिर सम्मउदारवाद या शास्त्रीय उदारवाद का अर्थ उसकी मान्यताओं व उसके उन्नायकों का विशद वर्णन किया गया है इसका अध्ययन करने के पश्चात अध्ययनकर्ता यह जान पाएंगे कि—

- उदारवाद का आरंभिक विकास किस प्रकार से हुआ।
- उदारवाद के इस रूप में किस प्रकार राज्य की शक्तियों को व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सीमित व नियंत्रित किया गया।
- विभिन्न विचारकों ने उदारवाद के विकास में किस प्रकार अपना सैद्धांतिक योगदान दिया

15.2 प्रस्तावना — परंपरागत उदारवाद वह विचारधारा है जो व्यक्ति को साध्य वह राज्य को साधन मानती है। परंपरागत उदारवाद का आधार जहां व्यक्तिवाद बना वहीं पूंजीवादी शासन व्यवस्था के रूप में इसकी व्यवहारिक क्रियान्विती हुई। प्राचीनयुगीन राजतंत्र मध्ययुगीन सामंतवाद तथा आधुनिक राष्ट्रीय राज्य में निहित राज्य को सर्वोत्तम शक्ति को सीमित करने के लिए इस विचारधारा का विकास हुआ। यह विचारधारा राज्य की शक्ति की तुलना में व्यक्ति वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्व प्रदान करती है। इस विचारधारा ने संपूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का केंद्र बिंदु व्यक्तित्व को माना। उदारवाद के इस रूप में व्यक्ति के आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप न करने तथा व्यापार व वाणिज्य को राज्य के नियंत्रण से मुक्त रखने पर विशेष बल दिया गया इसलिए इससे नकारात्मक उदारवाद भी कहा जाता है।

15.3 परंपरागत उदारवाद अर्थ व परिभाषा— उदारवाद मुख्यतः यूरोप की दो महान क्रांतियों सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा धर्म सुधारवाद की उपज है। एक नवोदित व्यापारी वर्ग की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करने वाली यह एक विचारधारा थी। जिसने बाद में पूंजीवाद का रूप धारण कर लिया। इस विचारधारा की शुरुआत 16वीं 17वीं शताब्दी में देखी गयी जब सामन्तवादी व्यवस्था का निरन्तर ह्रास हो रहा था। और राष्ट्र राज्यों के उदय के रूप में एक नई राजनीतिक व्यवस्था जन्म ले रही थी। इसी समय उदारवाद का जन्म परम्परागत विशेषाधिकारों के विरोध के रूप में हुआ। सामंतवाद के पतन के बाद राजनीतिक को बाजार व्यवस्था के अनुरूप मोड़ देने के लिए नवोदित पूंजीपति वर्ग द्वारा इस विचारधारा का विकास किया गया।

उदारवाद ने व्यक्ति को अपना केन्द्र बनाया इसलिए इसका मुख्य लक्ष्य था—स्वतंत्रता की प्राप्ति अर्थात् व्यक्ति को अपनी बुद्धि एवं विवेक के अनुसार अपना विकास करने की स्वतंत्रता तथा इसकी मुख्य समस्या थी—व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों की पुनः व्याख्या करना। 17वीं-18वीं शताब्दी तक उदारवाद का जो रूप प्रचलित रहा उसे नकारात्मक उदारवाद या शास्त्रीय उदारवाद या परम्परागत उदारवाद इत्यादि नामों से जाना जाता है। विभिन्न विचारकों ने उदारवाद को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है:—

“मोटे तौर पर उदारवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता, न्यायिक सुरक्षा तथा सांविधानिक राज्य का सिद्धान्त तथा व्यवहार है।” — **सारटोरी**

“स्वतंत्रता उदारवाद का वास्तविक सार है।” — **डेरक हीटर**

“एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उदारवाद दो पृथक तत्वों का यौगिक है। इनमें से एक लोकतंत्र है आर दूसरा व्यक्तिवाद है।” — **डब्ल्यू. एम. मैकगवर्न**

परम्परागत उदारवाद में स्वतंत्रता व राज्य के कार्यों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। इसके तहत राज्य को एक आवश्यक बुराई माना गया व न्यूनतम राज्य या पुलिस राज्य की अवधारणा प्रतिपादित की गयी। राज्य आवश्यक

इसलिए है क्योंकि यह उदीयमान पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करता है और दोष इसलिए कि इसकी गतिविधियां मानव की आर्थिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करती है। और न्यूनतम राज्य से तात्पर्य था कि राज्य का कार्य केवल कानून व व्यवस्था बनाए रखते हुए नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना होगा।

इसी प्रकार परम्परागत उदारवाद का आधार था पूर्ण स्वतंत्रता या प्रतिबंधों का अभाव जिसका आशय है कि राज्य को यथा सम्भव कम से कम हस्तक्षेप करना ताकि मनुष्य अधिकाधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए अपना अधिकतम विकास कर सके। परम्परागत उदारवाद मुख्यतः पूंजीपति वर्ग की विचारधारा थी इसलिए इसका पूर्ण सरोकर आर्थिक गतिविधियों के व्यवस्थापन से था। इसलिए यह आर्थिक क्षेत्र में निर्बाध प्रतियोगिता का समर्थन करते हुए राज्य के हस्तक्षेपवादी रूप (Laissez Fair) का समर्थन करते हैं। वस्तुतः परम्परागत उदारवाद की निम्न बुनियादी मान्यताएं हैं:-

1. यह मानवीय व्यक्तित्व के परम मूल्य तथा मानव समाज के सभी व्यक्तियों की आध्यात्मिक समानता को मान्यता देता है। यह मानवीय बुद्धि तथा विवेक के प्रति पूर्ण आस्था रखता है। तथा इसकी मान्यता है कि मनुष्य अपने विवेक तथा तर्क बुद्धि के बल पर स्वयं की तथा सम्बन्धित समाज की प्रगति में यागदान करने की असीम क्षमता रखता है।
2. व्यक्ति के स्वहित व सामान्य हित की सिद्धि में कोई मूल अन्तर नहीं पाया जाता क्योंकि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हितों को मिलाकर ही सामान्य हित का निर्माण होता है।
3. यह व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा पर आधारित है तथा इसकी मान्यता है कि किसी भी सत्ता को इन प्राकृतिक अधिकारों के उल्लंघन का अधिकार नहीं है वरन् राज्य का दायित्व ही यह है कि वह इन प्राकृतिक अधिकारों को संरक्षण प्रदान करे। लोक ने प्राकृतिक अधिकारों का प्रतिपादन करते हुए जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति को मुख्य प्राकृतिक अधिकार माना।
4. यह मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार के क्षेत्रों में स्वतंत्रता की अवधारणा का पोषण करता है। यहां स्वतंत्रता से अभिप्राय है "प्रतिबंधों का अभाव"। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केवल इस आधार पर कोई प्रतिबंध लगाया जा सकता है कि वह दूसरों को वैसी ही स्वतंत्रता प्रदान करने के लिए आवश्यक है।
5. परम्परागत उदारवाद की मान्यता है कि राज्य या नागरिक समाज एक कृत्रिम उपकरण है जिसकी स्थापना मनुष्यों ने आपसी सामाजिक समझौते या संविदा के द्वारा की है। इस राज्य का ध्येय केवल मनुष्यों के हितों व उनके प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है यह सिर्फ संवैधानिक शासन को मान्यता देता है। किसी भी प्रकार के सत्तावाद या पूर्ण सत्तावाद को मान्यता नहीं देता। उदारवाद के इस रूप का विश्वास है कि सरकार को मनुष्य के जीवन में उतना ही हस्तक्षेप करना चाहिए। जितना उचित व आवश्यक हो। इस प्रकार यह न्यूनतम राज्य व अहस्तक्षेप वादी राज्य की अवधारणा को स्वीकार करता है।
6. परम्परागत उदारवाद का केन्द्र बिन्दू व्यक्ति है। इसलिए यह व्यक्ति को साध्य व राज्य को साधन मानता है। अतः मनुष्य की रक्षा उसके व्यक्तित्व का विकास, उसकी सम्पत्ति की रक्षा आदि राज्य के मुख्य कार्य हैं।
7. इसका मानना है कि चूंकि राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों की स्थापना एक संविदा द्वारा हुई है। अतः जब भी राज्य संविदा की शर्तों का उल्लंघन करेगा तभी व्यक्ति दायित्व स्वरूप राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर नई सरकार की स्थापना करने हेतु स्वतंत्र होगा।
8. जो रीति-रिवाज, मूल्य, संस्थायें व्यक्ति के साध्य होने में बाधक है अथवा उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करती है, व्यक्ति को उनके विरोध का अधिकार है। अतः परम्परागत उदारवाद संघर्ष व क्रांति के औचित्य को स्वीकार करता है।
9. परम्परागत उदारवाद लोक सम्प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है इसलिए वह सभी प्रकार के निरंकुश शासनों का विरोध करता है और लोकतांत्रिक शासन की स्थापना का समर्थन करता है।
10. इसने धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता, सामाजिक क्षेत्र में खुले समाज तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'विश्व शांति' का विचार दिया।

15.5 परंपरागत उदारवादी विचारक :- जॉन लॉक (1632-1704):- लॉक को उदारवाद का जनक माना जाता है और 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति इतिहास की पहली उदारवादी क्रांति मानी जाती हैं। लॉक का मत था कि राज्य और सरकार बाध्य करने वाली संस्थाएं हैं तथा इनका कार्य नागरिकों पर प्रतिबंध लगाते हैं। यही कारण है कि लॉक ने स्वतंत्रता का आशय राज्य की स्वतंत्रता से लिया तथा बाध्यकारी राज्य के हस्तक्षेप को रोकने के लिए उसने "व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त" प्रस्तुत किया। लॉक के अनुसार "जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति" व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार हैं। इनमें से लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना। सम्पत्ति से लॉक का आशय है जीवन निर्वाह के लिए बाह्य साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व। लॉक अनुबंध या समझौते को राजनीतिक सत्ता का आधार माना है अतः राज्य एक कृत्रिम उपकरण है जिसे मनुष्यों ने अपनी सुविधा के लिए बनाया है लोग का मानना है कि राजनीतिक सत्ता व्यक्तियों के अधिकारों से सीमित है, उसका कार्य सिर्फ व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा करना है। अतः लॉक राज्य को किसी भी

प्रकार के सकारात्मक कार्य प्रदान नहीं करता। उसका कहना है कि राज्य बिना व्यक्ति की सहमति के कोई कार्य नहीं कर सकता। लॉक ने अपने उदारवादी विचार अपनी कृति “जूज ज़मंजपेमे विल्वअमतदउमदज” में प्रतिपादित किये।

एडम स्मिथ (1723-1790) यद्यपि एडम स्मिथ को अर्थशास्त्र का पिता माना जाता है तथापि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एडम स्मिथ की प्रसिद्धि परम्परागत उदारवाद के समर्थक व प्रतिपादक के रूप में है जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपनी पुस्तक “The wealth of Nations” में किया। स्मिथ ने “आर्थिक मानव” की संकल्पना प्रस्तुत की और स्पष्ट किया कि व्यापार करने की प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति अतः यदि बाजार अर्थव्यवस्था को अपने हाल पर छोड़ दिया तो वह अधिक लाभदायक होगा। उसका मानना था उद्यमी व्यक्ति की स्वार्थी प्रवृत्ति स्वतः सामान्य हित को बढ़ावा देती है। प्रत्येक उद्यमी अपने लाभ की कामना करते हुए आम खुशहाली को बढ़ावा देता है जिससे सरकार, व्यापारी व श्रमिक तीनों को लाभ प्राप्त होता है और राष्ट्र प्रगति करता है। अतः एडम स्मिथ ने “अहस्तक्षेप की नीति” का समर्थन करते हुए उद्योग व व्यापार की स्वतंत्रता को प्राकृतिक स्वतंत्रता कहा। इस प्रकार जहां लॉक ने उदारवाद के राजनैतिक पक्ष की व्याख्या की वहीं स्मिथ ने उदारवाद के आर्थिक पक्ष का प्रतिपादन किया।

जरमी बेंथम (1748-1832):- बेंथम ने उपयोगितावाद के सिद्धान्त के सहयोग से उदारवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया। उसने प्रतिपादित किया कि राजनीतिक प्रभुसत्ता जनता के हाथों में रहनी चाहिए क्योंकि इसी तरह शासन के हित व सर्वसाधारण के हित में सन्तुलन व सामंजस्य लाया जा सकता है। बेंथम ने भी अहस्तक्षेपवादी नीति का समर्थन करते हुए स्पष्ट किया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक होता है अतः सरकार को वे ही कार्य करने चाहिए जो व्यक्ति की निर्णय करने की गतिविधियों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सके। बेंथम ने विधियों की तुलना औषधियों से की है और कहा है कि जिस प्रकार अधिक औषधियों का सेवन व्यक्ति के स्वास्थ्य को नष्ट कर देता है उसी प्रकार आवश्यकता से अधिक विधि निर्माण समाज के स्वास्थ्य को नष्ट कर देता है। अतः जहां तक सम्भव हो राज्य को न्यूनतम व आवश्यक विधियों का ही निर्माण करना चाहिए।

हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903):- स्पेंसर ने परम्परागत उदारवाद के न्यूनतम शासनक के सिद्धान्त को अपने अनोखे तर्कों द्वारा चरम पर पहुंचा दिया। उसने राज्य को अनुबंध द्वारा उत्पन्न एक सीमित दायित्व वाली कम्पनी के समान माना जिसका कार्य केवल दिये गये दायित्वों का निर्वाह करना है। इसी प्रकार स्पेंसर प्राणिशास्त्री डार्विन के अस्तित्व के लिए संघर्ष और ‘योग्यतम की विजय’ के सिद्धान्तों को आधार बनाकर प्रतिपादित करता है कि राज्य या समाज की और से दुर्बल या कमजोरों की सहायता के प्रयत्न समाज के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं, इसलिए ऐसे प्रयत्न निन्दनीय हैं। उसने उदारवाद को चरम तक पहुंचाते हुए प्रतिपादित किया कि जीवन संघर्ष में जो लोग पिछड़ जाते हैं उन्हें मर खप जाना चाहिए। राज्य को ऐसे दायित्वों का पालन करने का बोझ नहीं उठाना चाहिए जो दूसरों की स्वतंत्रता में अतिक्रमण करें।

15.6 आलोचना:-

1. राज्य एक आवश्यक बुराई न होकर आवश्यक अच्छाई है। राज्य मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है। इसका मुख्य कार्य लोगों का कल्याण करना है और व्यक्ति के भैतिक व नैतिक विकास के लिए आवश्यक सुविधाओं व परिस्थितियों का निर्माण व व्यवस्था करना है। जैसा कि अरस्तु ने लिखा है कि “राज्य मनुष्य के जीवन को सम्भव बनाने के लिए अस्तित्व में आया है और अब उसे अच्छा बनाने के लिए विद्यमान है।” इसलिए प्रगतिशील समाज व सभ्यता के लिए राज्य का नियंत्रण व निर्देशन होना चाहिए।
2. योग्यतम की उत्तरजीविता का सिद्धान्त अत्यंत भयावह है। स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को मान्यता देना हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था को स्वीकार करने के समान होगा। इससे मानव सभ्यता व संस्कृति की न केवल प्रगति रूक जायेगी। अपितु सामाजिक शांति व व्यवस्था का अंत हो जायेगा।
3. स्वतंत्रता का आशय प्रतिबंधों का अभाव न होकर युक्तिसंगत व उचित प्रतिबंधों का होना है यदि स्वतंत्रता को प्रतिबंधों के अभाव में स्वीकार कर लिया जायेगा तो वह स्वच्छंदता में परिवर्तित हो जायेगा तथा ऐसी स्वतंत्रता केवल साधन सम्पन्न लोगों की बपौति बन कर रह जायेगी। स्वतंत्रता तभी सार्थक है जब वह सभी को बिना किसी भेदभाव के समान रूप से उपलब्ध हो।
4. खुली प्रतियोगिता अराजकता को जन्म देती है। आर्थिक क्षेत्र में निर्बाध प्रतियोगिता सम्पन्न लोगों को अधिक सम्पन्न बनाने तथा निर्धन लोगों को अधिक निर्धन बनाने के लिए उत्तरदायी कारक होगा। जिससे समाज में आर्थिक विषमता में बढ़ोत्तरी होगी जो कि किसी भी सम्य व प्रगतिशील समाज के लिए न्यायोचित नहीं कही जा सकती। समाज किसी भी रूप में स्वतंत्र प्रतियोगिता का अखाड़ा न होकर पारस्परिक सहयोग व साहचर्य का क्षेत्र है जिसकी प्रगति सभी की प्रगति में निहित है। अतः राज्य या सरकार का दायित्व है कि वह पूंजीपतियों के लाभ पर नियंत्रण करे व श्रमिकों को शोषण से सुरक्षित करे।
5. व्यक्ति अपने हित का हमेशा सर्वोत्तम निर्णायक हो यह आवश्यक नहीं। मनोविज्ञान का मानना है कि सभी व्यक्तियों का मानसिक स्वर समान नहीं होता। ऐसे बहुत से व्यक्ति होते हैं जो अपना उचित हित नहीं समझ पाते या पर्याप्त

रूप से विवेक व बुद्धियुक्त नहीं होते ऐसी स्थिति में उन्हें समाज की खुली प्रतियोगिता में छोड़ देना अन्याय है जिस तरह हाथ की सभी अंगुलियाँ समान नहीं होती उसी प्रकार समाज के सभी मनुष्यों का स्वर समान नहीं होता अतः समाज या राज्य का दायित्व है कि वे उनका हित सुनिश्चित करें।

6. कानून स्वतंत्रता के लिए बाधक न होकर साधक है। आधुनिक समाज को बेरोजगारी, अज्ञानता, बीमारी, भुखमरी, निर्धनता जैसी गंभीर बुराइयों से बचाने का एक मात्र साधन राज्य है। राज्य के कानून जहां स्वतंत्रता को सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध कराते हैं वहीं सामाजिक वंचित व उपेक्षित वर्ग के हितों की रक्षा कर उन्हें जीवित रहने व अपना विकास करने के लिए आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध कराते हैं।

15.7 निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परंपरागत उदारवाद एक ऐसी विचारधारा है जो व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता प्रदान करती है तथा राज्य के आवश्यक हस्तक्षेप को न्यूनतम करने पर बल देती है। उदारवाद का यह रूप व्यक्ति पर लगाए गए न केवल राजनीतिक बंधन वर्णन सभी प्रकार के धार्मिक सांस्कृतिक पारंपरिक बंधनों को हटाने पर बल देता है। किंतु इस प्रयास में यह अतिवादी होने से आलोचनाओं का शिकार भी हो जाता है। और इसीलिए राज्य व व्यक्ति की स्वतंत्रताओं को संतुलित करने के लिए परंपरागत उदारवाद स्वयं में सुधार कर आधुनिक उदारवाद के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. परंपरागत उदारवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी मान्यताएं बताएं?
2. परंपरागत उदारवाद पर लेख लिखिए?
3. परंपरागत उदारवाद की मान्यताओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

लघुात्मक प्रश्न

1. परंपरागत उदारवाद के विकास में जॉन लॉक की भूमिका स्पष्ट कीजिए?
2. परंपरागत उदारवाद की विवेचना कीजिए?
3. परंपरागत उदारवादी विचारकों का संक्षिप्त परिचय दीजिए?

अति लघुात्मक प्रश्न

1. परंपरागत उदारवाद से क्या तात्पर्य है?
2. परंपरागत उदारवाद के जनक कौन थे?
3. परंपरागत उदारवाद की कोई चार विशेषताएं बताइए?

ईकाई-16

कल्याणकारी राज्य

16.1 उद्देश्य

16.2 प्रस्तावना

16.3 कल्याणकारी राज्य: अर्थ व स्वरूप

16.3.1 कल्याणकारी राज्य की विशेषताएं

16.3.2 कल्याणकारी राज्य के कार्य

16.3.3 कल्याणकारी राज्य की आलोचना

16.3.4 कल्याणकारी राज्य के समक्ष चुनौतियां

16.4 निष्कर्ष

16.1 उद्देश्य:-

- प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत लोक कल्याणकारी राज्य के अर्थ, स्वरूप, कार्य तथा चुनौतियों का वर्णन किया गया है जिससे अध्ययनकर्ता-
- यह समझा जा सके कि पुलिस राज्य व लोक कल्याणकारी राज्य में अन्तर क्या होता है
- लोक कल्याणकारी राज्य क्यों राज्य का आदर्श रूप बनता जा रहा है तथा जिसका अन्य कोई और विकल्प हो ही नहीं सकता।
- व्यवहार में लोक कल्याणकारी राज्य के समक्ष किस प्रकार की चुनौतियां आ रही हैं।

16.2 प्रस्तावना:- लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त संकेत प्लेटो व अरस्तु के विचारों में देखा जा सकता है। जैसा कि अरस्तु ने कहा है कि "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया लेकिन श्रेष्ठ जीवन या सदजीवन को प्राप्ति के लिए उसका बने रहना आवश्यक है। 18वीं 19वीं शताब्दी में टॉमस पेन, जेफरसन, काण्ट, ग्रीन, बेंथम जैसे विचारकों ने पुलिस राज्य की भर्त्सना करते हुए राज्य को सार्वजनिक हित के लिए कार्य करने हेतु प्रेरित किया। 20वीं शताब्दी के प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राज्य के कार्यक्षेत्र का काफी विस्तार हुआ और धीरे-धीरे पुलिस राज्य या न्यूनतम राज्य, लोक कल्याणकारी राज्य में परिवर्तित होता चला गया। लोक कल्याणकारी राज्य का अर्थ साधारण शब्दों में उस राज्य से है जो एक व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं बल्कि व्यक्ति व राज्य दोनों के व्यक्तित्व का विकास साथ-साथ होता है।

16.3 कल्याणकारी राज्य: अर्थ व स्वरूप - कल्याणकारी की अवधारणा 20वीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है। राजनीतिक चिन्तन के महत्वपूर्ण प्रश्नों में यह सर्वाधिक आधारभूत प्रश्न रहा है कि राज्य की सत्ता तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता का सामंजस्य किस प्रकार किया जाए। इस प्रश्न का समाधान दो दृष्टिकोण से किया गया। **पहला दृष्टिकोण** लॉक, हरबर्ट स्पेन्सर, मिल, रिकॉर्डो, स्मिथ, हम्बोल्ट, टी.टॉकविल, जैसे व्यक्तिवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया जिसका सार था कि राजकीय सत्ता का हस्तक्षेप व्यक्ति की स्वतंत्रता का संहार करता है व न्यूनतम राजकीय सत्ता से ही अधिकतम व्यक्तिगत स्वतंत्रता संभव होती है। **दूसरा दृष्टिकोण** प्लेटो, रूसो, हाब्स, हीगल, ब्रेडले, बोसाके तथा ग्रीन जैसे दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित किया गया जिसका मानना था कि राज्य की सत्ता स्वतंत्रता का स्रोत, उसका कारण एवं सजीव अभिव्यक्ति होती है। फलतः राजनीतिक दर्शन का यह एक अविरल प्रश्न ही रहा कि राज्य सत्ता व व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच की विभाजक रेखा क्या हो। इन दोनों ही दृष्टिकोणों का अतिवाद प्रजातंत्र व उदारवाद तथा साम्यवादी व्यवस्थाओं में देखने को मिला। अतः कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त इन दो अतियों के बीच का स्वर्णिम मध्यम मार्ग है। या साम्यवाद एवं अनियंत्रित व्यक्तिवाद के बीच का मध्यम मार्ग कल्याणकारी राज्य की अवधारणा है।

कल्याणकारी राज्य के विकास में औद्योगिक क्रांति के उन्नत दौर की परिस्थितियां का विशेष हाथ रहा। औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन की नई प्रणाली की नींव रखी जिससे व्यक्ति को विस्तृत कार्य क्षेत्र में उतरने का अवसर मिला। जिससे सामाजिक गतिशीलता बढ़ गयी व परम्परागत सामाजिक व आर्थिक श्रेणीतंत्र टूटने लगे। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया से मानवीय सम्बन्ध भी त्वरित परिवर्तित होने लगे। और इन परिस्थितियों में राज्य या शासन को समाज पर अपना नियंत्रण कायम रखने के लिए नई भूमिका संभालनी पड़ेगी। अब तक जो राज्य अहस्तक्षेपवादी नीति या पुलिस राज्य की भूमिका

पर अविलम्बन था उसने अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करके नागरिकों के कल्याण का दायित्व संभाल लिया और तब कल्याणकारी राज्य का आविर्भाव हुआ।

इसका प्रारम्भिक रूप जर्मन चांसलर प्रिंस बिस्मार्क के नेतृत्व में शुरू किये गये “सामाजिक बीमा कार्यक्रम में देखने का मिला जिसके अन्तर्गत कामगार वर्ग के लिए कई तरह के बीमे की व्यवस्था की गयी थी। और फिर इंग्लैंड में प्रधानमंत्री हरबर्ट हेनरी एस्क्विथ (1852-1928) के प्रशासन में बकायदा कल्याणकारी राज्य की नींव रखी गयी। इसी समय विलियम बैवरिज नामक विचारक ने अपनी कृति “The Pillars of security” में लोक कल्याणकारी राज्य के विचारक की विस्तार से व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य पांच महाबुराइयों का अंत करना है— अभाव रोग अज्ञास दरिद्रता और बेकारी थे। ये विचार बाद में बैवरिज रिपोर्ट में भी प्रतिपादित किये गये। कल्याणकारी राज्य के उदय से पहले सेवाधर्मी राज्य की संकल्पना भी दी गयी थी किन्तु इसके अन्तर्गत केवल स्वास्थ्य व शिक्षा जैसी बुनियादी सामाजिक सेवाओं पर बल दिया गया था किन्तु कल्याणकारी राज्य ने सब नागरिकों के लिए बिना किसी भेदभाव के सर्वोत्तम सेवाएं प्रदान करने का लक्ष्य रखा। इसके अलावा कराधान द्वारा संपदा का पुनर्वितरण भी कल्याणकारी राज्य का एक उद्देश्य बन गया। विभिन्न विचारकों ने लोक कल्याणकारी राज्य की निम्न परिभाषाएं दी हैं—

“लोक कल्याणकारी राज्य वह है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।” — **केण्ट**

“लोक कल्याणकारी राज्य वह है जिसमें प्रत्येक नागरिकों को रहन सहन के निम्नतम स्तर तथा अवसर उपलब्ध हों” — **जी.डी.एच. कोल**

“लोक कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आप के अधिकाधिक वितरण के उद्देश्य से करता है।” — **अब्राहम**

अतः कल्याणकारी राज्य शासन की वह संकल्पना है जिसमें राज्य नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कल्याणकारी राज्य अवसर की समानता, धन सम्पत्ति के समान वितरण तथा जो लोग अच्छे जीवन हेतु न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वयं जुटा पाने में असमर्थ है उनकी सहायता करने जैसे सिद्धान्तों पर आधारित है। कल्याणकारी राज्य एक ऐसा राज्य है जो एक ओर लोक कल्याणकारी राज्य की परिभाषा दूसरी तरफ वह उनकी बुनियादी सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं का भी ध्यान रखता है। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को परिभाषित करते हुए “Encyclopedia of social science” ने लिखा है कि कल्याणकारी राज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।”

इसी प्रकार **प्रो. एच. जे लास्की** ने लिखा है कि “कल्याणकारी राज्य लोगों का ऐसा संगठन है जिसमें सबका सामूहिक रूप से अधिकाधिक हित निहित है।” अतः इस प्रकार कल्याणकारी राज्य अर्थव्यवस्था में कड़ी प्रतिस्पर्धा को नियंत्रित करके पूंजीवादी व्यवस्था को मृदुल व मानवीय रूप देने का प्रयत्न करता है। कल्याणकारी राज्य का विचार इंग्लैंड के अतिरिक्त फ्रांस, इटली, जर्मनी, स्वीडन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड में विशेष लोकप्रिय रहा। अतः इस प्रकार कल्याणकारी राज्य—

1. यह एक प्रकार की शांतिपूर्ण क्रांति है जिसमें समुचित कर व्यवस्था द्वारा सामाजिक धन सम्पदा का पुनर्वितरण किया जाता है। जिससे धनी व निर्धन वर्गों के बीच पाई जाने वाली आर्थिक विषमता का ताकिक समाधान सम्भव हो पाता है।
2. यह व्यवस्था दया की भावना या भिक्षावृत्ति पर आधारित नहीं है। इसके तहत प्रत्येक सक्षम उपार्जक अपनी आय का एक निश्चित भाग कर या अनुदान के रूप में राज्य को देता है और उसके बदले में सामाजिक सेवाओं के रूप में उस धन को अधिकार के नाते पुनः प्राप्त कर लेता है।
3. कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्यक्षेत्र का निरन्तर विकास होता है किन्तु राज्य का बढ़ता हुआ कार्यक्षेत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं करता। कल्याणकारी राज्य अपने कार्यों का सम्पादन कर्तव्य के रूप में करता है उसके द्वारा निर्मित कानून सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
4. यह सिद्धान्त इस मनोवैज्ञानिक मान्यता पर आधारित है कि अमावों के संसार से मुक्त होकर मनुष्य जब आर्थिक सुरक्षा प्राप्त कर लेता है तो वह बदले में समाज को अपना अनुदान निष्ठा तथा उद्यम से देगा।

16.3.1 लोक कल्याणकारी राज्य की विशेषताएं:— एक आदर्श स्वरूप में स्थापित होने के लिए आवश्यक है कि लोक कल्याणकारी राज्य में निम्न विशेषताएं या लक्षण पाये जाते हैं—

(क) **आर्थिक सुरक्षा**— यह लोक कल्याणकारी राज्य की सर्वप्रमुख विशेषता है क्योंकि लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर की गयी है। इसके अन्तर्गत सबके लिए रोजगार न्यूनतम जीवन की गारंटी अधिकतम आर्थिक समानता की प्राप्ति इत्यादी लक्ष्य रखे जाते हैं।

(ख) **राजनीतिक सुरक्षा**— इसके अन्तर्गत राजनीतिक स्थिरता, कुशल प्रशासन तथा राजनीतिक अधिकारों की समान उपलब्धता शामिल है। वहीं राज्य लोक कल्याणकारी माना जाएगा। जिसमें राजनैतिक शक्ति का प्रयोग निरंकुश तरीके से न होकर जन कल्याण को सुनिश्चित करने हेतु प्रयुक्त की जायेगी।

(ग) **सामाजिक सुरक्षा**— लोक कल्याणकारी राज्य का यह एक महत्वपूर्ण लक्षण है इसके तहत समाज में रंग, जाति, नस्ल, धर्म, लिंग इत्यादी के आधार पर भेदभाव न किया जाए।

(घ) **राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार**— न्यूनतम राज्य के तहत जहां राज्य द्वारा केवल कुछ कार्यों का सम्पादन किया जाता है वहीं लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त कार्यों का सम्पादन राज्य द्वारा किया जाता है। अतः राज्य के इस रूप में राज्य व्यक्ति के “संरक्षक या अभिभावक” की भूमिका निर्वाह करता है। जिससे इसके कार्य क्षेत्र का सर्वाधिक विस्तार हो जाता है।

(ङ) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना**— लोक कल्याणकारी राज्य सम्पूर्ण मानवता के कल्याण में विश्वास रखता है। विश्व में युद्ध न हो, सभी लोग सुखी हो, चारों तरफ शक्ति हो, इन सिद्धान्तों में लोक कल्याणकारी राज्य विश्वास करता है। अर्थात् “वसुधैव कुटुम्बकम्” के आदर्श में आस्था रखता है।

16.3.2 कल्याणकारी राज्य के कार्य:— कल्याणकारी राज्य के कार्यों को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है—

ऐच्छिक कार्य— ऐच्छिक कार्य वे होते हैं जो राज्य की परिस्थितियों व शासन की दृष्टिकोण पर निर्भर होते हैं।

अनिवार्य कार्य— ये वे कार्य हैं जो प्रत्येक राज्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए अनिवार्य रूप से करने पड़ते हैं। जैसे—

1. बाह्य आक्रमण से राज्य की सुरक्षा करना व इस हेतु विभिन्न प्रकार के सैन्य उपकरणों व साधनों की व्यवस्था करना।
2. दूसरे अनिवार्य कार्य राज्य में शांति एवं सुव्यवस्था को कायम करना, नागरिकों को कानून के तहत सुशासन प्रदान करना, पुलिस को व्यवस्था करना तथा नागरिकों के कर्तव्यों का नियमन करना।
3. लोक कल्याणकारी राज्य को शांति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए स्वतंत्र व निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था करना।
4. लोक कल्याणकारी राज का स्त्री-पुरुष, बच्चों, वर्गों व जातियों, धर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों को इस प्रकार से नियमित करना कि उनके बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो।
5. आर्थिक समानता के आधार पर नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना।
6. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग तथा सद्भावना स्थापित कर विश्व शांति व वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को बढ़ाना।
7. नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा एवं स्वास्थ्य की सेवाएं उपलब्ध कराना।
8. उद्योग व व्यापार पर नियंत्रण रखना।
9. कृषि की उन्नति हेतु उत्तम बीज खाद एवं सिंचाई के साधनों व अन्य कृषिगत सुविधाओं को उपलब्ध कराना।
10. यातायात एवं संचार के लिए सड़कों, रेलों, जल तथा वायुमार्गों डाक-तार, टेलीफोन, रेडियो आदि की व्यवस्था करना।
11. श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए श्रमहितकारी कानून बनाना।
12. शारीरिक रूप से अपंग एवं वृद्ध व्यक्तियों के लिए पेंशन की व्यवस्था करना व उन्हें इस प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना कि वह अपनी जीविकापार्जन स्वयं कर सकें।
13. कला, साहित्य व विज्ञान को प्रोत्साहन देना।
14. नागरिकों के आमोद-प्रमोद व मनोरंजन की व्यवस्था करना।

16.3.3 कल्याणकारी राज्य की आलोचना:—

(i) कल्याणकारी राज्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें सार्वजनिक सेवाओं को आसानी से उपलब्ध किये जाने से मनुष्य की उत्तरदायित्व, आत्मनिर्भरता व आत्म सम्मान की भावनाओं का क्षय होता है। माइकल परसैल ने इसे “कुछ न करने के बदले में कुछ प्राप्त करने का सिद्धान्त बताया है। इसमें स्वावलम्बन व स्वतः प्रेरणा जैसे नैतिक गुणों का अन्त हो जाता है। और व्यक्ति राज्य पर आश्रित हो जाता है। कार्य करने की ईच्छा शक्ति, बचत करने की आदत तथा नवीन आविष्कारों को जन्म देने की सृजनात्मक शक्तियां इसमें मृतप्रायः हो जाती हैं।

(ii) इसमें राज्य की आश्रितता पर अधिक बल दिया जाता है जो कि व्यक्ति के नैतिक उत्थान के लिए हितकारी नहीं है। आलोचकों का मानना है कि भोजन से लेकर दवा-दारु तक के लिए राज्य पर आश्रितता राज्य की

अनायास ही जीवन के व्यक्तिगत दायरे में प्रवेश दिला देती है। और पराश्रयता तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता कभी मेल नहीं खा सकते। जैसा कि ई. आशीवादम ने लिखा है कि " कल्याणकारी राज्य का सबसे बड़ा डर यह है कि वह सुगमता से अपने आपको सर्वाधिकारवादी राज्य में बदल देता है।" अतः इस प्रकार राज्य में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुरक्षित रखा पाना संभव नहीं है।

(iii) कल्याणकारी राज्य में मुद्रास्फीति के रोग की सतत सम्भावना बनी रहती है। मुद्रास्फीति के कारण पूंजी निर्माण में बाधाएं आती हैं, अयोग्यता का विस्तार होता है, राष्ट्र के उत्पादन यंत्रों में जंग लग जाती है और अर्थव्यवस्था में गतिहीनता आ जाती है।

(iv) आर्थिक क्षेत्र में कल्याणकारी राज्य की एक कठिनाई यह है कि इससे वित्तिय प्रोत्साहन में कमी आती है। नागरिक जब यह अनुभव करता है कि एक निश्चित आय की सीमा पार कर जाने पर उसे राज्य को अपना अर्जित धन कर के रूप में देना पड़ेगा तो स्वाभाविक रूप से या तो वह करों की चोरी करेगा या कम कार्य करेगा। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप उत्पादन व जीवन स्तर दोनों में कमी आयेगी जो कि किसी भी राज्य की प्रगति के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं।

(v) प्रतिस्पर्धा को अवरुद्ध करने से निजी तथा सार्वजनिक हितों की समरसता नष्ट हो जाती है। इससे उद्यम की भावना का अंत हो जाता है तथा मानवीय सन्तुष्टि उत्पन्न हो जाती है जो सामाजिक प्रगति के लिए घातक है।

(vi) बिना किसी भेदभाव क सभी नागरिकों को रोटी, कपड़ा व मकान जैसी जीवन रक्षक आवश्यक व मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराना।

(vii) आर्थिक नियोजन की व्यवस्था करना इत्यादि।

16.3.4 कल्याणकारी राज्य के समक्ष चुनौतियां— यद्यपि कल्याणकारी राज्य, राज्य के आदर्शों को अपने अन्तर्गत समाहित किये हुए हैं तथापि वह प्रशासन की व्यवस्था का स्वरूप होने के कारण उसके समक्ष कई व्यावहारिक चुनौतियां या बाधाएं उपस्थित होती हैं जो निम्नवत हैं:—

(क) प्रशासनिक चुनौतियां— कल्याणकारी राज्य में प्रशासकीय मंथरता अकुशलता तथा नौकरशाही की अकर्मण्यता पायी जाती है। इसी प्रकार से व्यापक स्तर पर सेवाओं का संचालन करने के लिए पर्याप्त मात्रा में प्रशासकों का अभाव पाया जाता है। सामाजिक सेवाओं को प्रदान करने के लिए पर्याप्त आर्थिक साधनों को जुटाना भी एक कठिन कार्य है। इसी प्रकार उच्च करारोपण तथा भूमि, बैंक या उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण जनमत को उदेलित कर देता है जिससे कानून-व्यवस्था को बनाए रखना दुश्कर हो जाता है।

(ख) व्यक्तिगत चुनौतियां— कल्याणकारी राज्य व्यक्ति के जीवन को पालने से लेकर श्मसान तक सुरक्षा प्रदान करता है जिससे व्यक्ति की राज्य पर निर्भरता बढ़ती जाती है। इससे व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता का नाश होता है। राज्य व्यक्ति के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करता है जिससे व्यक्ति के जीवन में राज्य अनावश्यक हस्तक्षेप को रोकना भी एक चुनौति बन गया है। लोक कल्याणकारी राज्य सुविधाओं के नाम पर अपनी शक्ति का विस्तार कर सकता है। अतः व्यक्ति के हित में शक्ति को सन्तुलित करना व राज्य के लिए लक्ष्मण रेखा खींचना भी एक दुष्कर कार्य है।

16.4 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार विभिन्न आलोचनाओं व चुनौतियों के बावजूद भी विश्व के अधिकांश राज्य राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप को अपना रहे हैं। इसके अन्तर्गत वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा को स्थायित्व देते हुए वैयक्तिक सुख को प्रदान करने पर जोर दिया जाता है। वर्तमान युग में सम्भवतः लोक कल्याणकारी राज्य आज के युग की मांग है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य का अर्थ, स्वरूप व विशेषताएं बताइए?
2. एक कल्याणकारी राज्य द्वारा कौन-कौन से कार्य किए जाते हैं?
3. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके समक्ष उत्पन्न चुनौतियों की समीक्षा कीजिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
2. कल्याणकारी राज्य की कोई पांच विशेषताएं बताइये?
3. कल्याणकारी राज्य के कोई चार कार्य बताइए?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य की परिभाषा दीजिए?
2. कल्याणकारी राज्य के दो दोष बताइए?
3. बैबरिज रिपोर्ट क्या थी?

ईकाई-17

स्वेच्छातंत्रवाद

17.1 उद्देश्य

17.2 प्रस्तावना

17.3 स्वेच्छातंत्रवाद अर्थ व स्वरूप

17.3.1 स्वेच्छातंत्रवाद की विशेषताएं

17.3.2 स्वेच्छातंत्रवाद के प्रकार

17.3.3 स्वेच्छातंत्रवाद के उन्नायक

17.3.4 स्वेच्छातंत्रवाद की आलोचना

17.4 निष्कर्ष

17.1 उद्देश्य:- प्रस्तुत अध्याय में समकालीन उदारवाद के एक प्रकार भेद स्वेच्छातंत्रवाद या स्वतंत्रवाद का विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य है कि अध्ययनकर्ताओं को-

- समकालीन उदारवाद के इस नवीन संस्करण के विषय में जानकारी उपलब्ध कराए।
- इसके विभिन्न उन्नायकों के दर्शन की संक्षिप्त में जानकारी दी जाए।
- इसकी विशेषताओं व आलोचनाओं का अध्ययन कर सके।

17.2 प्रस्तावना:- उदारवादी विचारधारा का केन्द्रीय तत्व व्यक्ति की स्वतंत्रता रहा है। व्यक्ति की स्वतंत्रता में वृद्धि के लिए इस समय काल व परिस्थिति के अनुरूप अपने में परिवर्तन किया है। परम्परागत उदारवाद व स्वेच्छातंत्रवाद, उदारवाद के वे रूप हैं जो व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अत्यधिक बल देते हैं। ये दोनों सिद्धान्त स्वतंत्रता के नकारात्मक स्वरूप पर बल देते हुए न्यूनतम राज्य या अहस्तक्षेपवादी राज्य की धारण को स्वीकार करते हैं। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोक कल्याणकारी राज्य की असफलता ने उदारवाद के इस रूप को और अधिक तर्कसंगत ठहरा दिया। कल्याणकारी राज्य सम्पत्ति के केंद्रीकरण व आर्थिक विषमता को समाप्त करने का कोई कारगर उपाय नहीं खोज पाया इसलिए स्वच्छेत्तंत्रवादी विचारकों ने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की पुनः स्थापना का प्रयत्न किया।

17.3 स्वेच्छातंत्रवाद अर्थ व स्वरूप:- 20वीं शताब्दी में उदारवादी परम्परा के कुछ विचारकों ने अनुभव किया कि कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त व्यक्तियों की गतिविधियों के विस्तृत विनियम की मांग करता है। जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। दूसरी तरफ कल्याणकारी राज्य आर्थिक विषमताओं को न केवल दूर करने में असफल रहा वरन, पूँजीवाद व्यवस्था के उन दुष्परिणामों का निराकरण करने में भी नाकामयाब रहा जिनसे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण बढ़ रहा था और आम जनता को भुखमरी तथा गरीबी का सामना करना पड़ रहा था। अतः उदारवादी विचारकों ने राज्य के अहस्तक्षेपवादी सिद्धान्त को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। स्थापित करने के लिए व उसे परम्परागत उदारवाद से पृथक करने के लिए एक नये शब्द "स्वेच्छातंत्रवाद" या "स्वतंत्रतावाद" का प्रयोग किया।

स्वेच्छातंत्रवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो व्यक्ति की अधिकतम स्वतंत्रता या पूर्ण स्वायत्तता को सार्वजनिक नीति का प्रामाणिक आधार मानता है। यह उन सब संस्थाओं से उसकी मुक्ति की कामना करता है जो उसकी विश्व दृष्टि को सीमित करती है। अतः यह राजनीतिक संस्थाओं के अलावा धर्म, परिवार तथा ऐसे रीति रिवाजों को भी समाप्त कर देना चाहता है जो व्यक्ति को किसी बने-बनाए सांचे में ढालने की कोशिश करते हैं।

अतः इसप्रकार स्वेच्छातंत्रवाद वह सिद्धान्त है जो सब तरह की सत्ता का खण्डन करते हुए व्यक्ति की स्वतंत्रता को सर्वोपरि स्थान देता है। यह सिद्धान्त व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप का समर्थन करता है। अतः स्वेच्छातंत्रवाद उदारवाद के लोक कल्याणकारी राज्य के विचार की प्रतिक्रिया स्वरूप उभरी वह विचारधारा है जो न्यूनतम राज्य की अवधारणा को पुनः स्थापित करना चाहती है।

17.3.1 स्वेच्छातंत्रवाद की विशेषताएं:-

- (1) यह सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतंत्रता को सार्वजनिक नीति का प्रामाणिक आधार मानता है। यह व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता या स्वायत्तता में विश्वास करता है।

- (2) स्वतंत्रता व समानता के मध्य विरोध उत्पन्न होने पर यह स्वतंत्रता को प्राथमिकता देना है। और समानता को गौण स्थान प्रदान करता है।
- (3) यह व्यक्ति पर लगाये जाने वाले सब प्रतिबंधों का विरोध करता है। अतः यह राजनीतिक सत्ता या संस्थाओं के अतिरिक्त ऐसे धर्म, परिवार तथा रीति रिवाजों को भी समाप्त करना चाहता है। जो न केवल व्यक्ति की स्वतंत्रता को बाधित करते हैं वरन् व्यक्ति की विश्व दृष्टि को भी सीमित करते हैं।
- (4) यह सिद्धान्त मुक्त बाजार प्रणाली को न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था मानता है। व्यक्ति समाज के लिए कितना योगदान करता है, इसका सटीक मूल्यांकन करके बाजार उसे उतना ही लाभ प्रदान करता है। अतः वितरणमूलक न्याय प्रदान करने के लिए एकमात्र निष्पक्ष प्रणाली बाजार व्यवस्था है।
- (5) ये चिंतक सामाजिक न्याय के विरोधी हैं। इनका स्पष्ट तर्क है कि जब भी राज्य सामाजिक न्याय स्थापित करने का प्रयास करता है, तब राज्य की शक्तियां बढ़ जाती हैं और व्यक्ति की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों से कुछ छीनकर अन्य वर्गों को वितरित किया जाता है, उनकी अधिकारिता का भी उल्लंघन होता है।
- (6) राजनीतिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त मांग करता है कि मनुष्य को अपनी उन्नति तथा समृद्धि के पूर्ण अवसर मिलने चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि उसकी अधिक गतिविधियों को सब तरह के प्रतिबंधों से पूर्ण स्वतंत्रता दी जाए।
- (7) दार्शनिक स्तर पर यह सिद्धान्त मानव जीवन के नियतिवाद का खंडन करता है। यह मनुष्य को अपनी नियति का स्वयं निमाता मानता है। अतः यह व्यक्ति की कार्य स्वतंत्रता पर लगाए गए सभी सामाजिक व कानूनी प्रतिबंधों का विरोध करता है।
- (8) यह प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकार करता है। इसका मानना है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के आरम्भ होने से पूर्व उसके कुछ अधिकार थे न तो इन अधिकारों को नष्ट किया जा सकता है और न ही किसी समूह या राज्य के हित में इसका त्याग किया जा सकता है।
- (9) यह सिद्धान्त किसी एक वर्ग के कल्याण के लिए किसी दूसरे वर्ग के शोषण का विरोध करता है। इसका तर्क है कि समाज के किसी हिस्से के कल्याण के लिए करारोपण का आशय है कि किसी एक व्यक्ति के श्रम को बलपूर्वक छीन कर किसी दूसरे के पास हस्तारित करना। अतः इस प्रकार यह सिद्धान्त मुख्यतः ऐसे व्यक्ति की उन्नति के लिए अवसरों पर बल देता है जो स्वयं समर्थ व साधन सम्पन्न हैं।
- (10) जहां तक राज्य का प्रश्न है ये राज्य को अधिक शक्तियां देने का विरोधी है इसके अनुसार राज्य के भिन्न मुख्य कार्य होने चाहिए।

(क) कानून व्यवस्था बनाए रखना।

(ख) वे सभी कार्य करना जिन्हें बाजार प्रणाली करने में असमर्थ है।

(ग) अर्थव्यवस्था के नियमन के लिए नियम बनाना उ उनके पालन को सुनिश्चित करना।

17.3.2 स्वेच्छातंत्रवाद के प्रकार:- अध्ययन सुविधा की दृष्टि से स्वेच्छातंत्रवाद के दो रूप हैं-

(क) **संयत स्वेच्छातंत्रवाद**- यह स्वेच्छातंत्रवाद का उदार रूप है जो राज्य का पूर्णतः विरोध नहीं करता और न ही उसे समाप्त कर देना चाहता है। इसका मानना है कि ऐसे कार्य जिन्हें व्यक्ति व बाजार करने में सक्षम न हो उन कार्यों को राज्य को सौंप देना चाहिए। किन्तु इस शर्त पर की इनसे व्यक्ति प्रहरी राज्य का समर्थन करते हैं। और इस दायित्व के संचालन हेतु राज्य को कर आदि के माध्यम से धन संग्रहित करने का अधिकार होगा।

(ख) **चरम स्वेच्छातंत्रवाद**- यह स्वेच्छातंत्रवाद का चरम था विप्लववादी रूप है। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता उसके क्रिया कल्पों पर किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता। यह सम्पूर्ण शासन को अवैध घोषित कर देता है। इस प्रकार यह अराजकतावाद के निकट पहुंच जाता है। किन्तु अराजकतावादी ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहां बल प्रयोग अनावश्यक हो जब चरम स्वेच्छातंत्रवाद ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जिसमें सुरक्षा व अनुबंधों के प्रवर्तन की आवश्यकता तो रहेगी किन्तु ये कार्य निजी अभिकरणों द्वारा किये जा सकेंगे।

17.3.3 स्वेच्छातंत्रवाद के उन्नायक:-

(क) एफ.ए. हेयक (1899-1992) हेयक ने अपनी तीन पुस्तकों "Road to Serfdom", "The Constitution of Liberty" तथा "Law Legislation of Liberty" में अपने स्वेच्छातंत्रवादी विचार प्रस्तुत किये हैं। हेयक ने तर्क दिया कि स्वतंत्रता का मूल अर्थ प्रतिबंध के अभाव को सुरक्षित रखना ही उपयुक्त है। इसके प्रयोग क्षेत्र को सीमित रखकर ही

इसकी मूल्यवत्ता को बढ़ाया जा सकता है। उसका कहना है कि “मनुष्य सभी स्वतंत्र हो सकता है ज बवह किसी दूसरे की स्वच्छन्द ईच्छा द्वारा विवश या बाध्य न हो।” हेयक स्वतन्त्रता के नकारात्मक स्वतंत्रता का पक्षधर था। हेयक स्वतंत्रता के समान वितरण को स्वीकार नहीं करता उसका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज की उन्नति में समान योगदान नहीं देता अतः उसे समान स्वतंत्रता के उपभाग का भी अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। उसकी मान्यता है कि सभी लोगों को कुछ-कुछ स्वतंत्रता दिये जाने से अच्छा है कि कुछ लोगों को जो कि उसके योग्य है पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जानी चाहिए।

इसी प्रकार हेयक ने केन्द्र उन्मुख अर्थव्यवस्था के स्थान पर बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था का समर्थन किया। इसका मत है कि अर्थव्यवस्था का व्यवस्थापन उपयुक्त नहीं होता क्योंकि इससे सर्वाधिकारवाद का रूप सामने आता है। इस प्रकार हेयक बाजार अर्थव्यवस्था का समर्थन करते हुए व्यक्ति को उसकी स्वयं की क्षमता एवं योग्यता के अनुरूप लाभ कमाने की पूरी छुट देता है।

आइसिया बर्लिन (1909-1999) :- स्वेच्छातंत्रवाद के दूसरे प्रमुख विचारक बर्लिन को माना जाता है। बर्लिन ने अपनी पुस्तक “Four Essays on Liberty” में दो तरह की स्वतंत्रता में भेद किया है— नकारात्मक स्वतंत्रता व सकारात्मक स्वतंत्रता। उसके अनुसार नकारात्मक स्वतंत्रता का आशय बल प्रयोग का अभाव है। तथा नकारात्मक स्वतंत्रता यह मांग करती है कि व्यक्ति को अपने विवेकानुसार अपने मनपसंद कार्यों को करने से रोका न जाए।

जबकि सकारात्मक स्वतंत्रता का आशय है “आत्म संयम” अर्थात् तर्क बुद्धि या विवेक के अनुसार आचरण सकारात्मक स्वतंत्रता यह अपेक्षा करती है कि व्यक्ति को अपने हृदय तथा मस्तिष्क पर पूरा नियंत्रण होना चाहिए। बर्लिन तर्क देता है कि सकारात्मक स्वतंत्रता व्यक्ति की अपनी क्षमताओं पर आश्रित है, राज्य केवल व्यक्ति की नकारात्मक स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है। बर्लिन ने तर्क दिया कि “यदि कोई व्यक्ति गरुड़ पक्षी की तरह पंख फँलाकर उड़ नहीं सकता या हवेल मछली की तरह समुद्र में तैर नहीं सकता तो यह उसकी अपनी कमी है वह यह नहीं कह सकता कि उसे राजनीतिक स्वतंत्रता से वंचित किया गया है।” अतः इस प्रकार बर्लिन प्रतिपादित करता है कि राज्य केवल यह कर सकता है कि जहां तक हो सके वह व्यक्ति की स्वयं-निर्धारित गतिविधियों पर कोई प्रतिबंध न लगाये और प्रस्तुत अर्थ में राजनीतिक स्वतंत्रता, नकारात्मक स्वतंत्रता है।

मिल्टन फ्रीडमेन— फ्रीडमेन अहस्तक्षेप की नीति का प्रबल समर्थक था। उसने स्वतंत्रता को पूंजीवादी व्यवस्था की एक विशेषता सिद्ध करने का प्रयास किया। अपनी पुस्तक “Capitalism and Freedom” में उल्लेख किया कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है कि उसे स्वतंत्र विनियम का पूरा अवसर उपलब्ध हो।

फ्रीडमेन के अनुसार “राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है किसी व्यक्ति को अपने साथ रहने वाले लोग विवश न कर सकें।” इसके लिए आवश्यक है कि उसे आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। अतः फ्रीडमेन राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए आर्थिक स्वतंत्रता को आवश्यक मानता है जो उसे निजी उद्यम व राज्य की अहस्तक्षेपवादी नीति के माध्यम से मिलती है। फ्रीडमेन ने अर्थव्यवस्था व राजनीति को सम्बद्ध करते हुए कहा कि कोई विशेष राजनीतिक व्यवस्था किसी विशेष अर्थव्यवस्था के साथ ही विकसित हो सकती है। अतः स्वेच्छातंत्रवाद व बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था परस्पर समबद्ध व सहयोगी है।

राबर्ट नौजिक— नौजिक ने अपनी पुस्तक “Anarchy State and utopia” में लॉक द्वारा प्रतिपादित राज्य के सिद्धान्त की अपने युग के अनुरूप पुनः व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। नौजिक ने प्रतिपादित किया कि समाज और राज्य का निर्माण मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकारों के रक्षार्थ हुआ है। और सम्पत्ति का अधिकार इन अधिकारों में सर्वप्रमुख अधिकार है। अतः राज्य का मुख्य कार्य सम्पत्ति की रक्षा करना है। राज्य को सम्पत्ति का पुनर्वितरण करने का अधिकार नहीं है।

नौजिक ने प्रतिपादित किया है कि सम्पत्ति दो तरीके से प्राप्त की जाती है— सम्पत्ति का वैध तरीके से अर्जन तथा वैध तरीके से अर्जित सम्पत्ति का वैध तरीके से हस्तांतरण उक्त दोनों तरीकों से अर्जित की गयी सम्पत्ति न्यायपूर्ण होती है। और इसके संचयन में व्यक्तियों के बीच जो विषमताएं उत्पन्न हो जाती है नौजिक उन्हें भी न्यायपूर्ण मानता है। इस प्रकार नौजिक निजी सम्पत्ति को उचित ठहराते हुए वितरण की प्रक्रिया के न्याय संगत होने को महत्वपूर्ण मानता है। उसके परिणामों पर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए। तथा ‘समाजवादी पुनर्वितरण’ का खण्डन करता है।

नौजिक व्यक्ति को साध्य मानते हुए न्यूनतम राज्य की अवधारणा को स्वीकार करता है तथा प्रतिपादित करता है कि राज्य को उतना ही कर वसूल करना चाहिए जितना उसे न्यूनतम राज्य को चलाने के लिए आवश्यक हो। उसका मत है कि कोई भी राजनीतिक व्यवस्था अपने आप में बुरी होती है क्योंकि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता व प्राकृतिक अधिकारों में कुछ ना कुछ हस्तक्षेप करती ही है। इसलिए नौजिक न्यूनतम राज्य की अवधारणा की आवश्यकता को स्वीकार करता है।

11.3.4 स्वेच्छातंत्रवाद की आलोचना:-

- (1) स्वेच्छातंत्रवाद एक असन्तुलित दृष्टिकोण व विचारधारा है। इसमें स्वतंत्रता पर अत्यधिक बल दे कर समानता को नजरअंदाज किया है। जबकि स्वतंत्रता के लिए समानता आवश्यक व वांछनीय है।

(2) यह विचारधारा ऐसे व्यक्तियों की उन्नति हेतु प्रयास करती है जो स्वयं समर्थ व साधन सम्पन्न हैं। यह ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना चाहती है जिसमें प्रभावशाली शक्तिशाली व सम्पत्तिशाली व्यक्तियों के अधिकतम हितों की रक्षा कर सके।

(3) न्यूनतम राज्य की स्थापना का प्रयास लोक कल्याणकारी राज्य की भूमिका को कम करता है। अतः यह विचारधारा राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप की आलोचना करती है।

17.4 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार स्वेच्छातंत्रवाद बाजार व व्यक्ति पर अपना दर्शन केंद्रित करता है। इसके अनुसार स्वतंत्र व्यक्ति व मुक्त बाजार ही सच्चे लोकतंत्र की व्यावहारिक अभिव्यक्ति हैं। किन्तु साथ ही यह विचारधारा न्यूनतम राज्य का समर्थन व लोक कल्याणकारी राज्य की आलोचना करने के कारण एक नीरस व शुष्क विचारधारा बन कर रह गयी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वेच्छातंत्रवाद की अवधारण की विशद व्याख्या कीजिए?
2. स्वेच्छातंत्रवाद का अर्थ व विशेषताएं बताइए?
3. स्वेच्छातंत्रवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वेच्छातंत्रवाद की अवधारण क्या है?
2. स्वेच्छातंत्रवाद के प्रकार भेद बताइए?
3. स्वेच्छातंत्रवाद की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. स्वेच्छातंत्रवाद क्या है?
2. कौन-कौन से विचारक चरम स्वेच्छातंत्रवाद कहलाते हैं?
3. संयम स्वेच्छातंत्रवाद क्या है?

मार्क्सवाद-1 : मार्क्स, लेनिन, माओ

18.1 उद्देश्य

18.2 प्रस्तावना

18.3 कार्ल मार्क्स

18.3.1 मार्क्स के मानवतावादी विचार: तरुण मार्क्स

18.3.2 परिपक्व मार्क्स : वैज्ञानिक समाजवाद

18.3.3 मार्क्स का मूल्यांकन

18.4 लेनिन

18.4.1 साम्राज्यवाद का विश्लेषण

18.4.2 लोकतांत्रिक केंद्रवाद: साम्यवादी दल का सिद्धांत

18.4.3 क्रांतिकारी मार्क्सवाद का सिद्धांत

18.4.4 लेनिन का मूल्यांकन

18.5 माओ-त्से-तुंग

18.5.1 अंतर्विरोधों का सिद्धांत

18.5.2 कृषकों की भूमिका

18.5.3 जन पुंज की भूमिका

18.5.4 सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा.

18.5 निष्कर्ष

18.1 उद्देश्य- प्रस्तुत इकाई के गहन अध्ययन के बाद अध्ययन कर्ता द्वारा-

- कार्ल मार्क्स के विचार में उसके विचारों के महत्व को समझा जा सकेगा।
- लेनिन द्वारा व्यावहारिक व संशोधित मार्क्सवाद को समझने में सहायता मिलेगी।
- माओ के विचार तथा एशियन समाज के परिप्रेक्ष्य में उसके विचारों को समझने में सहायता मिलेगी।

18.2 प्रस्तावना- मार्क्स के कुछ विचार दिये और कालांतर में उनके ये विचार एक विचारधारा के रूप में संगठित हो गये। मार्क्स ने अपने विचार वस्तुतः उदारवाद विशेष रूप से नकारात्मक उदारवाद में उत्पन्न सामाजिक व आर्थिक विषमता के परिपेक्ष्य आलोचना स्वरूप प्रस्तुत किए। मार्क्स ने अपने दर्शन में उदारवाद से उत्पन्न इन कमियों को न केवल उजागर किया अपितु के कारण व समाधान दोनों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। अतः मार्क्स राजनीतिक दार्शनिक हो नहीं अपितु राजनीति विज्ञान भी कहते हैं। कालांतर में उनके इन विचारों या सिद्धांतों की व्यावहारिक क्रियान्विती रूस में लेनिन व चीन में माओ द्वारा की गई। इन दोनों ही व्यावहारिक मार्क्सवादियों ने न केवल मार्क्स के विचारों को व्यवहार के धरातल पर उतारा वरन् समय व परिस्थितियों के अनुरूप इन विचारों में परिवर्तन संशोधन तथा अपने नवीन मौलिक सिद्धांतों की स्थापना भी की। इस प्रकार मार्क्स में एक विचार सम्प्रदाय की स्थापना की व लेकिन तथा माओ ने इस संप्रदाय को उन्नत व विकसित किया।

18.3 कार्ल मार्क्स:- मार्क्स मूल रूप से एक अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री था। मार्क्स का जन्म एक यहूदी परिवार में 5 मई 1818, जर्मनी के राइनलैण्ड प्रदेश में ट्रिब्स नामक स्थान पर हुआ। मार्क्स की आयु जब 16 वर्ष की थी तब उसके पिता न यहूदी धर्म को त्याग कर प्रोटेस्टैंट ईसाई धर्म को अपना लिया। मार्क्स ने बर्लिन तथा जैना विश्वविद्यालय से दर्शन का अध्ययन किया व हीगल के प्रभाव में आकर मार्क्स भी "यंग होगेलियन्स" सोसायटी का सक्रिय सदस्य बन गया। 1841 में जैना विश्वविद्यालय से उसने "The Difference Between the natural

Philosophy of Democritus and Epicurus" विषय पर शोध कर डॉक्टर ऑफ फिलासफी की डिग्री प्राप्त की। अपनी युवा अवस्था में मार्क्स ने पत्रकारिता व तात्कालीन उदादवादी आन्दोलनों में भाग लिया। 1842 में मार्क्स ने उदरवादी पत्र "Rheinische Zeithung" के सम्पादक बने। कालान्तर में उनका सम्पर्क एंगिल्स से हुआ और उनके साथ मिलकर एक नवीन समाजवादी विचारधारा मार्क्सवाद का सृजन किया। मार्क्स के विचारों को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। पहला युवा मार्क्स, ये मार्क्स के वो विचार हैं जिनका प्रतिपादन मार्क्स 1848 के "कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो" से पहले किया था। के विचार मार्क्स के मानवतावादी रूप को दर्शाते हैं। और दूसरा परिपक्व या वैज्ञानिक मार्क्स, ये मार्क्स के वे विचार हैं जो पूंजीवाद की उत्पत्ति, उसके नाश, समाजवाद तथा साम्यवाद की स्थापना का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं।

18.3.1 मार्क्स के मानवतावादी विचार: तरुण मार्क्स — मानवतावादी विचार मार्क्स द्वारा रचित निम्न पुस्तकों में देखने को मिलते हैं—“Economic and Philosophical Manuscripts 1844, Thesis of Feuerbach” और The German ideology. युवा मार्क्स मानवतावादी है और मार्क्स के इस काल के विचारों में निम्न संकल्पनाएं व विचार महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं:—

(क) **स्वतंत्रता की संकल्पना:—** मार्क्स के इस काल के विचारों में उसके स्वतंत्रता के विचार सर्वोपरी व प्रमुख है। मार्क्स के अनुसार स्वतंत्रता का आशय 'अभाव का अंत' या विवशता का अंत है। मार्क्स के शब्दों में "साम्यवाद का अर्थ है निजी सम्पत्ति और मानवीय पराएपन का नितान्त उन्मूल और मानवीय प्रकृति का मानव के लिए यथार्थ नियोजन अतः यह स्वयं एक खोये हुए मनुष्य की वापसी है। "इस प्रकार युवा मार्क्स का मानना था कि पूंजीवाद व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य एक यंत्र बनकर रह गया है, उसका मानव रूप कहीं खो गया है। साम्यवाद उस खोए हुए रूप को ढूंढ कर वापस लाता है और प्रकृति के साथ उसके टूटे हुए रिश्ते को फिर से जोड़ देता है। मार्क्स के अनुसार यही स्वतंत्रता है। यह मानव प्रेम व साहचर्य का सिद्धान्त है जिसमें स्वतंत्रता के नाम पर पूंजीवाद के अमानवीय प्रभाव या उससे उत्पन्न विवशताओं का अंत करने की बात कही गयी है। आरम्भिक पाण्डुलिपियों में मार्क्स ने मानव की खोई हुई स्वतंत्रता को फिर से वापस लाने के लिए निजी सम्पत्ति के उन्मूलन का समर्थन किया है।

(ख) **अलगाव या पराएपन की संकल्पना :-** मार्क्स की स्वतंत्रता की संकल्पना के साथ अलगाव व पराएपन की संकल्पना जुड़ी हुई जिसका विशद वर्णन "Economic and Philosophic Manuscripts of 1844 के अन्तर्गत किया गया है। अपनी इस कृति में भी मार्क्स ने पूंजीवादी समाज की तीव्र आलोचना करते हुए पूंजीवाद के अमानवीय प्रभाव तथा उससे उत्पन्न श्रमिक के पराएपन के भाव का उल्लेख किया। मार्क्स ने उल्लेख किया कि पूंजीवाद के यंत्रीकरण के कारण मानव एक मंत्र मात्र बन कर रह जाता है और उसमें स्वाभाविक मानव प्रवृत्तियां प्रेम, अपनापन, सहयोग, लगाव इत्यादि धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं। मार्क्स ने पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत मनुष्य के पराएपन के चार स्तरों की पहचान की—

- (i) **पहला स्तर** जिसमें मनुष्य अपने उत्पाद तथा उत्पादन प्रक्रिया से कट जाता है। मार्क्स का मानना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक से यह नहीं पूछा जाता कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और कैसे किया जाए? जिससे उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और वह अपने द्वारा उत्पन्न उत्पाद से कोई आत्मीयता उत्पन्न नहीं कर पाता। एक मशीन के समान वह वस्तुओं का उत्पादन करता चलाजाता है।
- (ii) **दूसरा स्तर** मनुष्य का प्रकृति से अलगाव या पराएपन मार्क्स का मानना है कि मनुष्य द्वारा जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। वह यंत्रों के कोलाहल से भरपूर कारखानों में किया जाता है। जिससे मनुष्य प्रकृति के रमणीय दृश्यों तथा वातावरण का रस नहीं ले पाता जबकि सामंतयुग में अधिकांश उत्पादन हाथों से खुले में किया जाता था। जिससे मनुष्य को नयी स्फूर्ति व रसानुभूति होती थी अतः कलकारखानों व मशीनों के शोर ने उसे प्राकृतिक दृश्यों व पक्षियों के कोलाहल से विभक्त कर दिया।
- (iii) **तीसरा स्तर**, पूंजीवाद की उन्मुख प्रतिस्पर्धा ने मनुष्य को मनुष्य से पराया कर दिया। पूंजीवादी व्यवस्था की प्रतियोगिता में एक का लाभ आवश्यक रूप से दूसरे की हानि ही होगा। जिससे मनुष्यों के आपसी हितों में टकराव उत्पन्न होता है। सहानुभूति जो मनुष्य की सहयोगकारी प्रवृत्ति को नष्ट करती है। जैसे— जब एक मजदूर बीमार पड़ता है। तो ही उसकी जगह बेकार बैठे मजदूर को काम मिलता है। ऐसी स्थिति में बेकार बैठा मजदूर कैसे बीमार साथी के प्रति सहानुभूति व सहयोग का भाव रख सकता है।
- (iv) **चतुर्थ व अन्तिम स्तर** अपने आप से पराएपन की स्थिति। रचनात्मकता का अभाव व उन्मुख प्रतिस्पर्धा की स्थिति उसे चैन नहीं लेने देती और मनुष्य इसके पीछे सारे मानवीय गुणों से शून्य होता चलाजाता है। अतः उसकी जिन्दगी विवशता की जिन्दगी बन जाती है। इसलिए मार्क्स के अनुसार इस पराएपन की स्थिति या विवशता को

समाप्त करना ही स्वतंत्रता है और इसके लिए पूंजीवादी व्यवस्था को खत्म करना व समाजवादी व्यवस्था कायम करना जरूरी है।

(ग) वस्तुओं की जड़ पूजा की अवधारणा:- मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत पूंजीवाद को एक अन्य विशेषताओं को व्यक्त करता है। यह विचार अलग-अलग के संकल्पना से संबंध है मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद व्यवस्था के अंतर्गत भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन करने वाले लोग एक विशेष सामाजिक संबंध से जुड़े जाते हैं जिसे उत्पाद महत्वपूर्ण होता है और मनुष्य नगण्य। इन सामाजिक संबंधों का भी आधार निपुणता इनके उत्पादन में लगाया गया श्रम ना होकर बाजार में उनके उत्पादनों का विनिमय मूल्य होता है। इस प्रकार पूंजीवाद में मनुष्यों के यथार्थ सामाजिक संबंधों पर मिथ्या संबंध हावी हो जाते हैं।

अतः इस प्रकार मार्क्सवादी चिंतन में जैसे विचारधारा मिथ्या चेतना को व्यक्त करती है उसी प्रकार से वस्तुओं की जड़ पूजा का सिद्धांत मिथ्या सामाजिक संबंधों को व्यक्त करता है। इसके अलावा सिद्धांत श्रमिक व उसके उत्पादन में अलग-अलग की भी व्याख्या करता है।

(घ) आत्मप्रेरित व्यवहार की अवधारणा:- मार्क्स की आत्मप्रेरित व्यवहार की संकल्पना स्वतंत्रता की संकल्पना के साथ जुड़ा हुआ है। मार्क्स ने तर्क दिया कि मनुष्य प्रकृति के निर्विकार नियमों से बांधा रहता है किंतु जब वह प्रकृति के इन नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह इन नियमों के बंधन से मुक्त हो जाता है। और इस नियमों का प्रयोग वह अपनी इच्छा अनुसार कर पाता है। मार्क्स मानना है कि यह अवस्था पराधीनता व विवशता से मुक्ति की अवस्था है। अतः इस प्रकार मनुष्य विवशता के लोक से निकलकर स्वतंत्रता के लोक पर प्रवेश करने में सक्षम हो जाता है। वह स्वयं इतिहास का निर्माता व अपनी नियति का नियन्ता बन जाता है। मार्क्स ने मनुष्य की इस गतिविधि को आत्मप्रेरित व्यवहार की संज्ञा दी।

(ङ) माओ का मूल्यांकन :- माओ को जनपद की सूझबूझ में अगाध विश्वास था उसके समाजवादी क्रांतिकारी की आकांक्षा के साथ-साथ जनसाधारण के सम्मान को महत्व देने का प्रयत्न किया माओ ने चीन में अधिकारी तंत्र को उतना शक्तिशाली नहीं बनने दिया जितना सोवियत संघ में देखने को मिलता है इसी प्रकार माओ ने कृषक वर्ग पर श्रमिक वर्ग के वर्चस्व को स्वीकार नहीं किया उसने श्रमिक वर्ग को केवल कृषक वर्ग के बड़े भाई के रूप में मान्यता दी किंतु व्यवहार में माओवाद समाजवादी सर्वाधिकारवाद का नवीनतम संस्करण था जिसमें जनता व दल के नेताओं को बलपूर्वक समाजवादी ढांचे में ढालने के लिए सांस्कृतिक क्रांति जैसे नवीन उपकरण का प्रयोग किया गया

18.3.2 परिपक्व मार्क्स : वैज्ञानिक समाजवाद:- परिपक्व मार्क्स सामाजिक आर्थिक क्रांति का अग्रदूत था और उसके इस काल के विचार वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। समाजवाद का प्रतिपादन मार्क्स से पूर्व जिन दार्शनिकों ने किया उन्हें कल्पनालोकीय समाजवादी कहा जाता है क्योंकि इन्होंने समाजवादी समाज की स्थापना के लिए काल्पनिक योजनाएं ही प्रस्तुत की और इनके द्वारा प्रस्तुत योजनाएं अव्यावहारिक ही सिद्ध हुई। मार्क्स ही प्रथम वह समाजवादी विचारक था जिसने समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता के कारण, इतिहास उपाय व विषमता विहिन समाज की स्थापना हेतु कार्य योजना प्रस्तुत की। इसीलिए **सी.इ.एन जोड** ने लिखा है कि “मार्क्स ने अपने मनोवांछित समाज का चित्रण मात्र ही नहीं किया अपितु उन अवस्थाओं का भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिन अवस्थाओं को पार कर समाज अपने अंतिम ध्येय तक पहुंचेगा।” मार्क्स ने अपने वैज्ञानिक विचारों को निम्न पुस्तकों में प्रतिपादित किया—

- (i) The Poverty of Philosophy (1847)
- (ii) The Holy Family (1845)
- (iii) The Communist Manifesto (1848)
- (iv) The German Ideology (1845)
- (v) The Critique of political Economy (1859) (Das Capital)
- (vi) The Critique Gotha Program (1875)

वैज्ञानिक समाजवाद या परिपक्व मार्क्सके रूप में निम्न सैद्धान्तिक धारणाओं या सिद्धान्तों का अध्ययन किया जा सकता है:-

(अ) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद:- द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त, मार्क्सवाद को दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। यह सिद्धान्त गैलीलियो व न्यूटन के भौतिकवाद की मान्यताओं को हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के साथ मिलाकर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या देने का प्रयत्न करता है। आधुनिक काल में द्वन्दवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन हीगल द्वारा किया गया और हीगल ने स्थापित किया द्वन्द्वात्मक सत्य तक पहुंचने की एक प्रणाली है। जो विरोधों की एकता पर आधारित है, यह संघर्ष व सामंजस्य की प्रक्रिया से जनित प्रगति का नियम है। इस प्रणाली के तीन चरण होते हैं— वाद (किसी प्रथापना की पुष्टि) प्रतिवाद (पुष्ट प्रस्थापना का खण्डन) तथा सवांद (वाद व प्रतिवाद में निहित

सत्य का अंश या वाद व प्रतिवाद के सत्य अंशों का समायोजन, सामंजस्य)। गहराई से निरीक्षण करने पर सम्वाद में भी त्रुटि दिखयी देती है और सम्वाद की त्रयी फिर से शुरू हो जाती है। इस त्रयी की निरन्तरता तब तक बनी रहती है जब तक की अन्तिम सत्य तक नहीं पहुँचा जायें। अतः इस प्रकार द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग उस प्रक्रिया के लिए किया जाता है। जिसकी यह मान्यता है कि संसार और विचार जगत में प्रगति संघर्ष व समन्वय के तत्त्वों द्वारा होती है।

मार्क्स ने हीगल द्वारा प्रतिपादित इस द्वन्द्वात्मक त्रयी को अक्षरतः स्वीकार किया किन्तु मार्क्स व हीगल के द्वन्द्वात्मक में अन्तर इस प्रक्रिया की चलायमान शक्ति या प्रेरक तत्त्व को लेकर है। हीगल का मानना है कि इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की प्रेरक शक्ति ईश्वर या विश्वात्मा है जबकि मार्क्स के अनुसार वह प्रेरक शक्ति पदार्थ, भौतिक तत्त्व या जड़ तत्त्व है। के भीतर विकास की क्षमता पायी जाती है। तथा भिन्न-भिन्न सामाजिक संस्थाएँ जड़-तत्त्व के बदलते रूप को व्यक्त करती है। अतः हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक आध्यात्मिकवाद का खण्डन करते हुए मार्क्स कहता है कि जड़ तत्त्व की उत्पत्ति चेतन तत्त्व से नहीं बल्कि चेतना स्वयं जड़ तत्त्व के विकास की सर्वोत्तम परिणति है। इसीलिए मार्क्स ने लिखा है कि “मनुष्यों का सामाजिक अस्तित्व चेतना पर आश्रित नहीं है बल्कि उनकी चेतना स्वयं उनके सामाजिक अस्तित्व पर आश्रित है।” यह द्वन्द्वात्मक प्रणाली तीन नियमों पर आधारित है—

(क) **संख्यात्मक व गुणात्मक परिवर्तन का नियम:**— इस नियम की मान्यता है कि वस्तुओं में संख्यात्मक व गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं। संख्यात्मक परिवर्तन अदृश्य होते हैं व शांतिपूर्ण होते हैं किन्तु गुणात्मक परिवर्तन आकस्मिक और झटके के साथ आता है। मार्क्स इस नियम को स्वीकार करता है और प्रतिपादित करता है कि मानवीय प्रगति विकास की क्रमिक प्रक्रिया से प्रभावित नहीं होती लेकिन आकस्मिक झटके से प्रभावित होती है। मार्क्स इन झटकों को क्रांति के नाम से पुकारता है। और इस नियम का प्रयोग क्रांति की अनवार्यता सिद्ध करने के लिए करता है। अर्थात् समाज में गुणात्मक परिवर्तन लोन के लिए क्रांति अनिवार्य है।

(ख) **विरोधों की एकता का नियम:**— यह नियम प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक एकता में परस्पर विरोधी तत्त्व पाये जाते हैं। जो वस्तु हमें ऊपरी तौर पर एकता वाली दिखायी देती है, उसमें अन्तर्विरोधी तत्त्व अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। जैसे प्रत्येक परमाणु में सकारात्मक व नकारात्मक इलेक्ट्रॉन पाये जाते हैं। मार्क्स इस सिद्धान्त को स्वीकार कर बताता है कि समाज की हर अवस्था में दो विरोधी वर्ग पाये जाते हैं। इनमें से कोई भी वर्ग दूसरे के अस्तित्व के बिना विकसित नहीं हो सकता यथा— मालिक—दास, सामंत—कृषक, पूँजीपति—सर्वहारा वर्ग।

(ग) **निषेध के निषेध का नियम:**— इस नियम की मान्यता यह है कि वाद—प्रतिवाद सम्वाद विकास के तीन चरण हैं। अपने आंतरिक अन्तर्विरोधों के कारण वाद का विस्फोट होता है और उसके स्थान पर प्रतिवाद का जन्म होता है यह वाद का प्रथम निषेध है। प्रतिवाद भी अपने अन्तर्विरोधों के कारण बिखर जाता है। और संवाद का विकास होता है इसलिए संवाद को निषेध का निषेध कहा गया। इसके आधार पर मार्क्स कहता है कि सामंतवाद का निषेध पूँजीवाद है और पूँजीवाद का निषेध समाजवाद को जन्म देता है। अतः समाजवाद निषेध का निषेध है और इसमें बाकी दोनों चरणों की तुलना में सत्यांश अधिक होता है।

अतः इस प्रकार हीगल व मार्क्स दोनों यह स्वीकार करते हैं कि जब तक सामाजिक विकास अपने चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाते तब तक प्रत्येक सामाजिक अवस्था अस्थिर होती है किन्तु हीगल के राष्ट्र—राज्य की जगह मार्क्स ने वर्ग विहिन व राज्यविहिन समाज के उदय को सामाजिक विकास की परिणिती माना। इस सिद्धान्त द्वारा मार्क्स स्थापित करता है कि उत्पादन प्रणालियों का विकास जड़-तत्त्व के विकास की अभिव्यक्ति है तथा वर्गों का संघर्ष भी जड़-तत्त्वों के अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति है इसलिए एक अवस्था का दूसरी अवस्था में परिवर्तित होने के लिए क्रांति अनिवार्य व आवश्यक भाव है।

(ब) **इतिहास की भौतिक व्याख्या या आर्थिक नियतिवाद:**— मार्क्स का यह सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का पूरक सिद्धान्त है जो उसे अनभवमूलक आधार प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के द्वारा मार्क्स यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि सामाजिक विकास कोई सीधी सरल रेखा में घटित नहीं होता और न ही इसके पीछे कोई ईश्वरीय प्रेरक कारण होता है। समाज की प्रगति द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा होती है और उसकी दिशा निर्धारित करने वाले भौतिक या आर्थिक तत्त्व होते हैं। आर्थिक तत्त्व से मार्क्स का तात्पर्य है “समाज की उत्पादकीय प्रणाली।” मार्क्स का मानना है कि ये उत्पादकीय प्रणाली में उत्पादन की शक्तियाँ व उत्पादन सम्बन्ध शामिल होते हैं। उत्पादन की शक्तियों से तात्पर्य है कि:—

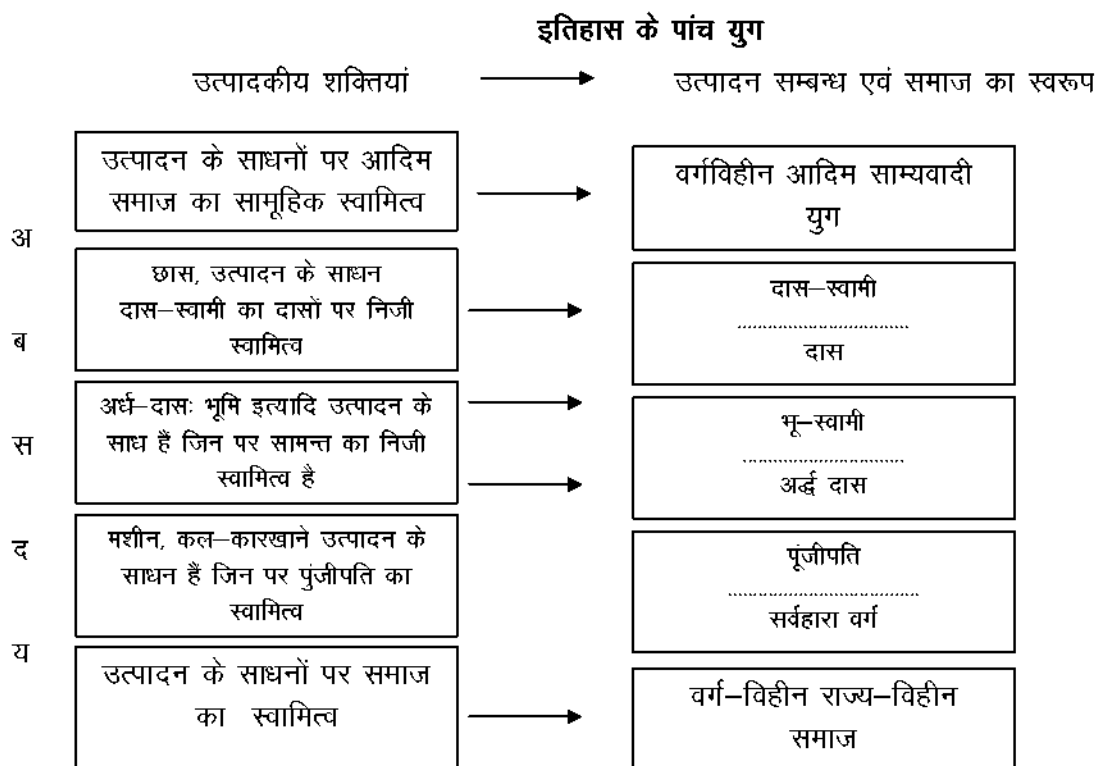
(क) उत्पादन के साधन, उपकरण या यंत्र इत्यादि क्या हैं।

(ख) श्रम शक्ति अर्थात् उत्पादन करने वाले मनुष्यों के ज्ञान, अनुभा तथा क्षमताओं का स्तर क्या है।

इसी प्रकार उत्पादन सम्बन्ध से आशय है कि कौन-सा वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी है इसलिए वह प्रभुत्वशाली वर्ग है तथा कौन-सा पवर्ग इनसे वंचित होने के कारण पराधीन वर्ग की स्थिति में हैं। यथा—स्वामी—दास, जमींदार—किसान, पूंजीपति—श्रमिक के परस्पर सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्धों के उदाहरण हैं। मार्क्स का मानना है कि ये उत्पादन प्रणाली (उत्पादन शक्तियों + उत्पादन सम्बन्ध) ही अपने युग के समाज के स्वरूप का निर्धारण करती हैं ये उत्पादन प्रणालियाँ ही युग विशेष की सभ्यता, संस्कृति, धर्म, दर्शन, विचारधारा इत्यादि का निर्धारण करती हैं। जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन आते हैं तो उसी के साथ सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आ जाते हैं। मार्क्स के अनुसार ये उत्पादकीय शक्तियाँ अपने अनुकूल उत्पादकीय सम्बन्धों का निर्माण करती हैं।

मार्क्स ने भवन निर्माण का उदाहरण देते हुए प्रतिपादित किया कि उत्पादन प्रणाली किसी भी समाज का आधार या नींव है तथा कानूनी तथा राजनीतिक संरचनाएं धर्म, नैतिक आदर्श, सामाजिक प्रथाएं, साहित्य, कला अधिरचना का हिस्सा हैं। अतः सामाजिक विकास के दौरान उत्पादन प्रणाली में जो परिवर्तन होते हैं, उनके परिणाम स्वरूप अधिरचना के सब हिस्सों में उनके अनुरूप परिवर्तन स्वतः आ जाते हैं। मार्क्स का मनना है कि उत्पादन शक्तियों में आमूल परिवर्तन आता है तब प्रचलित उत्पादन सम्बन्ध उन शक्तियों को संभालने योग्य नहीं रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादन की शक्तियों व उत्पादन के सम्बन्धों में संघर्ष होता है तथा इस संघर्ष में उत्पादन शक्तियाँ एक ही झटके में पुराने उत्पादन सम्बन्धों को तोड़ कर नए सम्बन्धों को जन्म देती हैं अर्थात् समाज में गुणात्मक परिवर्तन। और इसके लिए आकस्मिक झटके का काम करती हैं क्रांति। अतः मार्क्स प्रतिपादित करते हैं कि "क्रांति सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य माध्यम है।"

आर्थिक तत्त्व या उत्पादन प्रणाली को समाज के स्वरूप का निर्धारक कारक बनाकर मार्क्स ने मानवीय इतिहास के विकास के चरणों की व्याख्या की। मार्क्स के अनुसार मानवीय इतिहास 5 चरणों में दिखायी देता है। जो निम्नवत हैं—



(स) **वर्ग—संघर्ष का सिद्धान्त:**— मार्क्स का वर्ग—संघर्ष का सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद का पूरक सिद्धान्त है। मार्क्स ने प्रतिपादित किया कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब—जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन हुआ तब—तब सामाजिक वर्गों के परस्पर सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया। और जिस वर्ग का उत्पादन की शक्तियों पर आधिपत्य रहा वह वर्ग प्रभुत्व शाली वर्ग तथा वंचित वर्ग पराधीन वर्ग माना गया। मार्क्स विचारानुसार वर्ग एक सामूहिक एकता है जिसके समान हित होते हैं। इस तरह वर्ग की उत्पत्ति तो आर्थिक आधार पर होती है किन्तु उन्हें पहचान संगठित होने पर ही मिलती है। मार्क्स का प्रतिपादित करता है कि जहां वर्ग उत्पादकीय शक्तियों से निर्मित व्यवस्था है वहीं ये उत्पादकीय शक्तियों ही वर्ग संघर्ष को जन्म देती हैं। इन विरोधी वर्गों के हित कभी सामंजस्यपूर्ण नहीं होते उनमें सदैव अन्तर्विरोध पाये जाते हैं और यही अन्तर्विरोध एक समय की वर्ग व्यवस्था को क्रांतिकारी

परिवर्तनों से समाप्त कर नयी वर्ग व्यवस्था को जन्म देता है। मार्क्स के अनुसार यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक वर्ग विहिन, शोषण विहिन समाज का उदय न हो जाये। इस पर मार्क्स ने लिखा है कि “अभी तक के समस्त समाजों का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है शोषक और शोषित ये दो परस्पर विरोधी वर्ग सदैव एक दूसरे के विरोध में खड़े रहे हैं, कभी खुले रूप से तथा कभी छिपे रूप से, लेकिन ये अनवरत रूप से द्वन्द्व करते रहे हैं क्रांति को जन्म देता है। इस क्रांति के द्वारा पुराना पराधीन वर्ग सत्ता प्राप्त कर सारी राजनीतिक प्रणाली, कानून सामाजिक संस्थाओं एवं नैतिक आदर्शों का पुनर्निर्माण करता है। मार्क्स सामन्तवाद से समाजवाद के युग में प्रवेश के लिए दो क्रांतियों की अनिवार्यता का प्रतिपादन करता है—

(i) बुजुर्ग क्रांति जिसमें बुजुर्ग या पूँजीपति वर्ग सामन्ती अभिजात वर्गीय विशेषाधिकारों का अंत कर कृषकीय समाज के स्थान पर पूँजीवादी समाज की स्थापना करता है।

(ii) सर्वहारा क्रांति जिसमें कामगार या सर्वहारा वर्ग पूँजीपति वर्ग को धराशाही करके समाजवाद की स्थापना करता है।

वर्ग संघर्ष की व्याख्या करते समय समूचे इतिहास में से मार्क्स ने पूँजीवादी युग के वर्ग संघर्ष पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया। मार्क्स की मान्यता है कि इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग क्रांति का मार्ग अपनाता तथा यह संघर्ष उसके जीवन मरण का संघर्ष होता है। इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय के साथ पूँजीपति जैसे शोषक वर्ग की समाप्ति हो जाती है। विजय के प्रथम क्षण या संक्रमणकालीन अवधि में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होती है। जिससे की पूँजीवादी अवशेषों को पूर्णतः समाप्त कर दिया जाए। लेकिन इस संक्रमणकालीन अवस्था से निकलकर अन्त में समाज पूर्णतः वर्गविहिन, राज्य विहिन एवं शोषणविहिन रूप में अवतरित होता है जिसे साम्यवाद की अवस्था कहा जाता है। साम्यवाद की यही वह सर्वोच्च अवस्था है जो पहुँचकर वर्गों का अन्तर्विरोध समाप्त हो जाता है।

(द) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्तः— अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स के आर्थिक विचारों का प्रतिपादन करता है तथा इसके द्वारा विशेष रूप से मार्क्स पूँजीवाद के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग के शोषण की प्रक्रिया का स्पष्ट करता है।

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने प्रतिपादित किया कि वस्तुओं का सामाजिक सार तत्त्व श्रम है। केवल श्रम ही ऐसा तत्त्व है जो समाज के लिए मूल्य का सृजन करता है। अर्थात् मूल्य के उत्पादन में भूमि, पूँजी और संगठन को कोई महत्त्व नहीं होता। श्रम ही किसी वस्तु के मूल्य का यथार्थ स्रोत है। मार्क्स का मानना है कि अन्य वस्तुओं की तरह श्रम शक्ति का भी मूल्य होता है क्योंकि उसे बाजार में बेचा व खरीदा जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर की पूरी क्षमता के अनुसार उससे काम लिया जाता है परन्तु उसे केवल अपने और अपने परिवार के भरण पोषण के लिए निर्वाह—मजदूरी ही दी जाती है चूँकि मजदूर को अपना श्रम बाजार में पूँजीपति के हाथों बेचना पड़ता है इसलिए इसकी कीमत भी मांग और पूर्ति में उतार-चढ़ाव के साथ-साथ घटती बढ़ती रहती है। जैसे-जैसे बाजार में काम की तलाश करने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ जाती है श्रम की बाजार कीमत गिर जाती है। जैसे जहाँ उसे पहले अपने परिवार की औसत दैनिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए छह घण्टे प्रतिदिन काम करना पड़ता था अब बाजार की मांग व पूर्ति के हिसाब से उसे दस घण्टे काम करना पड़ सकता है। इस तरह वह चार घण्टे का अतिरिक्त श्रम करता है। जो कि पूँजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न करता है। मार्क्स के शब्दों में “अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अन्तर है, जिन्हें एक श्रमिक उत्पन्न करता है तथा जिसे वह वास्तव में प्राप्त करता है।” पूँजीपति के द्वारा यह अतिरिक्त मूल्य हड़प लिया जाता है। और इसका प्रयोग वह अपने उत्पादन का विस्तार करके और अधिक मात्रा में अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के लिए करता है। यही मजदूर या श्रमिक के शोषण का प्रमाण है। इस प्रकार मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त द्वारा सर्वहारा वर्ग के शोषण को वैज्ञानिक तरीके से प्रमाणित करता है। चूँकि यह शोषण पूँजीवादी व्यवस्था का स्वाभाविक लक्षण है इसलिए इसके निराकरण के लिए पूँजीवाद का अंत जरूरी है।

(य) विचारधारा का विश्लेषण :— विचारधारा एक ऐसा तत्व है जो प्रभुत्वशाली वर्ग को शासन के लिए वैधता प्राप्त करने में सहायता करता है क्योंकि विचारधारा उन विचारों का समुच्चय है जिनमें कोई समूह व आस्था और विश्वास रखना है। और इन विचारों पर आधारित कानूनी और राजनीतिक ढाँचे को मान्यता प्रदान करता है। मार्क्स के अनुसार किसी भी समाज में प्रचलित विचारधारा और समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों को उचित उठराने का साधन मात्र है। इसलिए मार्क्स विचारधारा को “मिथ्या चेतना” की संज्ञा देता है। मार्क्स का मानना है कि भौतिक जीवन में प्रचलित उत्पादन प्रणाली मानव जीवन की सामाजिक राजनीतिक व सांस्कृतिक स्वरूप का निर्धारण करती है। इसलिए मार्क्स कहता है कि “मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती वरन् उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निर्धारित करता है।” इसलिए मार्क्स का मानना है कि क्योंकि विचारधारा प्रभुत्वशाली वर्ग के निहित स्वार्थ की रक्षा का साधन है इसलिए बुजुर्ग वर्ग को ही विचारधारा की आवश्यकता होती है। इसकी

विपरीत सर्वहारा वर्ग के क्योंकि कोई भी निहित स्वार्थ नहीं होते अतः उसे विचारधारा की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(र) क्रांति का सिद्धांत:- मार्क्स के अनुसार क्रांति सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य माध्यम है क्योंकि जब उत्पादन की शक्तियों का विकास या उनमें परिवर्तन होता है तो पुरानी उत्पादन संबंध इन शक्तियों को संभाल नहीं पाते और वे एकाएक छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के अंतर्गत पुराना पराधीन वर्ग सत्ता प्राप्त कर लेता है और वह सारी राजनीतिक कानूनी, सामाजिक संस्थाओं, नैतिक आदर्शों व संस्कृति का पुनर्निर्माण करता है।

मार्क्स के अनुसार सामंतवाद के समाजवाद के युग में प्रवेश के लिए दो क्रांतियां होना आवश्यक थी— (क) **बुजुर्वा क्रांति**—जिसमें पूंजीवाद वर्ग सामंती अभिजात वर्ग को धराशाही कर के कृषकिय के समाज से जुड़े विशेषाधिकारों का अंत कर पूंजीवाद की स्थापना करता है। (ख) **सर्वहारा क्रांति**— जिसमें सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग को धराशाही करके पूंजीवाद से जुड़े विशेषाधिकारों का अंत कर देता है और समाजवाद की स्थापना करता है। मार्क्स के अनुसार फ्रांसीसी क्रांति बुजुर्वा क्रांति का प्रतीक थी।

(ल) मार्क्स का मूल्यांकन:- मार्क्स द्वारा प्रतिपादित किए गए विचारों ने उसके समर्थकों आलोचकों को दोनों की संख्या में वृद्धि की है। पश्चिमी विचारकों द्वारा समाज के विचारकों की विस्तृत आलोचना की किंतु कहीं-कहीं इन आलोचनाओं में पक्षपात भी देखा गया है किंतु सारी आलोचनाओं को निरर्थक भी नहीं माना जा सकता। अतः उनका निष्पक्ष मूल्यांकन अपेक्षित है।

मार्क्स के विरुद्ध है आप एक लगाया गया कि वह वर्गविहीन राज्यविहीन समाज को अंतिम सत्य के रूप में स्थापित करता है किंतु व्यवहार के धरातल पर यह असंभव है। किंतु उसके दर्शन द्वारा वर्गविहीन समाज की स्थापना तो नहीं की जा सकती किंतु वर्गों के मध्य आर्थिक विषमता को कम किया जा सकता है। इसीप्रकार राज्य विहीन समाज संभव नहीं है किंतु ऐसे राज्य की स्थापना की जा सकती है जिसका ध्येय सार्वजनीक हित को बढ़ावा देना हो।

मार्क्स की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि वह वर्ग संघर्ष का प्रचार करके वर्ग सहयोग की संभावना समाप्त कर देता है तथा क्रांति का संदेश देकर हिंसा को बढ़ावा देता है किंतु यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि मार्क्स क्रांति, वर्गसंघर्ष इत्यादि को कार्य व कारण संबंध में व्याख्या करके अपने दर्शन को वैज्ञानिक आधार प्रधान करता है। मार्क्स इन्हे साम्यवाद की स्थापना के साधन मानता है स्वयं साध्य नहीं इसलिए साध्य स्थाई रहता है वह साधनों का समय काल व परिस्थिति के अनुरूप बदला या परिवर्तित किया जा सकता है। मार्क्स पर यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि उसका सर्वहारा का अधिनायकवाद यथार्थ में शुद्ध अधिनायकवाद का रूप धारण कर लेता है जैसा कि सोवियत संघ व चीन में देखा जा सकता है। किंतु इसके पक्ष में कहा जा सकता है कि मार्क्स ने इसे संक्रमणकालीन अस्थाई अवस्था बताया था। अतः यह दोष मार्क्स के सिद्धांत न होकर उसकी व्यवहारिक क्रियान्विती का दोष कहा जा सकता है। जिसमें अपने व्यक्तिगत हितों के कारण इस अस्थाई व्यवस्था को स्थाई बना दिया गया। अंत में, समाजवाद या साम्यवाद के पतन ने मार्क्स के संपूर्ण दर्शन पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया और आलोचकों ने प्रतिपादित किया कि मार्क्स के विचार वर्तमान में अपनी प्रासंगिकता खो चुके हैं। किंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि मार्क्स का साम्यवाद एक संवैधानिक प्रणाली के रूप में जितना भी विफल हुआ है विचारधारा के रूप में उतना ही विफल नहीं हुआ। मार्क्स का दर्शन आज भी सार्थक है क्योंकि उसमें उत्पीड़ित वर्ग की स्वतंत्रता का संदेश निहित है। समकालीन सभ्यता ने मनुष्य के अलगाव व पराधीनता की जो परिस्थितियां पैदा कर दी उनके आलोचनात्मक विश्लेषण के उपकरण इसमें निहित है। इसने उदारवाद को चुनौती देते हुए प्रतिपादित किया कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता बेमानी है जिसके परिणाम स्वरूप उदारवाद ने स्वयं को सकारात्मक उदारवाद में संशोधित किया अतः संक्षेप में मार्क्स का दर्शन प्रगतिवादी दर्शन है जिसका मुख्य संदेश यह है कि सामाजिक अन्याय की जड़ें समाज व्यवस्था के अंतर्गत ढूंढनी चाहिए और वही उसका प्रतिकार भी किया जाना चाहिए।

18.4 वी.आई. लेनिन (1870-1924)- ब्लादिमीर इलियच लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या कर उन सिद्धान्तों को रूस में क्रांति के द्वारा व्यावहारिक रूप प्रदान किया। मार्क्स व एंगेल्स ने अपना चिंतन 19वीं शताब्दी में प्रस्तुत किया और लेनिन ने इसे 20वीं शताब्दी में व्यावहारिक बनाने के लिए मार्क्सवादी चिन्तन में तीन नए विचारों का समावेश किया जो निम्नवत हैं:-

18.4.1 साम्राज्यवाद का विश्लेषण:- मार्क्स ने अपने चिंतन में प्रत्येक राष्ट्र के स्तर पर पूंजीवाद के अंत के विचार दिये किन्तु लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की एक विशेष अभिव्यक्ति मानते हुए साम्राज्य विरोधी संघर्ष को समाजवादी विचारधारा व कार्यक्रम का एक हिस्सा बनाये जाने पर बल दिया। लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध कृति "Imperialism the highest stage of Capitalism" (1916) में साम्राज्यवाद को पूंजीवाद के एक विशेष रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास किया। लेनिन के अनुसार उन्नत देशों में पूंजीपति अपने बढ़ते हुए लाभ का उपयोग स्वयं नहीं कर पायेंगे अतः वे उसे फिर उद्योगों में लगा देंगे। उन्नत देशों के ये पूंजीपति अपने देश से ख़ुब लाभ कमा लेने

के बाद अल्पविकसित देशों में बाजार तलाशें जहाँ उन्हें कौड़ीयों के मोल कच्चा माल मिले व मुहं मांगें दाम पर तैयार माल के लिए बाजार। ये पूँजीपति अपने देश के मजदूरों को छोटी-छोटी रियायतें देकर शांत कर देते हैं और फिर पूरी ताकत के साथ अल्पविकसित देशों का शोषण शुरू कर देते हैं। अतः लेनिन ने विचार रखा कि 20वीं शताब्दी में अल्पविकसित राष्ट्रों का उसी तरह शोषण किया जा रहा है जैसा कि 18वीं-19वीं शताब्दी में सर्वहारा वर्ग का। अतः अल्पविकसित राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवाद का अंत करने के लिए वही कार्यक्रम या कार्ययोजना तथा भूमिका संभाल लेनी चाहिए जो पूँजीवादी देशों में पूँजीवाद के विरुद्ध सर्वहारावर्ग को संभालनी है। लेनिन के इन्हीं विचारों के परिप्रेक्ष्य में स्टालिन ने कहा था कि “लेनिनवाद, साम्राज्यवादी एवं सर्वहारा वर्गीय क्रांति के युग का मार्क्सवाद है।” इसका तात्पर्य है कि लेनिन को साम्राज्यवादी युग की व्याख्या करने का वही क्षेत्र दिया जाना चाहिए जो श्रेय मार्क्स को पूँजीवाद की व्याख्या के लिए दिया जाता है। लेनिन के अनुसार साम्राज्यवाद मृत प्रायः पूँजीवाद है जिसमें अनेक अन्तर्विरोध हैं जो स्वयं इसे नष्ट करने में सहायक होंगे। साम्राज्यवाद का पहला अन्तर्विरोध, है पूँजी तथा श्रम के मध्य अन्तर्विरोध पूँजीपति निरन्तर श्रमिकों का शोषण करने की प्रवृत्ति रखते हैं अतः इससे उपनिवेशों के श्रमिकों की वर्ग चेतना बढ़ेगी ताकि वे शोषण से अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करने लगेंगे। साम्राज्यवाद का दूसरा अन्तर्विरोध विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के मध्य उपनिवेशों की खोज के निर्मित प्रतियोगिता होगी। यह प्रतियोगिता साम्राज्यवादी देशों के मध्य मुद्दों को जन्म देगी और यह युद्ध साम्राज्यवादियों के विनाश का कारण बनेंगे। मार्क्स के अनुसार एक राज्य में दो वर्ग थे—पूँजीपति व श्रमिक अब संसार में दो वर्ग होंगे— साम्राज्यवादी व अविकसित उपनिवेश अब वर्ग संघर्ष एक राज्य की बजाय सम्पूर्ण विश्व में होगा, व्यक्तियों के बजाय देशों में होगा।

18.4.2 लोकतांत्रिक केंद्रवाद: साम्यवादी दल का सिद्धांत:— अपनी पुस्तक “What is to be done” में लेनिन ने विचार रखा कि मार्क्स का मानना था कि पूँजीवाद की उन्नत अवस्था में सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग के अन्दर वर्ग चेतना का संचार होगा और सर्वहारा वर्ग संगठित होकर पूँजीवाद को धराशायी कर देगा। किन्तु लेनिन ने व्यवहार में अनुभव किया कि सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग का सचेत व संगठित होना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि एक तो ये संख्या में बहुसंख्यक होते हैं और दूसरा पूँजीपति श्रमिक नेताओं को प्रलोभन देकर उन्हें क्रांति के मार्ग से सहजता से विमुख कर देता है। अतः लेनिन ने तर्क दिया कि सर्वहारा वर्ग में चेतना केवल बाहर से लायी जा सकती है। इसके लिए लेनिन ने ‘मजदूर संघ चेतना’ व ‘सामाजिक लोकतांत्रिक’ चेतना में अन्तर करते हुए लिखा है कि सर्वहारा वर्ग की “मजदूर संघ चेतना” तो स्वाभाविक ढंग से प्राप्त हो जाती है किन्तु उनमें सामाजिक लोकतांत्रिक चेतना विकसित करने का कार्य राजनीतिक दल द्वारा किया जायेगा। लेनिन ने रूस में स्वयं ऐसे संगठन की नींव रखी जिसे उसने साम्यवादी दल का नाम दिया। लेनिन ने साम्यवादी दल के लिए “क्रांति की अग्रपंक्ति” की भूमिका निर्धारित की जिसके तहत साम्यवादी दल के निम्न कार्य होंगे— सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व प्रदान करना, क्रांति की भावना का संचार करना व क्रांति के बाद समाजवादी शासन व्यवस्था का संचालन करना।

लेनिन ने साम्यवादी दल के संगठन तथा कार्य के लिए लोकतांत्रिक केंद्रवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार साम्यवादी दल का संगठन या निर्वाचन लोकतांत्रिक तरीके से होगा। संगठन में नीचे की काइयों से लेकर सबसे ऊँची इकाई तक प्रत्येक निर्वाचन लोकतांत्रिक तरीके से होगा। नीचे की इकाई ऊपर की इकाई का निर्वाचन करेगी तथादल में वाद-विवाद परिचर्चा की स्वतंत्रता प्रदान की जायेगी। साथ ही यह लोकतांत्रिक पद्धति ‘केंद्रवाद’ पर भी आधारित होगी अर्थात् अनुशासन को कठोरता से लागू किया जायेगा। एक बार दल की नीति निर्धारित हो जाने के बाद दल के किसी सदस्य या अंग को दल की आलोचना करने का अधिकार नहीं होगा, स्वीकृत नीति को पूरी निष्ठा के साथ लागू किया जायेगा व उसके क्रियान्वयन में किसी भी त्रुटि को सहन नहीं किया जायेगा। अतः इसप्रकार उच्चतर अंगों के निर्णय निम्नतर अंगों तथा दल के सभी सदस्यों पर बाध्यकारी होंगे।

18.4.3 क्रांतिकारी मार्क्सवाद का सिद्धांत:— मार्क्स के बाद उसके अनेक अनुयायी तथा संशोधनवादी विचारक यह मानने लगे थे कि पूँजीवाद से समाजवाद का आवर्तन शैने: शैने: और क्रमिक सुधारों द्वारा भी किया जा सकता है जैसे बर्नस्टाइन जैसे विचारकों ने प्रतिपादित किया कि समाजवाद की प्राप्ति के लिए मजदूर वर्ग को राजनीतिक रूप से संगठित होना चाहिए व लोकतंत्र का विकास करना चाहिए। यहां तक की अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में स्वयं मार्क्स यह मानने लगे थे कि अमेरिका व ब्रिटेन जैसे औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में समाजवाद की स्थापना क्रांति के बिना क्रमिक विकास द्वारा की जा सकती है। लेनिन ने अपनी पुस्तक “The State and Revolution” में इन विचारों का खण्डन करते हुए क्रांति की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। लेनिन ने कहा कि “क्रांति होती नहीं है क्रांति की जाती है।” उसका मत था कि समाजवाद की स्थापना क्रांति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से हो ही नहीं सकता लेनिन ने 6 नवम्बर 1917 को बाल्शविक पार्टी की केन्द्रीय समिति को क्रांति का आह्वान करते हुए “Call to the Revolution” नामक दस्तावेज प्रसारित किया था जिसमें लिखा गया था कि “आज रात अथवा शाम तक क्रांति हो

जानी चाहिए। अन्यथा इतिहास क्रांतिकारियों को कभी माफ नहीं करेगा कि उन्होंने उस समय प्रमाद दिखया जब वे विजयी हो सकते थे।”

दूसरी तरफ लेनिन कोई सिद्धान्तेत्ता न होकर एक महान क्रांतिकारी भी था इसलिए उसने क्रांति की रणनीति की भी विशद व्याख्या की। वह पूरी तैयारी के बिना केवल जोश से शुरू की जाने वाली क्रांतियों का विरोधी था। एबेस्टीन के अनुसार “लेनिन का सबसे बड़ा योगदान उसका पेशेवर क्रांतिकारी का विचार है।” पेशेवर क्रांतिकारी से तात्पर्य उस व्यक्ति से जिसने क्रांति करना व उसे सफल बनाना ही अपने जीवन का पेशा या व्यवसाय बना लिया। लेनिन के अनुसार क्रांति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए प्रशिक्षित मुट्ठी भर क्रांतिकारी हजारों मजदूरों से कहीं अधिक अच्छा काम कर सकते हैं। अतः इस प्रकार लेनिन ने रूस में हुई 1905 की क्रांति की असफलता के बाद भी 1917 की साम्यवादी क्रांति को सफल बना मार्क्स के साम्यवादी-मार्क्सवादी दर्शन को व्यावहारिक रूप से स्थापित करने का पुनित कार्य किया। उसी के सिद्धान्तों व नीतियों पर चलकर आगे अन्य देशों में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया।

18.4.4 लेनिन का मूल्यांकन:- यद्यपि लेनिन को मार्क्सवाद का व्यावहारिक प्रतिपादक माना जाता है तथापि वह समाजवादी दल के एकाधिकार का सृजन कर साधारण कामगार वर्ग की सूझबूझ, विवेक तथा भावनाओं को महत्वहीन कर देता है। कामगार के लिए अपने विचार व्यक्त करने या अपने विचार व्यक्त करने का कोई अवसर नहीं रह जाता और वह दल के हाथ की कठपुतली बनकर रह जाता है। ऐसी हालत में “सर्वहारा का अधिनायकवाद” की व्यवस्था “समाजवादी दल के अधिनायकवाद” में परिवर्तित हो जाती है। अतः इस प्रकार से लेनिन द्वारा प्रतिपादित सम्यवादी दल व उसके गठन से संबंधित “लोकतांत्रिक केंद्रवाद” का सिद्धान्त उसे आलोचना का शिकार बना देता है

18.5 माओ-त्से-तुंग (1893-1976)- जिस प्रकार 1917 में रूस में मार्क्सवाद का व्यावहारिक प्रयोग लेनिन द्वारा किया गया उसी प्रकार से 1949 मार्क्सवादी विचारों का व्यावहारिक प्रयोग माओ द्वारा चीन में किया गया। लेनिन के ही समान माओ एक महान क्रांतिकारी एवं मौलिक विचारक था। चीन युरोप के देशा में समान औद्योगिक देश न होकर एशिया का कृषि प्रधान एक पिछड़ा हुआ देश था अतः जिस प्रकार से लेनिन ने मार्क्सवादी विचारों को रूस के अनुरूप परिवर्तित एवं संशोधित किया उसी प्रकार से माओ ने चीन की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मार्क्सवाद में न केवल संशोधन किया अपितु अपने कुछ मौलिक विचार उसमें जोड़े भी। माओ के राजनीतिक सिद्धान्त व विचार:-

18.5.1 अन्तर्विरोधों का सिद्धान्त:- माओ का अन्तर्विरोधों का सिद्धान्त मार्क्सवाद को माओ की अनुपम व मौलिक देन है। चीन के सामाजिक विकास को स्पष्ट करने हेतु माओ ने यह सिद्धान्त अपनी पुस्तक “On Contradictions” में विस्तार से प्रतिपादित किया। माओ ने प्रतिपादित किया कि अन्तर्विरोध इतिहास के विकास में निहित है—उत्पादकीय शक्तियों व उत्पादन के सम्बन्धों के बीच अन्तर्विरोध, वर्गों के बीच अन्तर्विरोध तथा नये व पुराने के बीच अन्तर्विरोध इत्यादि। इस अन्तर्विरोधों का विकास ही समाज को आगे बढ़ाता है तथा पुराने समाज के स्थान पर नये समाज का मार्ग प्रशस्त करता है। माओ की मान्यता है कि अन्तर्विरोध सार्वभौम है अर्थात् अन्तर्विरोध वस्तुगत पदार्थ, आत्मगत चिन्तन की सभी प्रक्रियाओं में आदि से अन्त तक विद्यमान रहती है तथा साथ ही अन्तर्विरोध वस्तुओं तथा उनके प्रत्येक पहलू में अलग-अलग अपने विशिष्ट रूप से पायी जाते हैं। इसे अन्तर्विरोध की विशिष्टता व सपिक्ता कहा जाता है। माओ स्थापित करता है कि अन्तर्विरोध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं इसलिए हर प्रकार के अन्तर्विरोध को भिन्न प्रकार से हल करना ही न्यायोचित है। जैसा कि माओ ने लिखा है कि “गुणात्मक रूप से भिन्न अन्तर्विरोधों को केवल गुणात्मक रूप से भिन्न साधनों के द्वारा ही हल किया जा सकता है— पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच के अन्तर्विरोध को समाजवादी क्रांति के द्वारा, सामन्ती व्यवस्था व आम जनता के अन्तर्विरोध जनवादी क्रांति द्वारा साम्राज्यवादी व उपनिवेशों के बीच के अन्तर्विरोध राष्ट्रीय क्रांतिकारी युद्धों के द्वारा, समाजवादी समाज में किसानों व मजदूरों के अन्तर्विरोध यंत्रीकरण द्वारा व कम्युनिष्ट पार्टी के अन्दर के अन्तर्विरोध आलोचना व आत्म आलोचना के द्वारा हल किये जा सकते हैं।” इस प्रकार माओ ने स्थापित किया कि अन्तर्विरोध निरन्तर बने रहते हैं। एक अन्तर्विरोध दूसरे को जन्म देता है। ऊपर से कोई समाधान आरोपित करके इन अन्तर्विरोधों को पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता। इन अन्तर्विरोधों के प्रतिकार के लिए राज्य को ज्यादा से ज्यादा शक्तियाँ अपने हाथ में लेनी होंगी। माओ का मानना है कि क्रांति कोई अंतिम समाधान नहीं है अपितु वह केवल अभीष्ट दिशा में प्रगति का एक चरण है। अतः सर्वहारा की अग्रपंक्ति के रूप में साम्यवादी दल अनिश्चित काल तक बने रहना होगा। माओ ने तर्क दिया कि जब सर्वहारा वर्ग सत्ता संभाल लेगा तब भी अंतर्विरोध का नियम सक्रिय रहेगा। अतः समाजवाद के दौर में भी वर्ग संघर्ष का अंत नहीं हो जायेगा अपितु केवल उसका रूप बदल जायेगा।

माओ ने स्पष्ट किया कि आर्थिक मोर्चे पर समाजवादी क्रांति सफल हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि समाजवादी व्यवस्था अपने आप सुदृढ़ हो जायेगी वरन् इसके लिए राजनीतिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक और विचारधारात्मक मोर्चों पर समाजवाद

को बढ़ावा देना जरूरी होगा। इसके लिए कुछ दशक पर्याप्त न होकर इसमें कई शताब्दियों तक लग सकती हैं अतः माओ के अनुसार समाजवादी पुनर्निर्माण के लिए “निरन्तर क्रांति” की आवश्यकता बनी रहेगी।

18.5.2 कृषकों की भूमिका:— मार्क्स व लेनिन दोनों ही विचारकों ने सर्वहारा क्रांति लाने में श्रमिकों या कामगारों की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए रेखांकित किया किन्तु माओ पहला साम्यवादी विचारक था जिसने यह घोषणा कि किसानों में भी क्रांतिकारी कार्यवाही करने की अदम्य क्षमता पायी जाती है। माओ ने लिखा कि “देहाती इलाकों का एकमात्र समूह, जिसने हमेशा कठिनतम संघर्ष चलाया, गरीब किसानों का समूह है।” उसका विश्वास था कि अर्द्ध उपनिवेश चीन में क्रांति को सफल बनाने के लिए श्रमजीवियों की तुलना में कृषकों की प्रभावी भूमिका होगी। और माओ के ये विचार सम्भवतः समूचे चीन के सामाजिक परिवेश के संदर्भ में किये गये उसके व्यावहारिक परीक्षण का परिणाम थे। उसका विचार था कि नए समाजवादी चीन के निर्माण में ग्राम्य क्षेत्र को प्रमुख भूमिका निभानी है जिससे कृषक वर्ग का महत्व स्थापित होता है। इस प्रकार माओ ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त से हटकर कृषक वर्ग पर श्रमिक वर्ग के वर्चस्व को स्वीकार नहीं किया अपितु माओ ने श्रमिक वर्ग को केवल कृषक वर्ग के “बड़े भाई” के रूप में मान्यता दी।

18.5.3 जन पुंज की भूमिका:— लेनिन के अनुसार सामाजिक परिवर्तन में साम्यवादी दल की भूमिका महत्वपूर्ण व अग्रगामी होनी चाहिए वहीं माओ ने प्रतिपादित किया कि क्रांति लाने में जनसाधारण की भूमिका भी उल्लेखनीय हो सकती है। माओ को जनसाधारण की सूझ-बूझ में अगाध विश्वास था। उसने निरन्तर यह मांग की कि साम्यवादी दल को निचले स्तरों से प्रभाव ग्रहण करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। उसका स्पष्ट मत था कि ‘8जब तक देश की जनता जागृत होकर क्रांति में भाग लेने के लिए तत्पर नहीं हो जाती तब तक वे सभी काम जिनमें उनका भाग लेना आवश्यक है, खोखली औपचारिकता मात्र बनकर रह जायेंगे।

18.5.4 सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा:— माओ के अनुसार क्रांति केवल आर्थिक प्रणाली को नया रूप या केवल उत्पादन की वृद्धि पर ध्यान देकर क्रांति पूर्ण नहीं हो जाती। क्रांति का ध्येय सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित समुदाय की भावना को साकार करना है। अतः माओ का मानना है कि राजनीतिक एवं औद्योगिक क्रांति की तरह सांस्कृतिक क्रांति भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वह ज्ञान की नई प्रणाली का सृजन करती है। जो जन साधारण को औद्योगिकीकरण की मूल्यवत्ता का अनुभव कराती है।

माओ ने 1966 में चीनी जनता के बीच एक सांस्कृतिक आन्दोलन का सुत्रपात किया जिसे सांस्कृतिक क्रांति कहा गया। यह एक प्रकार से चीनी जनता को साम्यवादी आदर्शों के अनुकूल ढालने का माओवादी उपकरण था। इस क्रांति को लाने के पीछे माओ के दो मुख्य उद्देश्य थे— पहला, चीन में मार्क्सवादी समाज की स्थापना के लिए जनता को मार्क्सवादी आदर्शों के अनुकूल प्रशिक्षित करना दूसरा, चीन के ऐसे विचलित लोग जो साम्यवादी आदर्शों से विमुख होकर पूंजीवादी आदर्शों की ओर भटक गये थे उनको रोकना। अतः इस प्रकार माओ द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक क्रांति जनता व दल के नेताओं को साम्यवादी ढांचे में ढालने का एक माओवादी प्रयोग था।

18.5 निष्कर्ष:— अतः इस प्रकार मार्क्सवाद मार्क्स, लेनिन व माओ के विचारों व सिद्धांतों की रचना है, इसे परंपरागत मार्क्सवाद भी कहा जाता है इसमें मार्क्स के विचार व लेनिन, माओ की व्यूह रचना सम्मिलित है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. मार्क्सवाद क्या है विवेचना कीजिए?
2. मार्क्स के मानवतावादी सिद्धांतों का विश्लेषण कीजिए
3. मार्क्सवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए?
4. लेनिन द्वारा दिए गए राजनीतिक विचार बताइए?
5. माओ के राजनीतिक विचार बताइए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मार्क्स अवलगांव की अवधारणा क्या थी?
2. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत क्या था?
3. लोकतांत्रिक केंद्रवाद का सिद्धांत क्या था?
4. अंतर्विरोधों का सिद्धांत क्या था?
5. सांस्कृतिक क्रांति से क्या तात्पर्य था?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अतिरिक्त मूल्य से क्या तात्पर्य है?
2. सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा क्या थी?
3. लोकतांत्रिक केंद्रवाद की अवधारणा का क्या तात्पर्य है?
4. आत्मप्रेरित व्यवहार की संकल्पना क्या है?

मार्क्सवाद 2: ल्यूकॉच, ग्राम्स्की और फ्रैंकफर्ट स्कूल

19.1 उद्देश्य

19.2 प्रस्तावना

19.3 जॉर्ज ल्यूकॉच

19.3.1 अलगाव या पराएपन की संकल्पना

19.3.2 चेतना का सिद्धांत

19.3.3 पात्र व वस्तु का सिद्धांत

19.4 ग्राम्स्की

19.4.1 प्राधान्य की संकल्पना

19.4.2 नागरिक समाज की अवधारणा

19.4.3 राज्य की सापेक्षिक स्वायत्तता का सिद्धांत

19.4.4 बुद्धिजीवियों की भूमिका की संकल्पना

19.5 फ्रैंकफर्ट स्कूल

19.5.1 आलोचनात्मक सिद्धांत

19.6 निष्कर्ष

19.1 उद्देश्य — प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य नव मार्क्सवाद के प्रतिनिधि विचार संप्रदायों की विवेचना करना है जिससे कि—

- ल्यूकॉच के नव मार्क्सवाद विचारों को समझा जा सके।
- ग्राम्स्की की अवधारणाओं के महत्व को समझा सके।
- फ्रैंकफर्ट स्कूल के विचार व योगदान को जाना जा सके।

19.2 प्रस्तावना —मार्क्स ने कुछ सिद्धांतों का निर्माण किया तथा लेनिन व माओ ने इन्हें व्यवहारिक रूप में परिणित किया। किंतु सिद्धांत व व्यवहार में अंतर देखा गया। इसी अंतर को समझने का प्रयास समकालीन विचारकों ने किया जिन्हें सम्मिलित रूप से नव मार्क्सवादी विचारक का जाता है। इन विचारकों ने वैज्ञानिक समाजवाद के स्थान पर मानवतावादी मार्क्सवाद या तरुणमार्क्स के विचारों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया।

19.3 जॉर्ज ल्यूकॉच :- (1885–1971)— जार्ज ल्यूकॉच आधुनिक मार्क्सवादी विचारक का जन्म हंगरी में हुआ और उन्होंने नव मार्क्सवाद के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। ल्यूकॉच ने अपनी पुस्तक “The History and Class Consciousness” 1923 में मार्क्सवादी चिन्तन को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समझने व विकसित करने का प्रयास किया। ल्यूकॉच वह पहला मार्क्सवादी विचारक था जिसने मार्क्सवाद में ऐतिहासिक भौतिकवाद के स्थान पर चेतना सिद्धान्त को मुख्य सिद्धांत के रूप में स्थापित किया। उनकी कुछ रचनाएँ **सोल एण्ड फार्म (1910)**, **हिस्ट्री ऑफ डवलपमेंट ऑफ मॉडर्न डामा (1911)**, **ऐस्थैटिक कल्चर (1913)** तथा **थ्योरी ऑफ नॉवल (1916)** है। आरंभ में ल्यूकॉच पर प्लेटों व हीगल के विचारों को काफी प्रभाव था। वे उनकी भाँति नैतिक आदर्शवाद की ओर आकर्षित थे। परन्तु बाद में मार्क्सवाद ने उन्हें प्रभावित किया और वे हंगरी के साम्यवादी दल के सदस्य बनकर साम्यवादी आंदोलन से जुड़ गए। वे 1919 में साम्यवादी सरकार में शिक्षा मंत्री बने। जब हंगरी में साम्यवादी शासन का पतन हो गया, तब नई सरकार बनी। हंगरी की नई सरकार ने ल्यूकॉच पर मुकदमा चलाया और उन्हें मृत्युदण्ड की घोषणा की। इस पर वे हंगरी छोड़कर भाग आए और ऑस्ट्रिया, जर्मनी तथा सोवियत संघ में अगले बीस वर्ष तक रहे। उन्होंने ऑस्ट्रिया में रहते हुए **‘हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शसनेस’** लिखी, जिसने बड़ी संख्या में मार्क्सवादियों का ध्यान आकर्षित किया और उन्हें प्रभावित किया।

1956 में वे हंगरी में हमरे की साम्यवादी सरकार में संस्कृति विभाग के मंत्री बने। कुछ महीने उन्होंने इस पद पर कार्य किया इसके पश्चात् इस सरकार का पतन हो गया। 1957 में लुकाक्स पुनः हंगरी लौट आया। जीवन के अंतिम चरण में

भी वे दार्शनिक व साहित्यिक रचना लिखते रहे। 4 जून, 1971 को ल्यूकॉच का निधन हो गया। ल्यूकॉच शासकों की भौतिक शक्तियों की अपेक्षा चेतना की भूमिका को अधिक प्रधानता देते हैं। ल्यूकॉच के विचारों को निम्न रूपों में समझा जा सकता है यथा—

19.3.1 अलगाव या पराएपन की संकल्पना :- जार्ज ल्यूकॉच ने 20वीं शताब्दी के पहले और दूसरे दशकों में पूँजीवादी समाज में पराएपन व जड़वस्तुकरण पर एक लेखमाला लिखी। जिसके अन्तर्गत उसने प्रतिपादित किया कि वस्तुओं की जड़पूजा का सिद्धान्त मिथ्या सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या करता है। उसका मानना है कि वस्तुओं की जड़पूजा मनुष्य (कामगार या श्रमिक) तथा वस्तु (उसके उत्पादन) में अलगाव को स्पष्ट करता है। क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुएँ उनके निर्माण में काम आने वाली निपूणताओं व श्रम की मात्रा का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि उनकी बाजार कीमत को व्यक्त करती हैं। जार्ज ल्यूकॉच ने जब अपनी लेखमाला प्रकाशित की तब तक मार्क्स की “Economic and Philosophical Manuscripts of 1844”, प्रकाश में नहीं आयी थी अतः ल्यूकॉच द्वारा प्रतिपादित अलगाव का विचार उसकी सूझबूझ व मौलिकता का परिणाम कहा जा सकता है। बाद में जब मार्क्स की अज्ञात पाण्डुलिपियाँ प्रकाशित हो गयीं तब अलगाव की अवधारणा पर व्यापक विचार विमर्श किया गया। वस्तुतः ल्यूकॉच ने अलगाव की जिस धारणा का प्रयोग किया है वह हेगेल की तर्क शैली पर आधारित है।

19.3.2 चेतना का सिद्धांत:- ल्यूकॉच ने मार्क्स के द्विधात्मक भौतिकवाद का खण्डन किया। मार्क्स ने प्रतिपादित किया था कि पूँजीपति व सर्वहारा वर्ग में संघर्ष होगा तब सर्वहारा क्रांति द्वारा पूँजीवाद का उन्मूलन होगा। किन्तु मार्क्स का यह कथन सत्य साबित नहीं हुआ और पूँजीवादी अनेक संकटों के साथ बदता गया। ल्यूकॉच ने तर्क दिया कि केवल सर्वहारा ही पूँजीवाद का अंत करने के लिए पर्याप्त नहीं है। सर्वहारा के अस्तित्व के साथ उसमें क्रांतिकारी चेतना का होना भी आवश्यक है। ल्यूकॉच एंजेल्स द्वारा माननीय व्यवहार के विषय में दिये गये विचार से भी सहमत नहीं थे। ल्यूकॉच के अनुसार शासकों की भौतिक शक्तियों की अपेक्षा चेतना की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है। उनका मानना था कि भौतिक परिस्थितियाँ इतिहास को नहीं बदल सकती। ल्यूकॉच ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद का विरोध करते हुए कहा कि सामाजिक क्रांति पूँजीवाद में विरोधाभास की तीव्रता का हल नहीं होती व जब एक वर्ग इन विरोधाभासों के बारे में सचेत होता है, तब सामाजिक क्रांति होती है। अतः ल्यूकॉच मानवीय चेतना की रचनात्मकता पर बल देता है। ल्यूकॉच ने प्रतिपादित किया कि उत्पादन के साधनों एवं सम्बन्धों में विरोधाभास उत्पन्न होने मात्र से समाज में परिवर्तन नहीं आता बल्कि जब सर्वहारा वर्ग विरोधाभास को समझ लेता है तब समाज में परिवर्तन आता है। तात्पर्य है मस्तिष्क पहले और पदार्थ बाद में। अर्थात् केवल सर्वहारा का शोषण तथा उसका अलगाव होना क्रांति लाने के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु क्रांति लाने के लिए आवश्यक है कि सर्वहारा वर्ग शोषण व अलगाव के प्रति सचेत हो। जब वह जानेगा कि उसका शोषण हो रहा है तभी वह उसका विरोध कर पायेगा। यह किसी न किसी रूप में हीगलवादी तर्क था अर्थात् सचेतन पहले व पदार्थ बाद में।

मार्क्स के साथ ही साथ ल्यूकॉच लेनिन में अंगपक्ति सिद्धांत का भी खण्डन करता है। लेनिन का मानना था कि सर्वहारा वर्ग में चेतना बाहरी तत्वों के द्वारा आती है। ल्यूकॉच साम्यवादों दल को सर्वहारा वर्ग का अग्रणी नहीं मानते। उसका मानना है कि क्रांति की चेतना लाने के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। निरन्तर शोषण व अलगाव को बरदाश्त करने के कारण यह चेतना स्वतः हो जागृत हो जाती है।

19.3.3 पात्र व वस्तु का सिद्धांत :- अपने चेतना के सिद्धांत का विस्तार करते हुए ल्यूकॉच ने लिखा कि जब सर्वहारा स्वयं का पूँजीवाद में केवल एक वस्तु के रूप में देखना है तो दूसरा यह अर्थ नहीं है कि वह वास्तव में मात्र वस्तु है अपितु वह परिवर्तन करने वाला या पात्र बन जाता है। जब सर्वहारा में चेतना का संचार होता है तो वह न केवल वास्तविकता को समझ जाता है अपितु वह उसके परिवर्तन के लिए सक्षम भी बन जाता है। वस्तु व पात्र एक दूसरे के साथ सहअस्तित्व की स्थिति में रहते हैं किन्तु उनके बीच आधार – अधिरचना का सम्बन्ध नहीं होना। इसीलिए मार्क्स में विपरित ल्यूकॉच प्रतिपादित करता है कि भौतिक परिस्थितियाँ इतिहास को नहीं बदल सकती हैं वरन् सचेतन इतिहास की प्रक्रिया में ऐसा माध्यम है जो इतिहास को बदल देता है। सचेतन एक चालक शक्ति है जिससे भौतिक परिस्थितियों को बदला जा सकता है। अर्थात् सर्वहारा की चेतना उसके अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियों को बदल सकती है। इस क्रांतिकारी सचेतन या चेतना को प्राप्त करके ही सर्वहारा “इतिहास की एक वस्तु रूप” से निकलकर “इतिहास के एक पात्र रूप” में बदल सकता है।

19.4 ग्राम्स्की (1891–1973)– नव मार्क्सवादी विचारों को में ग्राम्स्की को महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि उसने मार्क्स के विचारों को प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध के बीच की स्थिति के संदर्भ में संशोधित कर एक नया स्वरूप प्रदान किया। उसने पूरे विश्व में तथा विशेषकर यूरोप में क्रांति की वस्तुनिष्ठ परिस्थितियाँ होने पर भी मार्क्सवादी क्रांति ना हो पाने के कारणों का विश्लेषण किया उसके द्वारा लिखी गई पुस्तक “The Prison Notebooks” जो 1929 से 1936 के मध्य लिखी गई उसके विचारों का सही प्रतिनिधित्व करती है। ग्राम्स्की के विचारों को निम्न रूपों में समझा जा सकता है यथा—

19.4.1 प्राधान्य की संकल्पना— ग्राम्शी के चिंतन में प्रबल नेतृत्व से पूँजीवाद के वैचारिक आधिपत्य या प्राधान्य का बोध होता है। प्राधान्य वह गुण है, जिसके बल पर किसी समाज का शासक वर्ग जनसाधारण के मन में उन मूल्यों के प्रति स्वाभाविक आस्था पैदा कर देता है। जो उसकी सत्ता को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होते हैं। इतालवी मार्क्सवादी एन्टोनियो ग्राम्शी ने पूँजीवाद का विश्लेषण करते हुए यह तर्क दिया है। कि आधुनिक बुजुर्ग समाज की दृढ़ता का मुख्य स्रोत शासक वर्गों का प्राधान्य है जो उनकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सर्वोच्चता के रूप में व्यक्त होता है। यह वर्ग नागरिक समाज की संस्थाओं के माध्यम से सम्पूर्ण जनसंख्या को अपनी मूल्य प्रणाली से हृदयंगम करा देता है। दूसरे शब्दों में, उन्नत पूँजीवाद के अन्तर्गत प्रभुत्वशाली वर्ग, परिवार, पाठशाला और धार्मिक संगठन जैसी संस्थाओं के माध्यम से जनसाधारण के मन में पूँजीवादी मूल्यों और मान्यताओं के प्रति आदर की भावना पैदा कर देता है। अतः उसे अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए बल प्रयोग का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ग्राम्शी ने अपने युग की (20वीं सदी) दशाओं को देखते हुए परम्परागत मार्क्सवाद की इस धारणा में संशोधन किया कि क्रान्ति श्रमिकों के माध्यम से ही होगी। ग्राम्शी ने 75 वर्ष पूर्व मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर सम्भावित क्रान्ति होने की आशंका को रद्द घोषित कर दिया तथा कहा कि प्रत्येक देश की परिस्थितियों, परम्पराओं वर्ग-संरचना, औद्योगिक व सांस्कृतिक प्रगति का स्तर अलग-अलग होता है। इसलिए साम्यवाद की स्थापना के लिए कोई बना-बनाया फार्मूला नहीं हो सकता। ग्राम्शी ने देखा कि, पूँजीपति एवं श्रमिक वर्ग के बीच जब घनिष्ठ सहयोग पैदा हो चुका है, मजदूर वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था का एक आवश्यक व अपरिहार्य हिस्सा बन चुका है, तो ऐसी दशाओं में उससे पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति करने हेतु प्रोत्साहित करना या क्रान्ति के बारे में चिंतन करने हेतु कहना मूर्खता होगी। इसका कारण बताते हुए ग्राम्शी ने लिखा है कि आज पूँजीवाद केवल हिंसा या राजनीतिक-आर्थिक बाध्यताओं द्वारा ही नहीं बल्कि श्रमिकों की चेतना के ऊपर एक वैचारिक आधिपत्य स्थापित कर उनके सोचने-समझने के तरीके पर भी नियंत्रण स्थापित कर चुका है। इस नियंत्रण का परिणाम यह हुआ कि, सर्वहारा वर्ग के सोचने-समझने का तरीका भी वही हो गया कि जो पूँजीवादी वर्ग का है। यह वैचारिक आधिपत्य श्रमिक वर्ग की मानसिक स्थिति को इस सीमा तक प्रभावित कर देता है कि उनके अपने 'विचार' और मूल्य (जो कि श्रमिक वर्ग में परम्परागत रूप से होने चाहिए) पूरी तरह परिवर्तित हो जाते हैं।

ग्राम्शी के अनुसार सत्ताधारी वर्ग (पूँजीपति) अपने मूल्यों व विचारों का इस प्रकार प्रसार करता है कि श्रमिक वर्ग की परम्परागत चेतना की विलुप्त हो जाये और वह पूँजीवादी व्यवस्था एवं औद्योगिकरण के प्रति पूरी तरह समर्पित श्रमिक बन जाये। इसके लिए पूँजीपति वर्ग 'राज्य' के माध्यम से समाज की मनः स्थिति पर आधिपत्य स्थापित करने वाली संस्थाएं तैयार करता है। मार्क्स जहाँ केवल आधार (जो कि समाज की आर्थिक संरचनाओं—उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्ध को व्यक्त करता है) और अधिसंरचना (जो कि आधार के ऊपर स्थापित राजनीतिक संस्थाओं मूल्यों, विचारों एवं विश्वास को व्यक्त करता है) की बात करता है, वहीं ग्राम्शी इस अवधारणा को एक कदम और आगे बढ़ाता है और अधिसंरचना को दो प्रकार की संस्थाओं में विभक्त करता है। इसमें से प्रथम संस्थाएं वह हैं जो 'आधार' के अधिक समीप हैं। इसमें परिवार, चर्च एवं स्कूल आते हैं। ये संस्थाएं नागरिकों को बचपन से ही सामाजिक व्यवहार, नियमों एवं मान्यताओं से परिचित कराती हैं तथा नागरिकों के मन में यह स्थापित करने का प्रयास करती हैं कि शासक वर्ग के प्रति सम्मान रखना चाहिए। द्वितीय प्रकार की संस्थाओं के अन्तर्गत ग्राम्शी पुलिस, सशस्त्र बलों, कानूनी संस्थाओं/सत्ता की संरचनाओं या संस्थाओं को सम्मिलित करता है ये संस्थाएं अपनी मूल प्रकृति में बाध्यकारी आदेश-निर्देश निर्गत करती हैं जिनका पालन अनिवार्य है ग्राम्शी इन दोनों संस्थाओं को 'वैधता की संरचनाएं' कहता है। पूँजीवादी समाज की स्थिरता एवं प्रगति के लिए इन संरचनाओं को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है ग्राम्शी का मत है कि साम्यवाद केवल पूँजीवादी राज्य को समाप्त करने मात्र से नहीं आएगा, वरन् उसे विचारों आदर्शों, मूल्यों एवं मान्यताओं के क्षेत्र में भी पूँजीवादी द्वारा प्रायोजित इन संरचनाओं को समाप्त करना होगा। वस्तुतः ग्राम्शी का आग्रह आर्थिक परिवर्तनों की तुलना में सामाजिक परिवर्तनों की आवश्यकता के प्रति अधिक है।

19.4.2 नागरिक समाज की अवधारणा— पूँजीवादी राज्य अपने को सफलतापूर्वक स्थापित व संचालित करने के लिए 'सहमति' और 'शान्ति' दोनों का प्रयोग करता है। ऐसा राज्य पूँजीपति वर्ग की सहमति प्राप्त करके तथा सर्वहारा वर्ग (पूँजीपतियों के अतिरिक्त समाज के मेहनत-मजदूरी करने वाले व्यक्तियों का वर्ग) को शक्ति का भय दिखाकर शासन करता है। ग्राम्शी पूँजीवादी समाज की अधिरचना के दो स्तरों में अंतर करता है—

(क) इनमें एक स्तर 'नागरिक समाज' है, जो 'आधार के निकट' है। इसमें परिवार, पाठशाला और धार्मिक संस्थाएँ आती हैं, जो पूँजीवादी समाज की वैधता स्थापक संरचनाएँ हैं।

(ख) दूसरा स्तर 'राजनीतिक समाज' है, जिसमें राज्य की बल प्रयोगमूलक संरचनाएँ आती हैं। ये दोनों तरह की संरचनाएँ मिलकर पूँजीवादी संस्कृति में प्रभुत्व की संरचनाओं का निर्माण करती हैं।

ग्राम्शी ने नागरिक समाज की भूमिका को विशेष महत्व दिया है, क्योंकि इसकी संस्थाएँ नागरिकों को समाज में व्यवहार के नियमों से परिचित कराती हैं और उन्हें यह शिक्षा देती है कि शासक-वर्गों के प्रति स्वाभाविक सम्मान का भाव रखना चाहिए। बुजुर्ग समाज अपनी स्थिरता के लिए नागरिक समाज की संरचनाओं की कार्यकुशलता पर आश्रित होता है।

नागरिक समाज का आधार सहमती है। इसमें वैयक्तिक प्रयासों के फलस्वरूप निर्मित संस्थाएं आती हैं, जैसे स्कूल परिवार एवं चर्च। 'नागरिक समाज' की अवधारणा ग्राम्शी ने हीगेल से ग्रहण की है, न कि मार्क्स से।

'राजनीतिक समाज' के बारे में ग्राम्शी का कथन है कि यह विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं से मिलकर बनता है और जनता के ऊपर संवैधानिक ढंग से नियंत्रण स्थापित करने का साधन है। इसके आदेशों की अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि यदि ऐसा किया गया तो दंड का भागी बनना पड़ेगा। राज्य शक्ति-सम्पन्न होने के कारण दंड का भय दिखाकर शासन करता है।

19.4.3 राज्य की सापेक्षिक स्वायत्तता का सिद्धांत- ग्राम्शी के आधार और संरचना का ही भाग राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता का सिद्धान्त है। यह सापेक्ष शब्द का अर्थ यह प्रकट करता है कि राज्य आर्थिक कारकों से प्रभावित होता है, लेकिन एकमात्र आर्थिक कारकों से नहीं, क्योंकि राज्य को नागरिक समाज तथा उसके घटक (परिवार, चर्च, पाठशाला) भी प्रभावित करते हैं। अर्थात् संरचना रूपी राज्य आधार रूपी अर्थव्यवस्था से सापेक्ष रूप में स्वायत्त है। अतः संरचना केवल आधार पर ही निर्भर नहीं होती, बल्कि आधार के अतिरिक्त अन्य कारकों से भी प्रभावित होती है। यहाँ पर ग्राम्शी **क्रोचे** से प्रभावित है। अतः ग्राम्शी मॉर्क्स की मान्यता से सहमत नहीं है, जिसके अनुसार राज्य आर्थिक कारकों से नियत है। दूसरी तरफ ग्राम्शी मैकियावेली (1469-1527) के विचारों का भी अनुयायी नहीं है, जिसने राज्य को निरपेक्ष रूप में स्वायत्त मान लिया था। इस प्रकार ग्राम्शी का विचार मॉर्क्स और मैकियावेली के बीच में है, क्योंकि ग्राम्शी के विचार में राज्य की प्रकृति का पूर्ण निर्धारण अर्थव्यवस्था से नहीं हो सकता। इसके निर्धारण में साहित्य, धर्म, संस्कृति एवं नागरिक समाज का भी महत्व होता है।

ऐतिहासिक समवाय सिद्धांत-ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज में आधिपत्य बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा किया जायेगा, लेकिन उसके बुद्धिजीवी वर्ग का अभिप्राय संगठित बुद्धिजीवी वर्ग से था और इस संगठित बुद्धिजीवी को ग्राम्शी ने इटली के साम्यवादी दल के रूप में प्रस्तुत किया है और यह संगठित बुद्धिजीवी मूल रूप में सर्वहारा वर्ग का बुद्धिजीवी है, क्योंकि यह समाज में परिवर्तन हेतु कार्य करता है और जब यह बुद्धिजीवी वर्गसमाज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगा एवं समाज के सभी वर्गों की सहमति प्राप्त कर लेगा तो ऐसी घटना ग्राम्शी के अनुसार **ऐतिहासिक समवाय** के रूप में विदित होगी।

ऐतिहासिक समवाय (हिस्टोरिकल ब्लॉक) का आशय है, समाज में पूँजीवादी मूल्यों के स्थान पर साम्यवादी मूल्यों को स्थापित किया जाना। अतः ग्राम्शी भी लेनिन की भौति दल की भूमिका को निर्णायक रूप में स्वीकार करता है, साथ ही ग्राम्शी, मैकियावेली के 'प्रिन्स' से भी प्रभावित है, जिसमें नए समाज के निर्माण का संकल्प है।

ग्राम्शी के अनुसार ऐतिहासिक समवाय के अविर्भाव में तीन स्तरों पर शक्तियों विकसित होती हैं- सामाजिक शक्ति का स्तर, राजनीतिक शक्ति का स्तर और जैविक शक्ति का स्तर। ग्राम्शी सामाजिक शक्ति को महत्वपूर्ण मानता है लेकिन सैनिक शक्तियों को निर्णायक मानता है।

19.4.4 बुद्धिजीवियों की भूमिका की संकल्पना- समसामयिक संदर्भों में विचारवाद को अत्यधिक महत्व देने के कारण ग्राम्शी को **'बौद्धिकों का मार्क्सवादी'** कहा जाता है। समाज में बुद्धिजीवियों की भूमिका पर ग्राम्शी ने अत्यंत सारगर्भित चिंतन प्रस्तुत किया गया है। उसका एक प्रसिद्ध कथन है कि- "सभी मनुष्य बौद्धिक होते और सभी में बौद्धिक गुणवत्ता पाई जाती है। लेकिन सभी मनुष्य बुद्धिजीवियों/बौद्धिकों के सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करते हैं।"

ग्राम्शी बुद्धिजीवियों को ऐसी भूमिका प्रदान करना चाहता है जिससे कि वे समाज में पूँजीवादीयों द्वारा प्रायोजित **'वैचारिक आधिपत्य'** के साधनों का प्रत्युत्तर तैयार करें अर्थात् एक **'प्रति वैचारिक आधिपत्य'** का वातावरण बनाए। ग्राम्शी का यह बोध था कि बिना सामूहिक या व्यापक जनसहभागिता के पूँजीवाद का समाजवाद में रूपांतरण नहीं होगा। उसने कहा कि, समाज के अभिजन वर्ग द्वारा या कुछ लोगों द्वारा समर्थित क्रांतिकारी आंदोलन समाजवाद नहीं ला सकता और न ही किसी संगठित दल द्वारा ही समाजवाद की प्राप्ति संभव है। अतः जब तक श्रमिकों की व्यापक, सम्पूर्ण एवं समर्पित सहभागिता नहीं होगी तब तक समाजवाद का आगमन हो सकता है। इस सहभागिता के लिए ग्राम्शी बुद्धिजीवियों की भूमिका को महत्वपूर्ण मानता है क्योंकि वे ही समाज को व्यापक परिवर्तनों की ओर प्रेरित कर सकते हैं।

ग्राम्शी के अनुसार, बुद्धिजीवी दो प्रकार के होते हैं-पारंपरिक और जैविक।

पारम्परिक बुद्धिजीवी के बारे में ग्राम्शी का मत है कि ये बुद्धिजीवी यथार्थता एवं वर्गीय चेतना से कटे हुए होते हैं। पारंपरिक बुद्धिजीवी स्वयं को स्वतंत्र एवं स्वायत्त बताते हैं लेकिन वास्तव में वे ऐतिहासिक रूप से मरणोन्मुख वर्ग के हितों के प्रति समर्पित रहते हैं।

जैविक बुद्धिजीवियों के विषय में ग्राम्शी की मान्यता है कि ये सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना से युक्त होने के कारण सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में अपनी सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करते रहते हैं। जब तक क्रान्ति नहीं हुई रहती है तब तक सर्वहारा वर्ग पूँजीपतियों के **'वैचारिक आधिपत्य'** से दबा रहता है, लेकिन जब क्रान्ति हो जाती है, तो

सर्वहारा वर्ग की भावी क्षमता एवं चेतना को जगाना इसी जैविक बुद्धिजीवी वर्ग का काम हो जाता है। ग्राम्शी ने यहाँ तक कहा है कि श्रम वाले वर्ग को अपना 'जैविक बुद्धिजीवी वर्ग' तैयार करना चाहिए।

ग्राम्शी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में सोचने एवं उसे क्रियान्वित करने की क्षमता होती है। केवल उन व्यक्तियों की क्षमताओं को दोहन एवं उसका समन्वय करने की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को पूरा करने का उत्तरदायित्व जैविक बुद्धिजीवी वर्ग का है।" इस प्रकार वह जैविक बुद्धिजीवी वर्ग को अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्व प्रदान करता है।

ग्राम्शी केवल सामाजिक परिवर्तन के लिए वैचारिक संघर्ष नहीं चाहता, वरन् वैचारिक संघर्ष के द्वारा सामाजिक चेतना का अभ्युत्थान और उसका जन-जन में प्रसार चाहता है। जैविक बुद्धिजीवी का समूह तैयार करने में ग्राम्शी के अनुसार स्थानीय समुदायों में शिक्षा का प्रसार करने वालों (स्थानीय शिक्षकों) की महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। इसके लिए ग्राम्शी स्कूल-प्रणाली में भी व्यापक परिवर्तन चाहता है क्योंकि तत्कालीन स्कूल प्रणाली पूँजीपतियों के हितों की पूर्ति करती थी और उनके वैचारिक आधिपत्य को स्थापित करने का एक आवश्यक साधन थी। वह शिक्षा को सामाजिक, परिवर्तन के एक बड़े साधन के रूप में देखता है। यह सामाजिक परिवर्तन लंबे समय में होगा। यह निरंतर चलने वाला 'परिस्थितिजन्य संघर्ष' है। यह परिवर्तन आगे चलकर भविष्य में एक ऐसी स्थिति तैयार कर देगा जब समाजवादी विचारधारा से प्रेरित लोग पूँजीवादी संस्थानों के विरुद्ध 'सक्रिय संघर्ष' अथवा 'सामने से आक्रमण' कर सकेंगे। ग्राम्शी षडयंत्र के द्वारा समाजवादी क्रान्ति को संभव नहीं मानता। वह बुजुर्ग आ संस्कृति के विचारवादी स्तंभों पर दीर्घ प्रहार (लंबे समय तक चलने वाला प्रहार या संघर्ष) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। ग्राम्शी रूस की 1917 ई० की क्रांति को साधन मानता है क्योंकि उससे समाजवाद के सारे लक्ष्य प्राप्त नहीं हो गए। इसलिए वह उस क्रांति को 'परिस्थितिजन्य संघर्ष' के अन्तर्गत रखता है। वह मानता है कि जब समाजवाद का लक्ष्य बिल्कुल निकट होगा, तभी सामने से आक्रमण उचित कहा जा सकता है। जब सामने से आक्रमण होगा तभी समाजवाद का उदय होगा। इसके लिए नागरिक समाज तथा जैविक बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी क्षमताओं का सम्पूर्ण दोहन तथा समन्वय करने की आवश्यकता है। वैचारिक आधिपत्य का मुकाबला करने हेतु 'प्रति वैचारिक अधिपत्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वह पूँजीवाद को उसी के आजमाए हथियारों से पराभूत करता है। ग्राम्शी ने बताया कि सत्ता का संघर्ष 'विचारों के व्यापक परिवर्तन' से भी जीता जा सकता है और इसमें शिक्षा व्यवस्था तथा बुद्धिजीवी वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

19.5 फ्रैंकफर्ट स्कूल— फ्रैंकफर्ट स्कूल सामाजिक अनुसंधान का कार्य करने वाले विचारकों का एक समूह था जिसकी स्थापना 1920-30 के समय जर्मनी में की गयी। फ्रैंकफर्ट स्कूल गोएथे-विश्वविद्यालय, फ्रैंकफर्ट में सोशल रिसर्च संस्थान के साथ जुड़े सामाजिक सिद्धान्त व दर्शन का एक स्कूल या समूह था। इससे जुड़े या प्रभावित लोगों को नव-मार्क्सवादी भी कहा जाता है। इस संस्थान की स्थापना का उद्देश्य जर्मनी में मार्क्सवादी विचारों का प्रसार करना था किन्तु 1933 में जर्मनी में नाजीवाद की स्थापना के बाद यह अमेरिका में कोलम्बिया यूनिवर्सिटी में हस्तांतरित हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर के पतन के बाद 1953 में इसे फिर से फ्रैंकफर्ट में स्थापित कर दिया गया। इस संस्थान के विद्वान थे—**हार्खाइमर, अडोर्नो, एरिक फ्रॉम, तथा हरबर्ट मार्क्यूज** इत्यादि। इन विचारकों ने मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनेक मुद्दा पर अपने विचार दिये और इस सिद्धान्त में अपना योगदान दिया। कुछ विषयों पर इनके विचार समान थे, तो कुछ विषयों पर विचार अलग भी थे। फ्रैंकफर्ट स्कूल के सभी विचारक स्टालिनवादी समाजवाद में आलोचक थे। वे समाज में सभी प्रकार के प्रमुख में विरोधी थे, तथा सभी प्रकार के शोषण को अनुचित मानते थे। ये विचारक राजनीतिक व आर्थिक विषयों से अधिक महत्व सांस्कृतिक तथा वैचारिक विषयों को देते थे।

जब फ्रैंकफर्ट स्कूल में स्थापना की गयी तब जर्मनी में नाजीवाद तथा इटली में फासीवाद था। सोवियत संघ में स्टालिनवाद सर्वसत्तावाद का रूप ले चुका था। व साम्यवादी आन्दोलन पश्चिमी यूरोप में फैल गया था। इन विचारकों ने अलगाव की व्यवस्थाओं व शोषण को उचित साबित करने वाली सभी विचारधाराओं का विरोध किया।

इन विचारकों ने मार्क्सवाद को रूढ़िवादी माना क्योंकि मार्क्सवाद सारी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या आर्थिक आधारों पर करता है। मार्क्सवाद के मतानुसार सभी उत्पादकीय शक्तियाँ तथा सम्बन्धों के टकराव के परिणाम एक ही तरह के होते हैं। इनका मानना है कि यद्यपि समाज में उत्पादकीय सम्बन्धों में प्रतिरोध होते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे सभी एक ही तरीके के हों। इन विचारकों का मानना था कि उत्पादकीय शक्तियों के विरोधाभास के परिणाम हर समाज में हर स्थिति में एक समान नहीं होते। फ्रैंकफर्ट स्कूल के विद्वानों का मानना है कि किसी ऐतिहासिक परिस्थिति को सामाजिक-आर्थिक अधिरचना एवं सामाजिक व्यवहारों में आपसी क्रियाओं द्वारा समझना चाहिए।

इन विचारकों ने प्रतिपादित किया कि विभिन्न विचारक व विचारधाराएं समाज में प्रमुख व सत्ता को विवेक के आधार पर सही ठहराते हैं किन्तु इनका मानना था कि समाज का अध्ययन लोगों पर नियंत्रण करने के लिए नहीं बल्कि मानवीय विज्ञानों में समाज का अध्ययन लोगों को सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त करने के लिए किया जाता है।

19.5.1 आलोचनात्मक सिद्धांत— फ्रैंकफर्ट स्कूल का मुख्य योगदान आलोचनात्मक सिद्धांत के क्षेत्र में है जिससे मार्क्सवाद को एक नई दिशा में विकसित किया गया। इस सिद्धांत के अन्तर्गत मार्क्स के ऐतिहासिक विश्लेषण को तो स्वीकार किया जाता है किन्तु यह इतिहास के सिद्धान्त आर्थिक मूल्य तथा उत्पादन प्रक्रिया जैसे मुद्दों को स्वीकार नहीं

करता। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत तरुण मार्क्स की कृतियाँ विशेषकर उसकी “Economic and Philosophical Manuscripts of 1844” को विशेष महत्व दिया जाता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है सामाजिक विश्लेषण का ध्येय चेतना की व्याख्या करना व यह स्पष्ट करना है कि कौन-कौन से सामाजिक प्रबंध किन-किन उत्पादन सम्बन्धों में जन्म लेते हैं और उनकी नैतिक प्रकृति क्या है। प्रसिद्ध आलोचनावादी विचारक हार्खाइमर ने तर्क दिया कि ऐसी अवश्यम्भादी सर्वहारा क्रांति का विचार जो अलगाव व शोषण का अंत कर देगी – क्रांतिपूर्ण होगा। मार्क्स ने इतिहास की भौतिक शक्तियाँ को अत्यधिक उपेक्षा है हार्खाइमर का मानना है कि आलोचनात्मक सिद्धान्त का कार्य ज्ञान की सामाजिक उत्पत्ति का पता लगाना है ताकि मानवमुक्ति का रास्ता ढूँढ़ा जा सके। एडोर्नो ने चेतावनी दी है कि संकेद्रीन पूँजी, नियोजन, जनपुंज संस्कृति, अधिकारीतंत्र, तकनीशीयनतंत्र ने वैयक्तिक स्ववदाता को नष्ट कर दिया है, आलोचनात्मक चिंतन की क्षमता लुप्त हो गयी है। समाज व चेतना पूरी तरह जड़वस्तु बन चुके हैं। ऐसी स्थिति में आलोचनात्मक सिद्धान्त सुझाव देना है कि मनुष्य के मन में स्वाधीन आलोचना की क्षमता पैदा करके आमूल सामाजिक परिवर्तन की क्षमता का विकसित किया जा सकता है।

19.6 निष्कर्ष- अतः इस प्रकार ल्यूकॉच ग्राम्स्की तथा फ्रैंकफर्ट के विचार को ने समकालीन संदर्भ में मार्क्सवादी विचारों को न केवल संशोधित व परिष्कृत किया वरन् उनका प्रचार-प्रसार भी किया।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. जॉर्ज ल्यूकॉच के विचारों को समझाइए?
2. ग्राम्स्की के प्रमुख विचारों की सविस्तार व्याख्या कीजिए?
3. फ्रैंकफर्ट स्कूल क्या है? इसका योगदान बताइए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. ल्यूकॉच के अलगाव के सिद्धान्त को बताइए?
2. ग्राम्स्की के प्राधान्य की अवधारणा क्या है?
3. फ्रैंकफर्ट स्कूल का योगदान बताइए?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. फ्रैंकफर्ट स्कूल क्या है?
2. प्राधान्य से तात्पर्य क्या है?
3. आधार व अधिरचना में संबंध क्या है?

इकाई-20

समाजवाद

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 समाजवाद अर्थ व परिभाषा

20.3.1 समाजवाद के प्रमुख तत्व

20.3.2 समाजवाद के प्रकार

20.3.2.1 फेबियन बाद

20.3.2.2 श्रेणी समाजवाद

20.3.2.3 राजकीय समाजवाद समष्टिवाद

20.3.2.4 लोकतांत्रिक समाजवाद

20.3.2.5 क्रांतिकारी समाजवादी विचारधाराएं

20.3.2.6 श्रम संघवाद

20.3.2.7 अराजकतावाद

20.4 समाजवाद की आलोचना

20.5 निष्कर्ष

20.1 उद्देश्य— प्रस्तुत इकाई में समाजवाद के अर्थ व उसके विविध रूपों की व्याख्या की गई है। इसका अध्ययन करने के पश्चात् अध्ययन कर्ता—

- समाजवाद के अर्थ व उसके लक्षणों की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेगा।
- समाजवाद को क्यों गिरगिट व टोपे की संख्या दी गई है। इसका भावार्थ समझ पायेंगे
- समाजवाद के महत्व व इसकी प्रासंगिकता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

20.2 प्रस्तावना— समाजवाद एक विचारधारा के रूप में ऐसे सिद्धांतों व आंदोलनों का समुच्चय है जिसका उद्देश्य शोषणकारी पूंजीवादी ढांचे का अंत कर उसके स्थान पर एक शोषण विहीन नवीन सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना है। वस्तुतः व्यक्तिवादी विचारधारा की प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ तथा 18वीं 19वीं शताब्दी में समाजवाद का बीजारोपण देखा गया। वैसे तो इसका इतिहास अति प्राचीन है क्योंकि प्लेटो के दर्शन में संपत्ति के साम्यवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन देखा गया था तथापि आधुनिक युग में यह पहले कल्पना किए समाजवाद व उसके उपरान्त वैधानिक समाजवाद के रूप में विकसित हुआ। समाजवाद एक ऐसे राज्य की कल्पना करता है जिसमें समानता व संपन्नता निहित हो। यह राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार जाती है तथा उत्पादन के साधनों पर सामाजिक अधिपत्य पर बल देती है।

20.3 समाजवाद अर्थ व परिभाषा— समाजवाद किसी एक विचारधारा का नाम नहीं, अपितु विचारधाराओं का अपने आप में एक संसार है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वयं का समाजवाद होता है। लोकतंत्र की भांति समाजवाद भी राजनीतिशास्त्र के उन शब्दों में से एक है जिसके अनेक अर्थ लगाये जाते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रो. जोड़ का कथ है कि “समाजवाद उस टोप की भांति है जिसकी आकृति नष्ट हो चुकी है क्योंकि हर व्यक्ति उसे पहनता है।” इसी प्रकार **रैम्जेम्योर** ने समाजवाद को ऐसा गिरगिट बताया है जो परिस्थितियों के अनुसार अपना रंग बदलता रहता है। वस्तुतः समाजवाद, पूंजीवाद से पनपी त्रुटियों के विरुद्ध एक आवाज है। यह आर्थिक शोषण असमानता व बेरोजगारी के विरुद्ध एक आवाज है। विभिन्न विचारकों ने समाजवाद को अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया यथा:—

“समाजवाद का अर्थ है निजी उद्यम की समाप्ति और उसके स्थान पर समुचे समाज के हितार्थ उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के प्रमुख साधनों पर सामूहिक स्वामित्व तथा नियंत्रण की स्थापना की।”—**ई.एम. बर्न्स**

“समाजवाद एक लोकतंत्रीय आन्दोलन है जिसका उद्देश्य समाज का एक ऐसा आर्थिक संगठन स्थापित करना है जो किसी समय भी अधिकतम न्याय व स्वतंत्रता एक साथ प्रदान कर सके। —सैलर्स

“समाजवाद एक सिद्धान्त और आन्दोलन है जिसका उद्देश्य समाज का सामूहिक संगठन करना है जिससे जन साधारण के हितों की अभिवृद्धि हो सके।— प्रो. अप्पादोराय

अतः इस प्रकार समाजवाद एक आन्दोलन व एक विचारधारा दोनों हैं जो पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न धन की विषमताओं व अन्याय को संवैधानिक मार्ग से समाप्त करने पर बल देता है। जिससे समाज में समानता व न्याय की स्थापना हो सके। और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह धन के उत्पादन, वितरण तथा विनिमय की आधुनिक निजी स्वामित्व की व्यवस्था को समाप्त कर उत्पादन के साधनों का सामूहिक स्वामित्व व नियंत्रण समस्त समाज के हाथों में निहित करने का एक प्रयास है। संक्षेप में, समाज के आर्थिक व भौतिक साधनों का जन मानस के नियंत्रण में लाकर सामाजिक उत्पादों का समानांतर न्याय संगत वितरण समाजवाद है।

20.3.1 समाजवाद के प्रमुख तत्व

- (i) समाजवाद एक समष्टि प्रधान दर्शन या विचारधारा है जो व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देती है। अतः यह वैयक्तिक हितों को सामाजिक हितों के अधीन करने पर बल देती है। यह सामाजिक हित व समानता को अपना आदर्श स्वीकार करता है।
- (ii) समाजवाद स्वतंत्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव नहीं मानता। इसके अनुसार स्वतंत्रता से तात्पर्य व्यक्ति को दिये गये अवसरों से है जिनका उपयोग कर व्यक्ति अपने भौतिक व नैतिक जीवन का उत्थान हो सके।
- (iii) समाजवाद पूंजीवाद को समाप्त करना अपना लक्ष्य मानता है जिससे कि व्यक्ति को न्याय, समानता व स्वतंत्रता सुलभ हो सके। समाजवाद का मानना है कि पूंजीवाद व्यक्तिवाद का व्यावहारिक परिणाम है और पूंजीवाद की शोषण व्यवस्था के विरुद्ध समाजवादी दर्शन की उत्पत्ति हुई इसलिए समाजवाद का लक्ष्य है न केवल पूंजीवाद को अन्त वरन् उससे उत्पन्न आर्थिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक न्याय की स्थापना करना।
- (iv) समाजवाद राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानता और न ही न्यूनतम राज्य की अवधारणा को स्वीकार करता है। यह राज्य को व्यक्ति के लिए हितकारी संस्था मानना है। समाजवादियों का मानना है कि राज्य जनता के हितों की अभिभावक संस्था है जिसके सक्रिय नेतृत्व एवं योगदान के द्वारा आर्थिक जीवन की उन्नति की जा सकती है। समाजवाद राज्य को लोकतांत्रिक रूप से गठित कर उसे न्यायपूर्ण वितरण तथा उत्पादन प्रणाली का व्यवस्थापक बनाने की योजना प्रस्तुत करना है। सारांश रूप से राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी समाजवाद की धारणा अधिक व्यापक व सकारात्मक है।

(अ) समाजवाद स्वतंत्र प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। समाजवाद मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा का प्रबल समर्थक है इसलिए प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहकारिता में विश्वास करता है।

20.3.2 समाजवाद के प्रकार :- समाजवाद के वर्तमान रूप को बनाने में अनेक विद्वानों की भूमिका रही। इनमें आरम्भिक समाजवादियों में **सेंट साइमन (1760-1825)** **चार्ल्स फोरियर (1772-1837)** **राबर्ट ओवन (1771-1858)** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों द्वारा प्रतिपादित विचारों को “**कल्पनावादी समाजवाद**” कहा गया। यह सामाजिक व राजनीतिक चिंतन का वह तरीका था जिसमें सर्वगुण सम्पन्न समाज का प्रतिरूप तैयार करने का प्रयास किया गया। दुर्भाग्य से समाजवाद के इस रूप को कपोल कल्पना या कोरी कल्पना कह कर हँसी उड़ाई गयी व इसके उद्देश्यों की अनदेखी कर दी गयी।

कालान्तर में समाजवाद अपने दो रूपों में विकसित हुआ। **पहला, विकासवादी समाजवाद** व **दूसरा, क्रांतिकारी समाजवाद**। यह विभाजन समाजवादी लक्ष्य (शोषणविहीन नवीन सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का निर्माण जिसमें उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो) की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले साधनों को आधार मानकर किया गया। समाजवादी लक्ष्य प्राप्ति के दो साधन स्वीकार किये गये। हिंसात्मक तथा विकासवादी। हिंसात्मक साधनों से विश्वास करने वाले समाजवाद के प्रकार को क्रांतिकारी समाजवाद कहा गया जिसमें साम्यवाद श्रम संघवाद तथा अराजकतावाद को सम्मिलित किया जा सकता है। और संवैधानिक साधनों को प्रयोग कर पूंजीवाद का अंत करने वाले व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाली तथा राजकीय सत्ता का प्रयोग सामाजिक हितों के लिए करने वाली व्यवस्था को विकासवादी समाजवाद कहा गया है। इसमें फेबियनवाद, गिल्ड समाजवाद तथा राजकीय समाजवाद को शामिल किया जाता है।

20.3.2.1 फेबियनवाद— फेबियन समाजवाद मूल्य तय है एक अंग्रेजी विचारधारा है फेबियन सोसायटी की स्थापना 1884 में इंग्लैंड के बुद्धिजीवियों सुधार को द्वारा की गई 1887 में से एक सोसाइटी समाज बन गई जब उसने समाजवाद को अपनी नीति के रूप में स्वीकार कर लिया फेबियन बाद मुख्यतः एक मध्यवर्गीय आंदोलन था। जिसमें बुद्धिजीवियों को

बोलबाला था फेबियन बाद की परंपरा में **सिडनी वेब, ब्रीटिस वेब, बर्नार्ड शॉ, सिडनी आलिवियर** तथा **ग्राहम वैसेस** के नाम उल्लेखनीय हैं।

फेबियनवादियों ने पूँजी की जगह भूमि को सारे विवाद की जड़ माना अतः उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत मार्क्स न होकर जॉन स्टुअर्ट मिल रहा है। इसलिए उन्होंने पूँजीपतियों के स्थान पर जमींदारों को अपने पर हार का लक्ष्य बनाया। उसके अनुसार भूमि से प्राप्त होने वाली अजीत आए कोई जमींदारों से वापस लेकर पूरे समाज को हस्तांतरित कर देनी चाहिए क्योंकि वस्तु के मूल्य का निर्माण श्रम द्वारा ने किया जाकर समाज द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार फेबियन वादी की संस्था में विश्वास करते हैं उनके अनुसार राज्य समाज का संरक्षण है इसलिए वह राज्य द्वारा व्यापक कार्य किए जाने का समर्थन करते हैं। इसके लिए वे निम्न कार्यक्रम अपनाए जाने पर बल देते हैं।

- सामाजिक विधि निर्माण जिसके द्वारा काम के घंटे निश्चित किए जाए बेरोजगारी से सुरक्षा मिले स्वास्थ्य व शिक्षा की सुविधाएं दी जाए।
- सार्वजनिक स्वामित्व जिसके द्वारा सार्वजनिक सेवाओं व प्राकृतिक साधनों को सामाजिक नियंत्रण में लिए जाए।
- कर प्रणाली, जिसके द्वारा निजी आय किराए तथा मुनाफे से उत्पन्न आय पर कर लगाया जाए वह इस से उत्पन्न लाभ को समाज में समान रूप से वितरित किया जाए।

20.3.2.2 श्रेणी समाजवाद— इंग्लैंड में बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में समाजवादी आंदोलन की एक और धारा श्रेणी समाजवाद के रूप में आई श्रेणी समाजवाद ने ब्रिटेन के फेबियन वाद वह फ्रांस के श्रम संघवाद में कुछ आवश्यकता अनुसार परिवर्तन कर एक नई विचारधारा के रूप में जन्म लिया इसलिए इसे फेबियन बाद व श्रम संघवाद का बौद्धिक शिशु भी कहा जाता है **ए. जी. पेंटी** को इस विचारधारा के प्रथम प्रणिता मानव जाता है व अन्य सिद्धांतकार निम्न थे **जी. डे. एच. कॉल, आर. एच. टोनी, बर्ट्रेंड रसेल** इत्यादि।

श्रेणी समाजवाद मजदूर प्रणाली के उन्मूलन की मांग करते हुए उद्योगों पर कामगार से श्रमिकों के नियंत्रण की वकालत करता है प्रजातांत्रिक आधार पर संगठित किए गए स्थानीय प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय श्रेणियों या गिल्डों के द्वारा ही आर्थिक व औद्योगिक व्यवस्था का सामाजिक हित के लिए संचालन किया जाएगा गिल्डों के द्वारा यह अहम प्रश्न आधारित किए जाएंगे कि श्रमिकों की मजदूरी क्या हो उसके काम करने की शर्तें क्या होगी वह उत्पादन कितना वह कैसे होगा। गिल्ड समाजवाद श्रेणी समाजवाद जहां एक ओर श्रमिकों के हितों का पक्ष पाती है तो वह दूसरी ओर उपभोक्ता के हित को भी ध्यान से रखता है इसलिए इसका मत है कि उपभोक्ताओं एवं श्रमिकों की एक सर्वोच्च समिति की स्थापना की जाएगी जो वस्तुओं के मूल्यों को आधारित करेगी।

यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में गिल्ड समाजवाद राज्य को स्वीकार नहीं करता किंतु यह राजनीतिक जीवन में राज्य के अस्तित्व को कुछ सुधारों के साथ शिकार करता है गिल्ड समाजवाद की शिकायत राज्य के विरुद्ध ना होकर उसकी प्रतिनिधित्व प्रणाली के प्रति है उनका तर्क है कि किसी निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव हुआ प्रतिनिधि अपने क्षेत्र के सब हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता इसलिए गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के स्थान साव्यवसायिक प्रतिनिधित्व को मान्यता देते हैं।

20.3.2.3 राजकीय समाजवाद या समष्टिवाद— राजकीय समाजवाद या समष्टिवाद मुख्यतः मध्यमवर्गीय आंदोलन थे और इन दोनों ही विचारधाराओं में मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का विशेष आस्था कामगार वर्ग या श्रमिक वर्ग के साथ इनका कोई सीधा संपर्क नहीं था। समष्टिवाद समाजवाद का वह रूप है जिसका विश्वास राज्य के कार्यकुशलता पर है इस विचारधारा के समर्थकों की धारणा है की राज्य सामाजिक न्याय की स्थापना करने तथा पूँजीवादी शोषण और प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने का सर्वोत्तम साधन है समाजवाद के अन्य रूपों के सामान समष्टिवाद की भी दृढ़ मान्यता वह प्रमुख उद्देश्य हैं, की निजी संपत्ति उत्पादन के साधन, सार्वजनिक सेवाएं इत्यादि पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित कर सार्वजनिक हित का लक्ष्य प्राप्त किया जाए।

बर्नस्टीन, जीन जुआरेज तथा एडवर्ड अनसील जैसे विचारक समष्टिवाद के रूप में सिद्धांतकार हैं इस प्रकार समष्टिवाद की दृष्टि में राज्य एक सकारात्मक अच्छाई है जिनका उपयोग सार्वजनिक हित एवं सार्वजनिक कल्याण की प्राप्ति के लिए किया जाना आवश्यक है अतः यह सत्य स्पष्ट होता है कि समष्टिवाद एक लोकतांत्रिक सार्वजनिक हित की धारणा का प्रतिपादित व्यावहारिक समाजवादी विचारधारा है।

20.3.2.4 लोकतांत्रिक समाजवाद— 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक ओवर बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में जब यूरोप में लोकतंत्र के सिद्धांत को विस्तृत रूप से भी स्वीकार कर लिया गया तब समाजवादियों के एक समूह ने यह आशा व्यक्त की कि लोकतंत्र जनसाधारण को अपनी इच्छा और आकांक्षा के अनुरूप सरकार बनाने व सार्वजनिक नीतियों बनाने का अवसर प्रदान करता है। अतः इस प्रणाली का प्रयोग करके धीरे-धीरे या थोड़ा-थोड़ा करके समाजवाद लाया जा सकता है।

लोकतांत्रिक समाजवाद विकासात्मक समाजवाद का वह रूप है जो समाजवाद की स्थापना के लिए उदार लोकतंत्र की संस्थाओं को उपकरण बनाए जाने पर बल देता है लोकतंत्र है समाजवाद के अधिकांश समर्थन मूल्य ता उदारवादी रहे हैं। इन विचारकों में **सिडनी वेब** का नाम अग्रगण्य है। यह बात महत्वपूर्ण है क्रांतिकारी समाजवाद तो काम करो या श्रमिकों के हितों को सर्वोपरि रखना चाहता है किंतु लोकतांत्रिक समाजवाद कामगारों के हित को समुदाय के सामान्य हित का हिस्सा मानकर उसके अधिकार दिलाना चाहता है अतः यह विचारधारा कामगार वर्ग के हितों व अन्य वर्गों के हितों में सामंजस्य स्थापित करना चाहती है यह विचारधारा लोकतंत्र है विधि संसदीय सुधार तथा आर्थिक नियोजन के माध्यम से अपने लक्ष्य सामान्य हित को प्राप्त करना चाहती है।

20.3.2.5 क्रांतिकारी समाजवादी विचारधाराएं— हिंसात्मक साधनों या प्रणाली द्वारा वर्ग विहीन, शोषण मुक्त तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना में विश्वास करने वाली विचारधारा को क्रांतिकारी समाजवादी विचारधाराएं कहा जाता है और यह विचारधाराएं निम्न है—

मार्क्सवाद— मार्क्सवाद उन राजनीतिक व आर्थिक सिद्धांतों का समूह है जिन्हें 19वीं 20वीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स व उनके अनुयायियों ने समाजवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए प्रस्तुत किया। मार्क्सवाद आधुनिक युग में संपूर्ण विश्व के कामगारों को पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संगठित होने का संदेश देता है ताकि पूंजीवाद के विरुद्ध क्रांति करके समाजवाद की स्थापना की जा सके। इससे अंततः साम्यवाद का उदय होगा यह ऐसा राज्य विहीन व वर्ग विहीन समाज होगा जिसमें सब मिलजुल कर रहेंगे तथा कंधे से कंधा मिलाकर काम करेंगे यह कैसी अवस्था होगी जिसमें प्रत्येक अपने क्षमता के अनुसार काम करेगा वह आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेगा।

मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाज भी कहा जाता है क्योंकि मार्क्स में पूंजीवादी उत्पादन व पूंजी के उत्पादन दोनों की उत्पत्ति की वैज्ञानिक व्याख्या की अर्थात् उसने इतिहास की भौतिकवादी संकल्पना से यह स्पष्ट किया कि इतिहास के युग विशेष में पूंजीवाद की उत्पत्ति अनिवार्य है तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत द्वारा पूंजी की उत्पत्ति की अनिवार्यता को समझाया कालांतर में इस मार्क्सवाद विचारधारा को लेनिन स्टालिन तथा माओ ने विकसित किया।

20.3.2.6 श्रम संघवाद— श्रम संघवाद फ्रांस में समाजवादी आंदोलन श्रम संघवाद के रूप में 1899 1937 विकसित हुआ यह विचारधारा सुधार के शांतिपूर्ण साधनों को तिलांजलि देखकर राजनीतिक सत्ता पर उत्पादन के साधनों पर तथा समाज शक्तियों पर श्रमिक संघों का नियंत्रण करने के पक्ष पाती है। उनके अनुसार सीधी कार्यवाही सामान्य हड़ताल तोड़फोड़ बहिष्कार तथा लेबल जैसे साधन श्रमिकों के क्रांतिकारी उद्देश्यों की प्राप्ति करा सकते हैं। इस विचारधारा के समर्थकों का मानना है कि पूंजीवाद के विरुद्ध वर्ग संघर्ष का संचालन औद्योगिक कार्यवाही के क्षेत्र में होना चाहिए राजनीति के क्षेत्र में नहीं इस विचारधारा की मान्यता थी कि सामाजिक परिवर्तन केवल श्रमिकों के द्वारा ही लाया जा सकता है समाज की आधुनिक संस्था को हिंसा द्वारा समाप्त किया जाना आवश्यक होगा और उनके स्थान पर नवीन संस्था का निर्माण भी श्रमिकों को ही करना पड़ेगा। किंतु ऐसा करने में उन्हें राज्य तथा राजनीतिक सत्ता कान में केवल खुलकर विरोध करना होगा वरण उनका अंत भी करना पड़ेगा।

इस प्रकार इस विचारधारा ने राज्य तथा राजनीतिक संस्था के उन्मूलन का भी प्रचार किया जिससे यह अराजकतावाद के निकट मानी गई **जॉर्ज सोरेल** को इस विचारधारा का प्रमुख सिद्धांत आकार माना जाता है इसके अतिरिक्त **एमीलि पोगेट, एमीलि पेटाच, एडवर्ड बर्थ, एम्बरीस आदि** भी इसके विचारक माने जाते हैं

20.3.2.7 अराजकतावाद— अराजकतावाद वह विचारधारा है जो किसी भी प्रकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करती यह सभी प्रकार के उत्पीड़न व राजनीतिक सत्ता का तिरस्कार करता है। यह विचारधारा राज्य के साथ-साथ पूंजीवाद का भी विरोध करता है यह आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक दासता का उन्मूलन चाहता है। अधिकांश अराजकतावादी विचारक निजी संपत्ति की संस्था को समाप्त करना चाहते हैं और उनकी जगह सारी संपत्ति पर समुदायिक स्वामित्व स्थापित करने का समर्थन करते हैं अतः अराजकतावाद में उदारवाद समाजवाद दोनों में आदर्शों का संवहन देखा जा सकता है अराजकतावाद विचार को में **विलियम गॉडविन, प्रोथो, बेंजामिन, बाकूनिन, क्रोपोटकिन तथा टालस्टाय** प्रमुख माने जा सकते हैं संक्षेप में अराजकतावाद ऐसी क्रांतिकारी समाजवादी दर्शन है जिसकी मूल मान्यताओं में की किसी भी प्रकार की राजनीतिक सत्ता अनावश्यक वह वांछनीय है तथा राज्य विहीन तथा वर्ग विहीन समाज की रचना करना इनका उद्देश्य है।

20.4 समाजवाद की आलोचना— समाजवाद के विविध रूपों के कारण समाजवाद भानुमती का पिटारा बनकर रह गया और समाजवाद के रूप ही आपस में विरोधी धारणाएं प्रस्तुत करने लगे जैसे विकासात्मक समाजवादी विचारधारा जहां राज्य को आवश्यक अच्छाई मानते हुए उसके कार्य क्षेत्र में विस्तार करना चाहती है वहीं अराजकतावादी क्रांतिकारी विचारधारा राज्य के अंत की वकालत करती है किंतु समाजवाद की सामान्य आलोचना के तहत इस व्यवस्था में उत्पादन के लिए प्रोत्साहन का अभाव है यह कुशलता को जन्म देती है तथा भ्रष्टाचार व लालफीताशाही को बढ़ावा देती है समाजवाद को सर्वाधिकारी राज्य की आधारशिला माना जाता है यह व्यक्ति को प्रेरणा ही बना उसके चरित्र को अवनत करता है यह व्यक्ति के सम्मुख मानसिक संतोष के स्थान पर भौतिकतावाद दृष्टिकोण को विकसित करता है तथा अंत में सभी समाजवादी विचारधारा भविष्य में समाज की रूपरेखा को स्पष्ट नहीं है अर्थात् वर्तमान सामाजिक आर्थिक व्यवस्था

को ध्वस्त कर किसी प्रकार की व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए? उसकी क्या रूपरेखा होगी? और इसके लिए क्या कार्य योजना होगी इसको लेकर कोई स्पष्ट विचार या योजना समाजवाद का कोई रूप प्रदान नहीं करता।

समाजवादी विचारकों का मानना है कि उत्पादन में केवल श्रमिक को का योगदान रहता है किंतु आलोचकों का तर्क है उत्पादन में पूंजी जमीन तथा प्रबंधन का भी योगदान रहता है समाजवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसमें राज्य के कार्य क्षेत्र के विस्तार पर बल दिया जाता है जिससे वह वैयक्तिक स्वतंत्रता सीमित व प्रतिबंधित होती है। इसी प्रकार से आलोचकों का आसिफ है कि समाजवाद का आधार ही असंगत है क्योंकि समाजवाद समानता पर बल देता है जबकि व्यावहारिक दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति समान रूप से पश्चिमी विवेकशील नैतिक तथा बुद्धिमान हो ही नहीं सकते आते समाजवाद का आधार ही गलत है।

20.5 निष्कर्ष— उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर समाजवादी सिद्धांत की आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि समाजवादी ही एक ऐसा सिद्धांत है जिसके माध्यम से वह व्यक्ति स्वतंत्रता व समानता को एक केवल संतुलित किया जा सकता है वरण उसकी रक्षा भी की जा सकती है। किंतु समाज के तहत यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि समाजवादी राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक ना होकर संतुलित होना चाहिए जिससे व्यक्ति व समाज दोनों को हानि ना हो क्योंकि इसी में व्यक्ति व राज्य दोनों का कल्याण निहित है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. समाजवाद का अर्थ व उसके प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिए?
2. विकासवादी समाजवाद से क्या तात्पर्य है इस के विविध रूप की व्याख्या कीजिए?
3. समाजवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. फेबियन बाद क्या है?
2. श्रम संघवाद से क्या तात्पर्य है?
3. क्रांतिकारी समाजवाद का अर्थ व प्रकार बताइए?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. श्रेणी समाजवाद क्या है?
2. दो प्रमुख फेबियन वादी विचार को के नाम बताइए?
3. अराजकतावाद से क्या तात्पर्य है?

इकाई-21

रूढ़िवाद

21.1 उद्देश्य

21.2 प्रस्तावना

21.3 रूढ़िवाद का उदय व अर्थ

21.3.1 रूढ़िवाद विचारधारा की मान्यताएं

21.3.2 रूढ़िवादी विचारधारा के प्रकार भेद

21.3.3 रूढ़िवाद विचारधारा की आलोचना

21.4 निष्कर्ष

21.1 उद्देश्य— प्रस्तुत अध्ययन में रूढ़िवादी विचारधारा को समझने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात अध्ययनकर्ता यह जान पाएंगे कि —

- रूढ़िवादी विचारधारा क्या है तथा कब इसका विकास हुआ।
- रूढ़िवादी विचारधारा की प्रमुख मान्यताएं क्या हैं।
- रूढ़िवाद के विभिन्न रूप कौन-कौन से हैं।

21.2 प्रस्तावना— रूढ़िवाद वह विचारधारा है जो वर्तमान व्यवस्था का गुण-गान करता है तथा उससे सन्तुष्ट है। इनका मानना है कि वर्तमान अपने आप में उत्तम व्यवस्था है या फिर यह सम्भावित विकल्पो में सबसे उपयुक्त है, सर्वथा सुरक्षित व सुपरिचित है। रूढ़िवाद प्रतिक्रियावाद का विपरित रूप है। क्योंकि प्रतिक्रियावाद वर्तमान व्यवस्था से असन्तुष्ट अनुभव करते हुए अतीत की ओर लौट चलने का आह्वान करता है। रूढ़िवाद का मानना है कि मनुष्य एक अपूर्ण समाज में रहते हैं। जहां पूर्णता का स्वप्न में कोरा मोह जाल है। अतः जो पुराने मूल्य व परम्पराएं मानव जीवन को सन्तोष और सांत्वना प्रदान करती रही हैं, उनकी अवहेलना करने से हानि ही अधिक होगी, लाभ नहीं होगा।

21.3 रूढ़िवाद का उदय एवं अर्थ— 18वीं शताब्दी के दौरान सम्पूर्ण पश्चिमी जगत् में एक बौद्धिक क्रांति का सूत्रपात देखा गया जिसने अतीत से चले आ रहे विचारों व दृष्टिकोणों में व्यापक परिवर्तन ला दिया। इस अनोखी बौद्धिक क्रांति को ज्ञानोदय की संज्ञा दी गयी। यह क्रांति इस मान्यता पर आधारित थी कि मनुष्य की तर्क बुद्धि या विवेक जीवन के किसी भी क्षेत्र में सत्य प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन या माध्यम है। समाज को अनबूझी तथा अनजानी दिशा की ओर ले जाने वाले इस प्रयास की प्रतिक्रिया स्वरूप जो विचारधारा उभर कर आयी उसे रूढ़िवाद कहा गया। यह विचारधारा नए तथा बिना आजमाए हुए विचारों तथा संस्थाओं को कायम रखने का समर्थन करता है। इस दृष्टिकोण की मान्यता है कि कोई भी समाज सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकता अतः सर्वगुण सम्पन्न समाज की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ना बेकार है। जो रीति-रिवाज, कानून तथा संविधान समय की कसौटी पर परखे जा चुके हैं, उनका अनुसरण करने में ही कल्याण है।

अतः रूढ़िवाद एक ऐसी विचारधारा है जो पारम्परिक मान्यताओं का अनुकरण तार्किकता या वैज्ञानिकता के आधार पर न कर, केवल आस्था तथा प्रागनुभवों के आधार पर करती है। यह उन सामाजिक राजनीतिक तथा नैतिक मान्यताओं का समुच्चय है जो चिरकाल से प्रचलित मान्यताओं व व्यवस्थाओं के प्रति सम्मान को बढ़ावा देती हैं। रस्सल कंक्र ने रूढ़िवाद के सार को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

“रूढ़िवाद मानवता के प्राचीन नैतिक परम्पराओं का संरक्षण है और एक रूढ़िवादी के लिए रीतियां, परम्पराएं, प्रथाएं, संरचानाएं तथा प्रदेशन एक सहज नागरिक व्यवस्था के आधार हैं।”

रूढ़िवाद का मूल स्रोत प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तु के चिंतन में देखा जा सकता है। आधुनिक युग में ब्रिटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम को रूढ़िवाद का अग्रदूत माना जाता है। किन्तु ब्रिटिश विचारक एडमण्ड बर्क आधुनिक बौद्धिक रूढ़िवाद के मूल प्रवर्तक के रूप में विख्यात हैं। अन्य रूढ़िवादी विचारकों में जॉन एडमस, बेजामिन डिजराइली, सैमुअल टेलर, कॉलरिज तथा माइकेल आकशॉट के नाम उल्लेखनीय हैं। अतः इस प्रकार रूढ़िवाद उन सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक मान्यताओं का समुच्चय है जो चिरकाल से प्रचलित सामाजिक तथाराजनीतिक व्यवस्था के प्रति सम्मान को बढ़ावा देती हैं।

21.3.1 रूढ़िवाद की मान्यताएं—

(i) **यथास्थिति का समर्थन—** रूढ़िवाद वर्तमान व्यवस्था या यथास्थिति को बनाए रखने का समर्थन करता है। इसका विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या समाज सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकता अतः इन्हें सर्वगुण सम्पन्न बनाने की आशा में सामाजिक जीवन में अथल-पुथल मचाना हानिकारक है। रूढ़िवाद एक नकारात्मक विचारधारा है जो परिवर्तन का प्रतिरोध

व परिवर्तन को लेकर संदेह व्यक्त करती है। इसीलिए प्रसिद्ध विचारक एच.स्टुआर्ट हयुज ने लिख है कि “रूढ़िवाद विचारधारा का निषेध है।” अर्थात् कोई भी विचारधारा वर्तमान में किसी न किसी तरह के परिवर्तन की प्रेरणा देती है लेकिन रूढ़िवाद परिवर्तन का विरोध करता है। इस दृष्टि से रूढ़िवाद का मुख्य सार इतिहास के संदर्भ में परम्पराओं की रक्षा तथा स्थापित रीति-रिवाजों व संस्थाओं को बनाए रखना है। यहाँयह भी उल्लेखनीय है कि रूढ़िवादियों ने समय-समय पर समाज को जीवंत बनाए रखने के लिए सीमित परिवर्तन या सुधार का आंशिक रूप से समर्थन भी किया। वे केवल ऐसा परिवर्तन चाहते हैं जो मानव जाति की पुरानी उपलब्धियों के साथ एकाकार हो जाए क्योंकि सम्यता को कायम रखने के लिए निरन्तर प्रवाह आवश्यक है। वे समाज की तुलना एक ऐसे वृक्ष से करते हैं जिनके पत्तों व शाखाओं में तो आवश्यक कांट-छांट की जा सकती है। किन्तु उसकी जड़ों को कोई नुकसान नहीं पहुँचाना चाहिए।

(ii) **मानवीय अपूर्णता में विश्वास:**— रूढ़िवादी विचारधारा मानवीय अपूर्णता का दर्शन है। उनके अनुसार मनुष्य के आधार की जड़ें विवेक में न होकर पूर्वाग्रह में होती हैं। उनका मानना है कि मनुष्य आश्रित जीव है तथा अस्थिरता व अकेलेपन से भयाक्रान्त रहता है इसलिए वह स्थिरता व सुरक्षा की मांग करता है। वह सदैव सामाजिक व्यवस्था के लिए अपनी स्वतंत्रता से समझौता करने को तत्पर रहता है। ब्रह्म के शब्दों में “व्यक्ति ना समझ है किन्तु जाति समझदार होती है।” अतः प्रचलित रीति-रिवाज, संविधान तथा कानून के पालन में ही सबका कल्याण है।

(iii) **राज्य सम्बन्धी विचार:**— रूढ़िवादियों के लिए समाज का स्वरूप जैविक है और मनुष्य उसके परस्पर आश्रित अंग है। उनका तर्क है जैसे जीवित प्राणी का विकास एक निश्चित व पूर्व निर्धारित क्रम से होता है। वैसे ही समाज का विकास जाने पहचाने और परखे ढंग से होना चाहिए जैसा की डिजराइली ने लिखा है कि “समाज का जैविक सिद्धान्त यह मांग करता है कि पूर्वदृष्टांत का सम्मान किया जाए प्रचलित विधि का पालन किया जाए तथा पुरानी परम्परा को कायम रखा जाए।” रूढ़िवाद विधिवत संस्थापित सत्ता के प्रति सम्मान को बढ़ावा देता है। किन्तु वह अहस्तक्षेप के उदारवादी सिद्धान्त को अस्वीकार कर उत्पीड़ित व वंचित वर्गों की सहायता के लिए राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। किन्तु साथ ही यह विचारधारा राज्य के अत्यधिक विस्तार का विरोध भी करती है। यह राज्य को ‘लोक कल्याणकारी राज्य’ जैसी विस्तृत भूमिका सौंपने के पक्ष में नहीं है। इसी प्रकार रूढ़िवाद व्यक्ति व राज्य के मध्यवर्ती संगठन या स्वैच्छिक साहचार्यों का समर्थन करता है क्योंकि ये व्यक्ति के बहुमुखी विकास में न केवल योगदान देते हैं वरन् शक्ति के जमाव को रोक कर व्यक्ति की राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा भी करते हैं।

(iv) **निजी सम्पत्ति का समर्थन:**— रूढ़िवादी विचारक सम्पत्ति की संस्था को विशेष महत्त्व देते हैं, तथाइसे कायम रखने के लिए आम व सम्पदा की प्रचलित विषमता को जारी रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि सम्पत्ति रक्षा प्रदान कराती है, लोगो में आत्म विश्वास पैदा कराती है तथा सामाजिक मूल्यों को प्रोत्साहित करती है। अतः रूढ़िवादियों की मांग है कि सम्पत्ति को अव्यवस्था तथा अराजकता से सदैव सुरक्षित रखा जाना चाहिए। वे सम्पन्न या अभिजात वर्ग को विशेष आदर की दृष्टि से देखते हैं।

(v) **धर्म व नैतिकता में आस्था:**— रूढ़िवाद धर्म व नैतिकता पर बल देता है। उसका मानना है कि धर्म एक आध्यात्मिक तत्त्व है जो समाज को एक नैतिक ढांचा प्रदान करता है। धर्म ही वह माध्यम है जो व्यक्तियों के समूह को समाज के रूप में संगठित करता है व बनाए रखता है।

अतः संक्षेप में रूढ़िवादी विचारधारा का भवन चार स्तम्भों पर टिका हुआ है—

- राष्ट्रवाद
- निजी सम्पत्ति
- धर्म
- परम्पराएं

21.3.3 रूढ़िवादी विचारधारा के प्रकार भेद:—

सामान्यतः रूढ़िवाद की निम्न शाखाएं देखी जा सकती हैं:—

- (क) **स्वभावगत रूढ़िवाद:**— यह रूढ़िवाद का वह प्रकार भेद है जो रूढ़िवाद को एक स्वभाव गत एवं मनोवैज्ञानिक अवस्थिति मानता है। इनका मानना है कि समाज के अधिकांश लोगों द्वारा अपने स्वभाव में रूढ़िवादी तत्त्वों का समावेश किया जाता है। अभ्यस्तता, जड़त्व, भय तथा स्पर्धा रूढ़िवादी स्वभाव के आवश्यक तत्त्व है।
- (ख) **स्थितिगत रूढ़िवाद:**— यह रूढ़िवाद का वह रूप है जो सामाजिक, आर्थिक, कानूनी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में खतरनाक परिवर्तनों का विरोध करते हैं। इस रूढ़िवाद का प्रमुख लक्षण “परिवर्तन का भय” है।
- (ग) **राजनीतिक रूढ़िवाद:**— रूढ़िवाद का यह रूप सभी प्रकार की योजनाओं व नयी व्यवस्थाओं का विरोध करता है। यह कानून, संस्थाओं व संविधानों को सुरक्षित रखने पर बल देता है।

अतः इस प्रकार रूढ़िवाद वह विचारधारा है जो परिवर्तनकी विरोधी है, अतीत की उपासक है तथा धर्म व नैतिकता की अनुयायी है।

21.3.4 रूढ़िवाद विचारधारा की आलोचना:— विभिन्न विचारकों द्वारा अलग-अलग आधारों पर रूढ़िवाद की आलोचना की गयी है—

- (i) रूढ़िवाद सामाजिक परिवर्तनों का घोर विरोधी है। यह सिद्धान्त राजनीतिक कार्यवाही के लिए कोई ठोस मार्ग दर्शन प्रदान नहीं करता। आलोचकों का मानना है कि जो कुछ अतित से चला आ रहा हो वह भविष्य में भी उचित हो यह आवश्यक नहीं है।
- (ii) मार्क्सवादियों ने रूढ़िवाद की आलोचना करते हुए इसे वर्ग प्रभुत्व के सिद्धान्त को बढ़ावा देता है। यह धनवान तथा शक्तिशाली वर्गों के विशेषाधिकारों को कायम रखने के उद्देश्य से निर्धन व निर्बल वर्गों को सुरक्षा एवं स्थिरता का लालच देकर धोखे से उनकी सहमति प्राप्त करने की चाल है।
- (iii) नारीवादियों ने इसको आलोचना करते हुए इसे पुरुष वर्चस्व को बनाए रखने का माध्यम बनाया है। नारीवादियों का मानना है कि रूढ़िवाद महिला शोषण जो अतित से चला आ रहा है उसे भविष्य में भी बनाए रखने का माध्यम बनाया है।

21.4 निष्कर्ष:— अतः इस प्रकार रूढ़िवाद वह विचारधारा है जो किसी भी व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन का विरोध करती है। यथास्थिति को बनाए रखते हुए समाज में आंशिक परिवर्तन चाहती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. रूढ़िवादी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके प्रकार बताइए?
2. रूढ़िवाद की प्रमुख विशेषताएं या तत्त्व बताइए?
3. रूढ़िवाद पर आलोचनात्मक लेख लिखिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. रूढ़िवाद को स्पष्ट कीजिए?
2. रूढ़िवाद के प्रमुख तत्त्व क्या हैं?
3. रूढ़िवाद के रूप कौन-कौन से हैं?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. रूढ़िवाद क्या है?
2. रूढ़िवाद के कौन-कौन से प्रकार भेद हैं?
3. प्रमुख रूढ़िवादी विचारकों के नाम बताइए?

इकाई-22

कट्टरतावाद

22.1 उद्देश्य

22.2 प्रस्तावना

22.3 कट्टरतावाद अर्थ व स्वरूप

22.3.1 कट्टरतावाद के लक्षण

22.4 निष्कर्ष

22.1 उद्देश्य— प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य वर्तमान सामाजिक वैयनस्यता के प्रमुख कारण कट्टरतावाद की व्याख्या करना है—

- जिससे यह जाना जा सके कि कट्टरतावाद क्या है ?
- कट्टरतावाद के लक्षण क्या क्या हैं?

22.2 प्रस्तावना— वर्तमान आधुनिक समाजों में जहां बहुसंस्कृतिवाद के कारण अलग-अलग धर्म संस्कृति व संप्रदाय में विचार को का आयात निर्यात बढ़ रहा है वहीं दूसरी तरफ पृथक पृथक धर्म संप्रदाय के लोगों द्वारा अपनी संस्कृति अस्तित्व को बचाए रखने के लिए हठधर्मिता या कट्टरतावाद को बढ़ावा दिया जा रहा है जिसका परिणाम सामाजिक विखंडन के रूप में देखा जा रहा है। कट्टरवाद एक जटिल वह असहज अवधारणा है क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक मनोदशा है।

22.3 कट्टरवाद अर्थ व स्वरूप— कट्टरतावाद का अर्थ किन्हीं मूल विश्वासों में आस्था तथा किन्हीं सुनिश्चित मूल सिद्धांतों व नियमों का अनुसरण एवं उनके प्रति प्रतिबद्धता है। कट्टरतावाद सदैव धार्मिक स्वरूप का नहीं होता, गैर धार्मिक रूप का भी हो सकता है।

मतों के प्रति जटिल नैष्ठिकता है, और यह धार्मिक किया वे जारी किया दोनों हो सकते हैं। हैबुड ने अपनी पुस्तक “**पॉलीटिकल आईडियोलॉजिस**” में कट्टरतावाद की परिभाषा इस प्रकार की है “कट्टरतावाद आमूल अथवा किसी मत के मौलिक सिद्धांतों में विश्वास है, जो प्रबल प्रतिबद्धता से जुड़ा होता है तथा जिस का प्रतिबिंब उसके दूरग्राही उत्साह में दिखाई पड़ता है” अतः कट्टरतावाद में —

- मौलिक नियमों में विश्वास।
- विश्वास के प्रति प्रतिबद्धता।
- प्रतिबद्धता के दुराग्रह पूर्ण होना शामिल है।

कट्टरतावाद पंथनिरपेक्षवाद, विवेकवाद, मानववाद तथा सहिष्णुता का विरोध है। यह नागरिक समाज को अनेक टुकड़ों में बांट देता है जो एक दूसरे के विरुद्ध एक दूसरे के प्रहार करने के लिए तत्पर रहते हैं तथा जो एक दूसरे के विपरीत गणना का प्रचार करते हैं। एक कट्टरतावादी केवल अपनी धर्म को अपने हित की दृष्टि से ही समझता है धर्म का एक वास्तविक अनुयाई कट्टरपंथी कभी नहीं होता वस्तुतः कट्टरतावादी धर्म विरोधी होता है। एक धार्मिक कट्टरपंथी वह होता है जो अपने धार्मिक समुदाय को सूरत तथा अन्य से अलग समझता है। वह सामान्य हित को त्याग अपने हित को अधिक महत्व देता है। कट्टरतावाद विश्वासों का एक प्रयोजन या व्यवस्था है। उदाहरणार्थ वैचारिक कट्टरतावाद। साम्यवाद, फासीवाद, उदारवाद तथा उस दृष्टि से कोई भी विचारधारा एक विश्वास व्यवस्था हो सकती है इस रूप में प्रत्येक विचारधारा कुछ सीमा तक कट्टरतावादी होती है। प्रत्येक विचारधारा में विश्वास आस्था होती है नियमों का एक समूह होता है स्थाई तत्व होते हैं अनुयाई होते हैं जो अपनी आस्था में प्रदर्शित करते हैं जैसे कि प्रत्येक धर्म में होता है ऐसी सभी विशेषताएं धार्मिक कट्टरतावाद में दिखाई देती है। कट्टरतावाद सामान्यता तथा अपेक्षाकृत विस्तृत रूप में एक विचारधारा अथवा विश्वास व्यवस्था है जिसकी और प्रतिबद्धता लगभग आस्था का मामला समझा जाता है कथनी व करनी दोनों रूपों में है।

22.3.1 कट्टरतावाद के लक्षण— कट्टरतावाद शब्द का अर्थ भिन्न लोगों के लिए भिन्न है। कभी-कभी इसका प्रयोग बिना किसी स्पष्ट अर्थ को सुझाए निंदनीय रूप में किया जाता है। पहले पहले “फंडामेंटल्स शब्द का प्रयोग 1909 में संयुक्त राज्य अमेरिका में बताया जाता है। प्रारंभिक रूप से इस शब्द को जिस अर्थ का संकेत मिला है वह यह है कि बाइबल अथवा किसी भी धर्म की पवित्र पुस्तक में दिए गए विश्वास कभी गलत नहीं होते क्योंकि यह सीधे ईश्वर की देन होते हैं।” कट्टरतावाद के निम्न लक्षण हैं—

1. कट्टरतावाद का एक मौलिक लक्षण है कि यह अमूल ता तथा उसके सुनिश्चित स्रोतों की ओर देखता है तथा उसे अपने शब्दों में ही व्याख्या करता है तथा इस तथ्य पर बल देता है कि व्याख्या कार जो व्याख्या कर रहा है वह सही व्याख्या है। ऐसा व्यक्ति विपरीत व्याख्या को स्वीकार नहीं करता तथा जिसे व्यास सही मान रहा है उससे बदलता भी नहीं है।
2. मत उपासना सभी प्रकार के कट्टरतावाद का एक अन्य लक्षण है कट्टरतावाद के सिद्धांत अनुलंगनिय, आलोप्य, आक्षरिक, निरंकुश तथा बाध्य है। एक कट्टरपंथी को पूर्ण विश्वास होता है कि उसके मूल सिद्धांत सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान है उसकी आस्था त्रुटि हीन है
3. कट्टरतावाद वार्ता की भाषा को नहीं जानता केवल अधिरोपण की जवान समझता है। अपने मत को सही मानते हुए एक कट्टरपंथी समस्त समाज को उस मत को मानने पर बल देता है। कट्टरपंथी वाद-विवाद में भाग लेने की बजाय हो रही वार्ता गोष्ठी पर नियंत्रण करते हैं अनेक बार तो बलपूर्वक समाज तथा संसार पर अपने सिद्धांतों थोपने हेतु दखलअंदाजी भी करने में संकोच नहीं करते।
4. कट्टरतावाद का अपना ही मत होता है यह राजनीतिक कानून के रूप में कड़े से कड़े नियम थोपते हैं। खुमैनी के इरान में शरिया ही वहां का कानून था, तालिबान के अफगानिस्तान में भी कुछ ऐसा ही कानून थे, जर्मनी के हिटलर का शब्द इटली के मुसोलिनी का शब्द अथवा पूर्व सोवियत संघ में स्टालिन का शब्द ही कानून समझा जाता था।
5. उग्रता कट्टरतावाद का एक अन्य लक्षण है यह अपने मत व सिद्धांतों को उग्रता पूर्वक थोपे जाने पर बल देता है। कट्टरतावाद उग्रवाद का ही रूप होता है। उसकी शक्ति संपूर्ण आस्था में होती है, जहां कोई विवेक नहीं होता, सब के प्रति गणना होती है और संवेदना नहीं होती समस्त मतबद्धता होती है स्नेह नहीं होता। यह धर्म के मूल निर्देशों की कुव्याख्या करता है। यह अनुयायियों को कुशिक्षित करता है।
6. कट्टरतावाद का कोई आधार नहीं होता अर्थात वह बिना आधार के होता है। वह निष्कर्ष से आरंभ करता है और बाद में निष्कर्षों के लिए तर्कों व समर्थकों को तलाशता है। कट्टरतावाद साक्ष्य हीन प्रयास है। बिडस्ट्रप लिखते हैं “कट्टरतावाद अपने अनुयायियों के मस्तिष्को में पूर्वाग्रह कट्टरपन असहनशीलता तथा घृणा भरता है।” वे आगे कहते हैं “किसी भी प्रकार का कट्टरतावाद प्रगति नहीं होता अपितु प्रगति का अवरोध होता है।

22.4 निष्कर्ष- अतः इस प्रकार कट्टरतावाद धार्मिक तथा वैचारिक हठधर्मिता का परिणाम है। यह अपने सकारात्मक रूप में जहां अपने धर्म व विचार के प्रचार प्रसार में योग देता है वही नकारात्मक रूप में यह अन्य समाजों व समुदायों के प्रति अलगाव व पृथक्करण के भाव को विकसित करती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. कट्टरतावाद की अवधारणा को विस्तार पूर्वक समझाइए?
2. कट्टरतावाद के लक्षणों की विवेचना कीजिए??

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कट्टरतावाद क्या है?
2. कट्टरतावाद के चार प्रमुख लक्षण बताइए?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कट्टरतावाद क्या है?
2. कट्टरतावाद के प्रमुख लक्षण कौन-कौन से हैं?

23.1 उद्देश्य**23.2 प्रस्तावना****23.3 राष्ट्रवाद अर्थ व परिभाषा****23.3.1 राष्ट्रवाद के तत्व****23.3.2 राष्ट्रवाद के विविध रूप****23.3.2.1 रूढ़िवादी राष्ट्रवाद****23.3.2.2 उदारवादी राष्ट्रवाद****23.3.2.3 सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद****23.3.2.4 जनवादी राष्ट्रवाद****23.3.3 एक राष्ट्र एक राज्य की अवधारणा****23.3.4 राष्ट्रवाद के गुण****23.3.5 राष्ट्रवाद के अवगुण****23.4 निष्कर्ष**

23.1 उद्देश्य – प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है कि इसके अध्याय के पश्चात यह जाना जा सके कि—

- राष्ट्रवाद क्या है तथा कौन से तत्व इसके उदय के लिए उत्तरदाई हैं?
- एक राष्ट्र एक राज्य की अवधारणा क्या है?
- राष्ट्रवाद के गुण व अवगुण का व्यापक ज्ञान।

23.2 प्रस्तावना – 19वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में जगह-जगह जो राष्ट्रवाद की लहर चली उससे पूर्वी यूरोप के साम्राज्य को ध्वस्त करने में प्रमुख भूमिका निभाई 20वीं शताब्दी में राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धांत की स्वीकृति में राष्ट्रवाद को एक नया आयाम प्रदान किया किंतु कालांतर में यही राष्ट्रवाद का विचार विश्व शांति में बाधक बन गया। इस सिद्धांत के प्रतिपादन व विस्तार में हीगल वह मैजिनी ने जहां सकारात्मक योगदान दिया वहीं हिटलर, मसोलिनी के राष्ट्रवाद ने इस सिद्धांत को घृणास्पद बना दिया।

23.3 राष्ट्रवाद अर्थ व परिभाषा— राष्ट्रवाद एक भावना भी है और विचारधारा भी है। एक भावना के रूप में राष्ट्रवाद अपने राष्ट्र या देश के प्रति प्रेम का संकेत देता है। अतः राष्ट्रवाद को मातृभूमि से प्रेम अथवा देशभक्ती का समरूपी माना जाता है। जबकि एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद यह मांग करता है कि किसी राष्ट्र को किसी अन्य राष्ट्र के प्रभुत्व या अधिपत्य में रहने के लिए विवश न किया जाए।

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका में राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि “राष्ट्रवाद ऐसे लोगों की मनः स्थिति अथवा मनोदशा है जिनको समरूपी संस्कृति है, जो किसी निश्चित भू-भाग पर निकट सम्पर्क के कारण साथ-साथ रहते हैं तथा अपने विशिष्ट व साझे भाग्य में विश्वास रखते हैं।”

इसी प्रकार प्रोफेसर हेन्स कोहने ने लिखा है कि “राष्ट्रवाद समाज के बहुसंख्यक सदस्यों में व्याप्त एक मनः स्थिति है जिसका यह दावा रहता है कि यह मनः स्थिति सभी सदस्यों में व्याप्त है।”

अतः इस प्रकार राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता की भावना का संगठित रूप है। यह एक प्रकार की सामूहिक भावना है जिसका आधार विभिन्न प्रकार की एकताएं हैं जैसे— धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एकताएं जिसका सम्बन्ध मुख्यतः राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करना या उसे विकसित करना होता है।

एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद का उदय यूरोप में 18वीं शताब्दी के अंत में हुआ। यह इस मान्यता के रूप में व्यक्त हुआ कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना शासन स्वयं चलाने को अधिकार प्राप्त होना चाहिए तथा राष्ट्रवाद की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति सबसे पहले फ्रांसीसी क्रांति (1789) के रूप में सामने आयी। तथा सिद्धान्त के रूप में राष्ट्रवाद की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति जर्मन दार्शनिक जी. डब्ल्यू. एफ. हीगल और इताली विचारक मेजिनी के विचारों में दिखायी देती है। हीगल के विचारों ने जर्मनी के एकीकरण को बढ़ावा दिया व मेजिनी के विचारों ने इटली के एकीकरण में योगदान दिया। 19वीं शताब्दी में “राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त” को विधिवत मान्यता दी गयी जिसके परिणामस्वरूप अनेक नए राष्ट्र

अस्तित्व में आये। “राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार राज्य की सीमा का निर्धारण राष्ट्रीयता की सीमा के अनुसार होनी चाहिए। यह सिद्धान्त किसी राष्ट्रीयता के लोगों का यह प्राकृतिक अधिकार मानता है कि वे राजनीतिक भाग्य का निर्धारण स्वयं करें। अर्थात् भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयताओं वाले लोगों को सम्बन्धित राज्य की अधीनता छोड़ने तथा उसके स्थान पर अपना अलग राज्य बनाने का अधिकार है। इसी प्रकार यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि किसी बहु राष्ट्रीय राज्य के विखण्डन को एक स्वाभाविक तथा तत्काल सम्मत परिणाम मानना चाहिए।

23.3.1 राष्ट्रवाद के तत्त्व—राष्ट्रवाद विभिन्न एकताओं व समानताओं का संगठित रूप है। राष्ट्रवाद वस्तुतः मनुष्य को मानसिक एवम् भावनात्मक प्रवृत्ति है जिसका निर्माण या विकास निम्न तत्त्वों के संयोजन से होता है—

- **जातीयता का तत्त्व**— जाति अथवा वंश को राष्ट्रवाद का मुख्य आधार माना जाता रहा है। इस धारणा की यह मान्यता है कि जातीय एकता जितनी गहरी होगी राष्ट्रवाद की चेतना भी उतनी ही प्रबल होगी क्योंकि समान जातिगत लक्षण लोगों को भावनात्मक रूप से जोड़ती है और राष्ट्र के प्रति अगाध निष्ठा का भाव उत्पन्न करती है। जैसे जर्मनी का उग्र राष्ट्रवाद जर्मन जाति में निहित एकता का परिणाम माना जा सकता है। किन्तु आधुनिक काल में संसार की समस्त जातियाँ किसी न किसी अन्य जाति के रक्त सम्मिश्रण का परिणाम है अतः बहुसंस्कृतिवाद के समर्थकों का मानना है कि अब यह संदेहास्पद रह गया है कि राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए जाति की समानता की आवश्यकता है।
- **भाषागत समानता**— भाषा परस्पर संवाद का माध्यम है जिससे एक राष्ट्र में रहने वाले विभिन्न व्यक्ति अपने विचार दूसरों को संप्रेषित करने में सफल रहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र तथा उसमें रहने वाली जाति ने अपनी भाषा व साहित्य पर सदैव गर्व किया है। भाषा व साहित्य के द्वारा ही अपने गौरवशाली अतीत को आने वाली पीढ़ियों तक प्रेषित किया जाता है। रैम्जेम्योर ने भाषा के तत्त्व को राष्ट्र निर्माण में जाति के तत्त्व से भी अधिक महत्व प्रदान किया है। किन्तु साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि एक राष्ट्र की एक ही भाषा हो स्विट्जरलैण्ड में कम से कम चार भाषाएँ— स्विस्, इटालियन, जर्मन, व फ्रेंच बोली जाती हैं। इसी प्रकार कनाडा में दो राष्ट्रीय भाषाएँ— अंग्रेजी व फ्रेंच बोली जाती हैं।
- **भौगोलिक एकता**— विचारकों का मानना है कि प्राकृतिक सीमाएं राष्ट्रवाद व राष्ट्रीयता को विकसित करने व इसे कायम रखने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। किसी राष्ट्र के व्यक्ति जिस निश्चित भू-भाग में रहते हैं उसे अपनी मातृभूमि या पुण्यभूमि बना लेते हैं। देश की भौगोलिक सीमाओं और विशेषताओं— नदियाँ, पहाड़, समुद्र को आत्मीयता का आधार माना जाता है। “हमारी पवित्र गंगा” या हमारी पवित्र टेम्स नदी राष्ट्रीयता के भावों की ही अभिव्यक्ति है।
- **समान राजनीतिक आकांक्षा व हित**— जब किसी विस्तृत जन समूह के सदस्य जब समान धर्म, भाषा या संस्कृति इत्यादि से सम्बद्ध होते हुए एक ही राज्य के रूप में संगठित होते हैं या संगठित होने की आकांक्षा रखते हैं तथा ऐसी यथार्थ या काल्पनिक सत्ता के प्रति निष्ठा से बंधे हुए अनुभव करते हैं तब वे एक राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं। राष्ट्रवाद से प्रेरित लोग अपने राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बनाते हैं। राष्ट्रवाद से प्रेरित लोग अपने राष्ट्र की परम्परा व राष्ट्र के इतिहास पर गर्व का अनुभव करते हैं और उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं।
- **समान राष्ट्रीय चेतना**— जब किसी जन समूह पर साम्राज्यवादी या उपनिवेशवादी शक्ति का आधिपत्य हो, तो वह अपनी स्वाधीनता के संघर्ष के लिए अपने आपको संगठित कर समान राष्ट्रीयता का संचार करता है। इस गतिविधि को राष्ट्रीय आन्दोलन की संज्ञा दी जाती है जैसे भारत में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध उत्पन्न हुई राष्ट्रीय चेतना ने भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- **राष्ट्रीय प्रतीक चिन्हों के प्रति सम्मान का भाव**— किसी राजनीतिक समुदाय द्वारा जब राष्ट्रीय वेशभूषा, राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्रगान, राष्ट्र-नायक, राष्ट्र-पुष्प इत्यादि के रूप में प्रतीक चिन्हों को अपना लिया जाता है तो स्वाभाविक रूप से सम्पूर्ण राष्ट्र इनके आगे नतमस्तक हो जाता है और इनके माध्यम से राष्ट्र के लोगों हृदय में राष्ट्रवाद के भार का संचार होता है।

23.3.2 राष्ट्रवाद के विविध रूप—

23.3.2.1 रूढ़िवादी राष्ट्रवाद—राष्ट्रवाद के रूप के इस अनुसार राष्ट्रवाद से उस निष्ठा का बोध होता है जो किसी राष्ट्र के लोग अपने राष्ट्र की परम्पराओं के प्रति रखते हैं। रूढ़िवादी राष्ट्रवाद के अनुसार राष्ट्र का एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व होता है व उसकी निजी परम्परा होती है। इस परम्परा का सम्मान व संरक्षण करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। इस प्रकार के राष्ट्रवाद के अन्तर्गत जो कुछ पुराना व पारम्परिक है वहीं राष्ट्रीय है तथा उसकी रक्षा की जानी चाहिए। ऐसे राष्ट्रवाद में अपना राष्ट्र एवं अपने राष्ट्रीय हित अन्य राष्ट्रों के हितों की अपेक्षा सर्वोपरि होते हैं।

23.3.2.2 उदारवादी राष्ट्रवाद:— यह राष्ट्रवाद का वह रूप है जिसके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों में प्रति सहिष्णुता की भावना रखता है। इस दृष्टिकोण का मानना है कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व होता है और उसका यह अधिकार होता है कि वह अपना सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक उत्थान अपने ढंग से कर सके। इस प्रकार उदारवादी राष्ट्रवाद राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रतीक है। उसके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को अधिकार है कि वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता का उपभोग करते हुए अपनी उन्नति अपने ढंग से करे।

23.3.2.3 सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद:— राष्ट्रवाद के इस रूप के अनुसार व्यक्ति को अपना सब कुछ राष्ट्र के लिए बलिदान कर देना ही वास्तविक राष्ट्रवाद है। इसके अनुसार राष्ट्र साध्य है और व्यक्ति साधन मात्र है। इसके अनुसार राष्ट्र की उन्नति में ही व्यक्ति के अधिकारों के स्थान पर उसकी कर्तव्य परायणता पर अधिक बल देता है। जर्मनी या इटली के राष्ट्रवाद को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

23.3.2.4 जनवादी राष्ट्रवाद:— उदारवादी राष्ट्रवाद के अन्तर्गत व्यक्ति से तात्पर्य सर्वसाधारण से न होकर कुछ गिने-चुने लोगों से होता है वहीं जनवादी राष्ट्रवाद सर्वसाधारण को राष्ट्र का प्रतीक मानता है तथा प्रतिपादित करता है कि यद्यपि राष्ट्र का नेतृत्व तो कुलीनों को ही करना चाहिए तथापि सम्पूर्ण जनता ही वास्तविक राष्ट्र है और उसके अधिकारों की रक्षा व हितों का सम्पादन ही सच्चा राष्ट्रवाद है।

23.3.3 एक राष्ट्र—एक राज्य” की अवधारणा—19वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को अधिक मान्यता मिली। मैजिनी तथा नेपोलियन ने भी इसी सिद्धान्त में विश्वास व्यक्त किया था कि राष्ट्र की तथा राज्य की सीमाएं एक ही होनी चाहिए। प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय को अपने राजनीतिक जीवन को स्वतंत्र राज्य के रूप में संगठित होने का अधिकार है। इस सिद्धान्त के पीछे यही भाव निहित है। अपनी उपयोगिता को लेकर यह सिद्धान्त विवादास्पद रहा है।

इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि इसमें नागरिकों में भ्रातृत्व भाव रहते हैं व राष्ट्रीय संस्कृति एवं अभिज्ञान की रक्षा होती है। इसके विपरीत बहु राष्ट्रीय राज्य में परस्पर विरोधी सांस्कृतिक संघर्षों, तनावों व मतभेदों के कारण राष्ट्रीय एकता खण्डित होती है। इसमें एकतापूर्ण जनमत का निर्माण होता है जिससे प्रतिनिधि शासन का संचालन सफल रहता है। ऐसे राज्य में अल्पसंख्यक वर्ग तथा उनसे निरन्तर उत्पन्न होने वाली समस्याओं का अभाव रहता है। ऐसे राज्य में राजनीतिक संस्थाओं का संचालन सहज व सुचारु रूप से होता है। आधुनिक काल में यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त का भी पक्षपोषण करता है।

दूसरी ओर इस सिद्धान्त के आलोचकों का मानना है कि यह सिद्धान्त संकीर्ण एवं उग्रराष्ट्रवाद का पक्षपोषण करता है। जबकि बहु राष्ट्रीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्पदाओं के आदान प्रदान व अन्तर्राष्ट्रीय मधुर सम्बन्धों को प्रोत्साहित करता है। लार्ड एक्टन जैसे विचारक इस सिद्धान्त को लोकतंत्र विरोधी, विध्वंसकारी व प्रतिक्रियावादी मानता है। इस सिद्धान्त के आलोचकों का मानना है कि बहु-राष्ट्रीय में भी अनेक राष्ट्रीयताओं का निवास होने के उपरान्त भी एकता, प्रजातंत्र व प्रगति जैसे गुण देखने को मिलते हैं, इसका सर्वोत्तम उदाहरण स्विजरलैण्ड है।

अतः यह कहना उचित प्रतीत होता है कि एक राज्य में अनेक राष्ट्रीय समुदायों का होना स्वतंत्रता का प्रतीक है। सौ विभिन्न फूलों का एक ही उद्यान में खिलना विविधताओं के संगम का सर्वोत्तम उदाहरण है।

23.3.4 राष्ट्रवाद के गुणः—

- (1) राष्ट्रवाद देशभक्ति के भावों को प्रोत्साहित कर मनुष्यों को देश तथा मानव जाति की सेवा के लिए प्रेरणा देता है। उदात्त राष्ट्रवाद त्याग, देश प्रेम, आत्म बलिदान जैसे सृजनात्मक गुणों का पोषक होना है।
- (2) राष्ट्रवाद के महत्त्व को उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की विरोधी शक्ति के रूप में देखा जा सकता है। एशिया व अफ्रीका के देशों में उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी आन्दोलन का सूत्रपात राष्ट्रवाद द्वारा ही सम्पद हो पाया। राष्ट्रवाद देश की गरिमा व स्वतंत्रता का पोषक भाव है जो साम्राज्यवादी शासन का विरोध करता है।
- (3) उदात्त व शांतिपूर्ण राष्ट्रवाद शांतिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज के निर्माण में रचनात्मक योगदान देता है। यह शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का मार्ग अपनाकर अन्तर्राष्ट्रीय का पथ प्रदर्शन करता है। यह विचारधारा राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय शांति दोनों को सम्पद बनाती है।
- (4) राष्ट्रवाद ने एक विशेष प्रकार की जाति वाले लोगों को एकताबद्ध करने में अत्यधिक रचना भूमिका निभाई।
- (5) राष्ट्रवाद में स्वशासन की भावना समाहित है जिसमें लोकतंत्र को जन्म दिया।
- (6) बंधुत्व और सहयोग की भावना राष्ट्रवाद के साथ जुड़े जाने से राष्ट्रवाद व उदारवाद समरूपी आंदोलन बन गए।

23.3.5 राष्ट्रवाद के अवगुण— जहां एक और राष्ट्रवाद सृजनात्मक शक्ति है वहीं दूसरी और यह विकृत होकर आक्रामक, विस्तारवादी व विश्व शांति की संहारक भी बन जाती है। राष्ट्रवाद एक दुधारी तलवार है जिसमें गुण व अवगुण दोनों पाये जाते हैं। इसमें निहित अवगुण निम्न हैं यथा—

- (i) यह राष्ट्रीय अहंकार की भावना से प्रेरित होकर विस्तारवाद वह साम्राज्यवाद में परिवर्तित हो जाता है। इसके मूल में राष्ट्रीय स्वार्थ की भावना होती है जो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सैन्यवाद युद्ध साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेती है। द्वितीय विश्वयुद्ध हिटलर मुसोलिनी के इसी प्रकार के राष्ट्रवाद का परिणाम था।
- (ii) राष्ट्रवाद अन्तराष्ट्रीय स्तर पर शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देता है। तथा विश्व शांति के समक्ष चुनौति उत्पन्न करता है।
- (iii) यह विचारधारा व्यक्ति को साधन व राज्य को साध्य के रूप में प्रस्तुत करती है। जिससे निरंकुशतावाद व अधिनायकवाद को प्रोत्साहन मिलता है।
- (iv) यदि राष्ट्रवाद किसी एक जाति को आपस में बांधता है तो उस जाति के दूसरी जाति से अलग भी करता है। अतः यह जाति विशेष में अलगाव की भावना का पोषक है।
- (v) राष्ट्रवाद की भावना अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों के अत्याचार को स्वीकृति प्रदान करता है। इसमें बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों के हितों पर प्रहार करता है, उनके प्रति असहिष्णुता होता है जिससे देश में वैमनस्य के भाव पैदा होते हैं। यथा— जर्मन जाति द्वारा यहूदियों पर किये गये अत्याचार।
- (vi) राष्ट्रवादी मानव की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नियंत्रित व सीमित करने वाली विचारधारा है
- (vii) आलोचकों द्वारा राष्ट्रवाद को दो रूपों में विभाजित किया गया है:—
(क) भेड़ियों का आक्रामक राष्ट्रवाद, ऐसा राष्ट्रवाद जो दूसरे राष्ट्र के प्रति घृणा की भावना पैदा करता है तथा दूसरे राष्ट्र के प्रति आक्रामकता की नीति अपनाता है जैसे जर्मन व इटली।
(ख) भेड़ों की आत्मरक्षामूलक राष्ट्रवाद, ऐसा राष्ट्रवाद जो पड़ोसी देश के प्रति सौहार्द की भावना रखता है और जिसका आदर्श जियो व दूसरों को जीने में सहायता दो है यथा भारत।

23.4 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार एक विचार के रूप में राष्ट्रवाद सराहनिय उच्च आदर्शों से युक्त है किंतु जब यह आक्रामक व कटोर रूप धारण कर लेता है तो यह संपूर्ण मानव जाति के लिए हानिकारक व विध्वंसकारी हो जाता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रवाद की अवधारणा की सविस्तार व्याख्या कीजिए?
1. राष्ट्रवाद के प्रमुख तत्व बताइए?
2. राष्ट्रवाद के गुण व दोषों पर एक लेख लिखिए?

लघुात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रवाद को परिभाषित कीजिए?
2. एक राष्ट्र एक राज्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
3. राष्ट्रवाद के गुण दोष क्या हैं?

अति लघुात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रवाद क्या है?
2. राष्ट्रवाद की अवधारणा के प्रमुख प्रतिपादन कौन थे?
3. भेड़ियों का आक्रामक राष्ट्रवाद से क्या तात्पर्य है?

इकाई-24

बहुसंस्कृतिवाद

24.1 उद्देश्य

24.2 प्रस्तावना

24.3 बहुसंस्कृतिवाद का अर्थ व स्वरूप

24.3.1 बहुसंस्कृतिवाद के पक्ष में तर्क

24.3.2 बहुसंस्कृतिवाद के विपक्ष में तर्क

24.4 निष्कर्ष

24.1 उद्देश्य—इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात जाना जा सकेगा की—

- बहुसंस्कृतिवाद की अवधारणा क्या है?
- बहुत संस्कृतिवाद के पक्ष व विपक्ष को समझ पाएंगे।

24.2 प्रस्तावना— “वसुधैव कुटुंबकम्” अर्थात् यह दुनिया एक कुटुंब के समान है जिसमें विभिन्न संस्कृति, धार्मिक, भाषाई, पृष्ठभूमि के लोग सदियों से परस्पर साथ रहते आ रहे हैं यह विविधता में एकता इस दुनिया को उपवन के समान बहुरंगी बना देती है। किंतु 9/11 की घटना ने इस अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगा दिया इसी कारण वर्तमान समाज बहुसंस्कृतिवाद व कट्टरवाद में सामान्य व बनाने का प्रयास कर रहा है

24.3 बहुसंस्कृतिवाद का अर्थ व स्वरूप— सामान्य अर्थ में बहुसंस्कृतिवाद देश या समाज में अलग-अलग धर्मों सांस्कृतिक समूहों के लोगों का सहअस्तित्व है। इस संकल्प का जन्म 70 के दशक में अमेरिका और यूरोप में श्वेत संस्कृति के पक्ष में अन्य संस्कृतियों के समरूपीकरण के विरोध में प्रति सांस्कृति व मानवाधिकारवादी आंदोलनों से हुआ। “मेल्टिंग पॉट” व “सलाद का कटोरा” अमेरिका में बहुसंस्कृतिवाद के संदर्भ में दो धारणा के रूप में प्रचलित है “मेल्टिंग पॉट” में विभिन्न संस्कृतियां या राष्ट्रीयता अमेरिकी मूल्यों में आत्मसात हो जाती है जबकि “सलाद का कटोरा” में एक राष्ट्र के भीतर विभिन्न संस्कृतियां व राष्ट्रीयताएं अपने अलग-अलग रंग रूपों के साथ अपनी पहचान बनाए रखती हैं। बहुसंस्कृतिवाद “सलाद का कटोरा” की धारणा का समर्थन करता है क्योंकि इसका अस्तित्व इसी पर टिका है। 21वीं सदी के प्रारंभ से घटित घटनाओं की श्रृंखला ने पश्चिमी देशों के समाज की बहुसंस्कृतिक बनावट के परिणामस्वरूप स्थापित शांतिपूर्ण सौहार्द को भंग किया है। उदाहरण के तौर पर 9/11 के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हुआ हमला और प्रतिक्रिया स्वरूप अमेरिका और उसके नाटो सहयोगियों द्वारा चलाया गया आतंक विरोधी युद्ध जिसकी इस्लामी कट्टरपंथियों द्वारा इस्लाम के विरुद्ध युद्ध के रूप में व्याख्या की गई। इसी तरह अमेरिका का इराक पर आक्रमण 2015 में पत्रिका शार्ली हेब्डो (फ्रांस) के कार्यालय पर हमला आदि घटनाओं पर परिणाम स्वरूप पश्चिमी देशों के बहुसंख्यक समाज के अल्पसंख्यक समुदाय के प्रति अपनी नाराजगी प्रकट की। इसके परिणाम स्वरूप बहुसंख्यकवाद के सिद्धांत की विफलता पर बहस तेज होने लगी और इन सभी देशों में धर्म एवं संस्कृति से परे एक मजबूत राष्ट्रीय पहचान का आग्रह जोर पड़ने लगा है।

एक ही साथ सभी संस्कृतियों का सम्मान करना तथा संवैधानिक रूप से उन्हें बराबर का स्थान देना वह संस्कृतिक ता का आधार है कोई भी देश तभी बहुत संस्कृतिक कहलाता है जब वह अपने यहां उपस्थित लगभग सभी संस्कृतियों को समान महत्व देता है लेकिन सम्मान में तो देने के क्रम में इस बात का विशेष तौर पर ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि कोई भी एक संस्कृति किसी अन्य पर हावी ना हो और ना ही उसके विशाल स्वरूप में तथाकथित छोटी संस्कृति या लुप्त हो जाए। बहुसंस्कृतिक राष्ट्र वह है जिसकी सीमा में सभी उपलब्ध संस्कृतियां अपने पूर्ण अस्तित्व के साथ बनी रहती है। पिछले कुछ दशकों में यह बहुसांस्कृतिकता एक राजनीतिक विचार बनकर उभरी है जिसे बहुसंस्कृतिवाद का जाता है। बहुसंस्कृतिकता एक ऐसा विचार है जिसे कई देशों ने अपनी राजकीय नीति के तौर पर स्वीकार किया है। इसकी चर्चा सबसे पहले 1970 के दशक के आरंभिक वर्षों में कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में शुरू हुई। कनाडा जहां राजकीय नीति के तौर पर बहुसंस्कृतिवाद को सबसे पहले अपनाया गया और जहां आप्रवासियों की संख्या पूरे विश्व में सबसे अधिक है। यह विचार इस बात पर बल देता है कि किसी समाज में मौजूद विभिन्न जातीय संस्कृतियों को राज्य की ओर से समुचित मान्यता मिलनी चाहिए। किसी खास जातीय, धार्मिक, सांस्कृतिक समुदाय के मूल्यों को केंद्रीय मानकर उन्हें मान्यता, संरक्षण और प्रोत्साहन देना तथा अन्य को हाशिए पर धकेल देना अनुचित है। संस्कृतिक वैविध्य के महत्व पर बल देने वाली यह मान्यता वस्तुतः समांगीकरण, यानी मिलकर एकमेक हो जाने की नीति के खिलाफ है। समांगीकरण की नीति एक मुख्यधारा का निर्माण करके अन्य सभी को उस में घुला मिला देने का जतन करती है अल्पसंख्यक सांस्कृतिक

समूह की अस्मिता को स्वतंत्र मान्यता और सामान नहीं मिलता। यह प्रक्रिया अंततः बहुसंख्यक संस्कृति के वर्चस्व को ही मजबूत करती है। बहुसंस्कृतिवाद इन सभी तरह के रवैयों के विरुद्ध एक आह्वान है। कई राष्ट्रों ने 1970 के बाद से घोषित अधोषित रूप में बहुसंस्कृतिवाद को सरकारी तौर पर अपनाया है अंतर्गत कई जगहों पर एक से ज्यादा देशों की नागरिकता रखने की छूट दी गई। त्योहारों और छुट्टियों के लिए विशेष व्यवस्था होती है, स्कूलों, सेना और आमतौर पर समाज में पारंपरिक तथा धार्मिक कपड़े पहनने की छूट दी गई है। इस तरह के कई प्रयासों के रूप में बहुसंस्कृतिवाद की नीति राज्य के स्तर पर प्रति फलित होती है।

“क्वाट इज मल्टीकल्चरलिज्म” शीर्षक में अपने लेख में **भीखू पारेख** ने बहुसंस्कृतिवाद को एक राजनीतिक सिद्धांत मानने के बजाय मानव जीवन को देखने का एक तरीका या नजरिया बताया है। वे मानते हैं कि बहुसंस्कृतिवाद ई नजरिया तीन महत्वपूर्ण और परस्पर पूरक अंतर्दृष्टिओं से मिलकर बना है—

पहला यह है कि हर मनुष्य की जड़े अपनी संस्कृति में दसी होती है इस मायने में कि वे एक ऐसी दुनिया में ही पलते बढ़ते और जीते हैं जो संस्कृति के रूप में गढ़ी गई हो। इसका मतलब बस इतना है कि वह अपनी संस्कृति के कुछ प्रभावों का अतिक्रमण तो कर सकता है लेकिन सभी का नहीं।

दूसरा हर संस्कृति आंतरिक रूप से बहुलता मुल्क होती है संस्कृति या सचेत या अचेत रूप से एक दूसरे के साथ अंत क्रिया करते हुए विकसित होती है कोई भी संस्कृति पूरी तरह विशुद्ध नहीं होती उसके अंदर दूसरी संस्कृतियों के अंश अवश्य होते हैं। इसी से जुड़ी हुई बात यह है कि जो संस्कृति अपने अंदर की बहुलताओं के प्रति सकारात्मक रुख नहीं अपनाती उसका रुक दूसरी संस्कृतियों के प्रति भी सकारात्मक नहीं होती। कोई संस्कृति भारी विवादों के प्रति तब तक सहज नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने आंतरिक वेदों के प्रति सहज ना हो।

तीसरा अच्छा जीवन किसे कहते हैं और जीवन को केसा होना चाहिए इसके बारे में संस्कृतियां अलग-अलग तरह की मान्यताएं रखती है। इसका यह मतलब नहीं कि सिर्फ अपनी संस्कृति के दायरे में रहकर एक अच्छा जीवन का निर्वाह असंभव है। इसका मतलब इतना भर है कि दूसरी संस्कृतियों के संप्रक से हमारी जीवन पद्धति अधिक समृद्ध हो सकती है। भीखू पारेख कि इन बातों को आसान शब्दों में रखे, तो बहुसंस्कृतिवाद एक दृष्टिकोण है जो संस्कृति के सवाल पर हमारे भीतर एक तरह का खुलापन लाता है। हम अपनी संस्कृति समेत तमाम संस्कृतियों के बीच से किसी एक को सर्वोत्कृष्ट मानने का मुगालता नहीं पालते, यह मानते हैं कि सभी संस्कृति या आपसी मेलजोल से ही विकसित हुई है और आगे भी अपने-अपने समिति दायरों में रहकर वे वैविध्य पूर्ण मानवीय अस्तित्व की संपूर्णता का साक्षत्कार व आस्वादन नहीं कर सकती। इसके साथ ही हम दूसरों की संस्कृति विशेषताओं के प्रति उदार रवैया अपनाते हैं जिसमें यह नहीं है कि कोई एक मूल्य व्यवस्था या जीवन पद्धति ही वेद नहीं है नहीं कोई दूसरी निकृष्ट या अनुचित है इस तरह बहु संस्कृति वादी दृष्टिकोण हमारे भीतर एकरूपता के विरुद्ध विविधता के प्रति रुझान पैदा करता है।

24.3.1 बहुसंस्कृतिवाद के पक्ष में तर्क— बहुसंस्कृतिवाद कोई निर्विवाद विचार नहीं है। आज अगर कई राष्ट्रीय इससे राजकीय नीति के तौर पर शिकार करते हैं और अलग-अलग सांस्कृतिक पहचानों की विशेषताओं को मान्यता देते हैं तो दूसरी ओर कई हलकों में कई कोणों से इसका विरोध भी किया जाता है। भूमंडलीय के दौर में संस्कृतियों की क्षेत्रीय हदबंदी सबसे अधिक टूटी है। किसी भी स्थान की आबादी में अलग-अलग सांस्कृतिक समूहों का प्रतिनिधित्व अभूतपूर्व तरीके से बढ़ा है। इसके साथ-साथ लोकतांत्रिक करण की प्रक्रिया ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों को लेकर एक अलग तरह की जागरूकता का माहौल निर्मित किया है। इसलिए आज वस्तु गत परिस्थितियों को देखते हुए इस बात की आवश्यकता महसूस की जा रही है कि समाज में रहने वाले भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक समूह को अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने की इजाजत दी जाए। किसी खास संस्कृति को समाज विशेष की मुख्यधारा मानना और दूसरों को दोयम दर्जे पर रखना या उनके मूल्य, मान्यताओं रीति-रिवाजों को वैधता ना देना, यह सामाजिक सदभाव के लिए घातक है। इसलिए बहुसंस्कृतिवाद के समर्थक इसे एक बेहतर व्यवस्था के रूप में देखते हैं जो लोगों को अपनी जड़ों के साथ जुड़कर जीने का खुला अवसर मुहैया कराती है और इस तरह क्रम में दूसरों के प्रति भी अधिक सहिष्णु बनाती है।

24.3.2 बहुसंस्कृतिवाद के विपक्ष में तर्क— संकीर्णता वादी विचार को से लेकर **“वाम रेडिकल बुद्धिजीवियों”** तक ने अपने-अपने तरीकों से बहुसंस्कृतिवाद का विरोध किया है। विचार को का मानना है कि बहुसंस्कृतिवाद राष्ट्रीय एकता को सामाजिक एकजुटता के लिए घातक है। वह एकल संस्कृति पहचान को राष्ट्रीय एकता के बुनियाद मानते हैं। एक धर्म, संस्कृति, भाषा ही उस राष्ट्र के वजूद का आधार होती है। इस तरह बहुसंस्कृतिवाद असल में अलगाववाद को बढ़ावा देता है। इस धारणा को व्यस्त करते हुए 1988 में ऑस्ट्रेलियाई प्रधानमंत्री **“जॉन हावर्ड”** ने कहा था कि **“बहुसंस्कृतिवाद के साथ मेरी बहस यह नहीं है कि वह विविधता के प्रति आदर और सहिष्णुता प्रदर्शित करता है बल्कि यह कि वह कई तरीकों से विभाजन पर बल देता है।”**

अमेरिका में भी क्लिंटन प्रशासन की बहुसंस्कृतिकवादी नीतियों के खिलाफ कई तरह के तक्र कुतक्र दिए गए। **सैम्युअल हंटिंग्टन** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **“द क्लेश ऑफ सिविलाइजेशनस् एंड द रीमेकिंग ऑफ वर्ल्ड ऑर्डर 1997”** में इस बात पर विशेष बल दिया कि अमेरिका को बहुसंस्कृतिकराष्ट्र बनाने की कोशिशें बहुत खतरनाक है। हंटिंग्टन का मानना है कि

सोवियत संघ के विघटन के बाद से विश्व में सांस्कृतिक कारणों से होने वाली लड़ाईओं की संख्या बहुत बड़ी है। संस्कृति के इस वृहत्तम रूप को सभ्यता कहते हैं। संस्कृति के इस वृहत्तम रूप की अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भूमिका अब बहुत महत्वपूर्ण होती जा रही है, क्योंकि भूमंडलीय राजनीति की सभ्यता के आधार पर देशों में एकजुट होने युद्ध की परिस्थितियों में लामबंद होने का रुझान साफ-साफ दिखलाई पड़ रहा है। इस तरह आगामी विश्व युद्ध अगर होगा तो वह सब सभ्यताओं के बीच युद्ध होगा। वह द्वितीय विश्व युद्ध की तरह वैचारिक आधार पर बटे हुए गुटों (फासीवादी और फासीवाद विरोधी) के बीच युद्ध नहीं होगा। अभी सात या आठ सभ्यताएं ऐसी हैं जिनका अस्तित्व आने वाले समय के लिए निर्णायक है— पश्चिमी, ऑर्थोडॉक्स स्लाव, कंप्यूजशियाई, जापानी, इस्लामी, हिंदू, लातिन अमेरिकी और संभवतः अप्रीकी अमेरिका के बारे में हंटिंग्टन कहते हैं कि वह मूलतः पश्चिमी इसायात वाली सभ्यता का हिस्सा है लेकिन इस रूप में अपने पहचान करने की बजाय वह बहुसांस्कृतिकता के नाम पर पहचान विहीन बनता जा रहा है। इससे वह पश्चिम बनाम अन्य सभ्यताओं विशेषतः इस्लाम के द्वंद में अन्य सभ्यताओं के हमले का निशाना बनने से तो नहीं बच पाएगा उल्टे उस हमले का निशाना बनते हुए वह अपनी सभ्यता के अन्य देशों के सामरिक सहयोग से भी वंचित होगा। अकेला पड़कर उसे दूसरी सभ्यताओं के सम्मिलित कोप और विशेषतः इस्लाम के हिंसक हमलों का शिकार बनते देर नहीं लगेगी। इसलिए अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विश्लेषक और रक्षा सलाहकार के तौर पर हंटिंग्टन ने अमेरिका को यह मशवरा दिया है कि वह बहुसंस्कृतिवाद के खतरनाक मुहावरे से बाहर निकले और पश्चिमी इसायात की सामाजिक सांस्कृतिक मुख्यधारा को अपनी राष्ट्रीयता के आधार के रूप में मान्यता दें। वामपंथी विचारकों ने भिन्न कौन से बहुसंस्कृतिवाद की आलोचना की है। राजकीय नीति के तौर पर प्रचलित बहुसंस्कृतिवाद को वे एक ऐसा सिद्धांत मानते हैं जो नस्लवाद या गोरों के वर्चस्व के खिलाफ परिवर्तनकारी संघर्ष चलाने की बजाय विविधता का दिखावटी जश्न मनाता है। इसीलिए यह विचारक प्रचलित उधार बहुसंस्कृतिवाद की जगह आलोचनात्मक बहुसंस्कृतिवाद की सिफारिश करते हैं जिसमें संस्कृतिक आलोचना की गुंजाइश हो और सामाजिक न्याय के प्रति गहरी प्रतिबद्धता हो।

24.4 निष्कर्ष— अतः इस प्रकार बहुसंस्कृतिवाद एक सकारात्मक अवधारणा है जिससे समाजों द्वारा, सामाजिक पूंजी का निर्माण होता है बहुसंस्कृतिवाद समुदायों की बहुलतावादी बनावट को स्वीकार करते हुए बहुतावादी नीतियों की मांग करता है और यह मांग लोकतंत्र का मार्ग प्रशस्त करती है। इसके पीछे मूल तर्किया है कि हम दूसरे धर्मों, संस्कृतियों व विचारों का आदर करें जो मनुष्य बनने की प्राथमिकता शर्त है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. बहुसंस्कृतिवाद पर एक लेख लिखिए?
2. बहुसंस्कृतिवाद का अर्थ बताते हुए इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. बहुसंस्कृतिवाद क्या है समझाइए?
2. बहुसंस्कृतिवाद के पक्ष में तर्क दीजिए?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. बहुसंस्कृतिवाद क्या है?
2. मेल्टिंग पॉट की संकल्पना का अर्थ क्या है?
3. क्या बहुसंस्कृतिवाद उचित है?

इकाई-25

फासीवाद

25.1 उद्देश्य

25.2 प्रस्तावना

25.3 फासीवाद अर्थ व स्वरूप

25.4 फासीवाद की प्रेरणा स्रोत

25.4.1 सामाजिक डार्विनवाद

25.4.2 तक्र बुद्धि विरोध बाद

25.4.3 परंपरावाद

25.4.4 आदर्शवाद

25.5 फासीवाद की मूल मान्यता है या विशेषताएं

25.6 फासीवाद की आलोचना

25.7 निष्कर्ष

25.1 उद्देश्य—प्रस्तुत इकाई में अधिनायक वादी शासन व्यवस्था के एक रूप फासीवाद का विशद अध्ययन किया गया है जिसमें कि यह जानने की सहायता मिलेगी कि—

- फासीवाद विचारधारा क्या है तथा इसके प्रमुख प्रेरणा स्रोत क्या है।
- फासीवाद किन सिद्धांतों पर आधारित है।
- फासीवाद की आलोचना आलोचकों द्वारा किन आधारों पर की गई है।

25.2 प्रस्तावना— 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक के पश्चात मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में जिस अधिनायक वादी विचारधारा का जन्म हुआ उसे फासीवाद के नाम से जाना जाता है। 20वीं शताब्दी इटली की बिगड़ती हुई राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था में फासीवाद को पनपने में सहायता दी सामाजिक विघटन मुनाफाखोरी वित्तीय अस्थिरता मुद्रा स्थिति ऐड वाले उत्पादन में कमी बेरोजगारी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अविश्वास इत्यादि इस प्रकार की प्रस्तुति जिसमें इटली का जीवन जस्ट था इसी समय 1917 की रूसी क्रांति का प्रभाव इटली पर भी दिखाई देने लगा ऐसे समय में अक्टूबर 1922 को मुसोलिनी ने इटली में फासीवाद ई व्यवस्था की स्थापना की इसका घोषित उद्देश्य था राष्ट्रीय जीवन का पूनरुद्धार, साम्यवाद के चुगल से इटली की रक्षा तथा राजनैतिक स्थायित्व की स्थापना लेकिन कालांतर में यह व्यवस्था उग्र राष्ट्रवाद, क्रांति समर्थक विवेक हिन विचारधारा में परिवर्तित हो गई।

25.3 फासीवाद अर्थ व स्वरूप— वस्तुतः उदरवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद के समान फासीवाद कोई विचारधारा न होकर एक नीति है, एक क्रिया है या कार्य करने का तरीका है। यह सत्ता प्राप्त करने व उसे बनाए रखने की योजना है। किन्तु फिर भी जब हम राजनीति सिद्धान्त की एक अवधारणा के रूप में इसे समझते हैं तो इसका विश्लेषण सर्वसत्तावाद के एक प्रकार भेद के रूप में किया जासकता है। सर्वसत्तावाद से तात्पर्य उस विचारधारा से था जो राज्य की शक्ति को एक ही जगह केन्द्रित करने में विश्वास करता है। तथा लोगों के जीवन के सभी पक्षों पर पूर्ण या लगभग पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने का समर्थन करता है। सर्वसत्तावाद के दो प्रमुख रूप हैं— वामपंथी सर्वसत्तावाद यथा— साम्यवादी शासन व्यवस्थाएं और दक्षिणपंथी सर्वसत्तावाद यथा— फासीवाद व नाजीवाद।

अतः अवधारणा या संकल्पना के रूप में यह सर्वसत्तावाद का एक प्रकार भेद है। अंग्रेजी का शब्द 'Fascism' मूलतः लैटिन के शब्द "Fascio" से बना है जिसका अर्थ है "लकड़ियों या छड़ियों का बण्डल"। प्राचीन काल में रोम का राजचिन्ह फैसियों था जिसमें लकड़ियों का बोंझ राष्ट्रीय एकता व कुल्हाड़ी शक्ति का प्रतीक मानी जाती थी। प्रथम विश्व युद्ध (1914-1918) के दौरान इटली में बेनितो मुसोलिनी ने फासिस्ट दल का संगठन किया। उसे फासियों की संज्ञा दी गयी तथायह उन लोगों के संगठन का सूचक माना गया जो इटली के हित में जीने मरने के लिए एक जुट हो गये थे।

फासीवाद अपने संकुचित अर्थों में उस आन्दोलन को कहते हैं जो दो महायुद्धों केबीच के काल में मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में सक्रिय था। इसके दो मूलमंत्र माने जा सकते हैं— निरंकुशवाद व विस्तारवाद। देश की सीमाओं में निरंकुशवाद व देश की सीमाओं के बाहर विस्तारवाद। प्रसिद्ध विचारक मैकबर्न ने फासीवाद राज्य की दो विशेषताएं बतलायी— सत्तावाद तथा राज्यवाद। अतः अधिकांश विचारकों ने फासीवाद को समग्रवादी विचारधारा मानते हुए इसे एक ऐसी दलीय प्रणाली कहा जो एक तानाशाह (मुसोलिनी) द्वारा नियंत्रित होती है। इसीलिए जान सालवेदर ने एक स्थान पर लिखा है

कि "फासीवाद भय के जल में साम्यवाद का प्रतिबिम्ब है।" जबकि स्वयं मुसोलिनी ने फासीवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "फासीवाद संगठित केन्द्रीकृत सत्तावादी लोकतंत्र है।"

अतः इस प्रकार संक्षेप में, फासीवाद सर्वाधिकारवाद का इटालियन संस्करण है जिकाका नारा है 'प्रत्येक वस्तु राज्य द्वारा, राज्य के लिए, राज्य में तथा राज्य के बाहर कुछ नहीं।' यह विचारधारा लोकतंत्र, समाजवाद और साम्यवाद के विरुद्ध प्रजातिवाद, सत्तावाद व सर्वाधिकारवाद का वर्चस्व स्थापित करने के ध्येय से प्रस्तुत की गयी थी।

25.4 फासीवाद की प्रेरणा स्रोत—यद्यपि फासीवाद का कोई आधिकारिक सिद्धान्तकार नहीं हैं तथापि इसके समर्थक—दार्शनिक सदैव रहे हैं— इनमें कोरेडिनी, रोक्को, एलफ्रेडो, एनरिको तथा जेंटाइल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मैक्सी के अनुसार फासीवाद दर्शन में उनके तत्वों का बड़ी चतुराई के साथ मिश्रण कर दिया गया और इसके स्रोतों को खोज निकालना आसान नहीं तथापि यह कहा जा सकता है कि मुसोलिनी की नीतियां तो तर्क—बुद्धि विरोधवाद तथा सामाजिक डार्विनवाद से प्रेरित थी किन्तु जन साधारण का समर्थन पाने के लिए उसने फासीवाद को परम्परावाद तथा आदर्शवाद के रेश्मी चादर में लपेटकर रखा। अतः **मैक्वर्न** के अनुसार फासीवाद निम्न चार सिद्धान्तों पर आधारित था—

25.4.1 सामाजिक डार्विनवाद— यह सिद्धान्त जीव वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन के अस्तित्व के लिए संघर्ष एवं 'योग्यतम की विजय' सिद्धान्तों पर आधारित था। डार्विन के इन सिद्धान्तों से प्रेरित होकर समाज शास्त्रियों ने भी प्रतिपादित किया कि "समस्त जीवन का आधार अस्तित्व के लिए संघर्ष है जिसमें अयोग्य तत्त्व लुप्त हो जाते हैं व योग्यतम जीवन रहते हैं। इसी प्रकार जर्मन दार्शनिक फ्रैडरिक **नीत्शे** ने मत दिया कि जीवन केवल अस्तित्व का ही संघर्ष नहीं बल्कि प्रभुत्व और शक्ति का संघर्ष भी है।

अतः सामाजिक डार्विनवादी विचारकों व **नीत्शे** से प्रभावित होकर मुसोलिनी ने भी स्वाकार किया कि जीवन का आधार तत्त्व केवल जीवन की ईच्छा ही नहीं बल्कि विजय की ईच्छा भी है और यह जितनी व्यक्तियों के लिए महत्त्वपूर्ण है उतनी ही यह राज्य के अस्तित्व के लिए भी महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए।

25.4.2 तर्कबुद्धि विरोधवाद— डेकार्टे की बुद्धिवादी विचारधारा के नितान्त विपरित तर्कबुद्धि विरोधवाद का मानना था कि मनुष्य सोच विचार कर कार्य करने वाला विवेकशील प्राणी नहीं है, वह अपने सभी कार्य बुद्धि के स्थान पर अन्तः प्रेरणा, अन्धश्रद्धा तथा विश्वास से प्रेरित होकर करता है। अबौद्धिकवादी विचारकों में विलियम जेम्स, बर्गसां, सोनेल, शोपेनहार आदि प्रमुख हैं। इस अबौद्धिकवाद से प्रेरित होकर मुसोलिनी ने भी अन्धश्रद्धा अपनाने पर बल दिया और इटली की जनता को दो नारे दिये— **पहला** ड्यूस (मुसोलिनी) सदैव ठीक होता है और **दूसरा** ड्यूस के आदेशों व आज्ञाओं में सदैव विश्वास करना चाहिए।

25.4.3 परम्परावाद— फासीवादी मैजिनी व ट्रीटश्के के परम्परावादी दर्शन से प्रभावित था। प्रखर राष्ट्रवादी होने के नाते मुसोलिनी ने अनुभव किया कि राष्ट्रवाद व परम्परावाद में निकट सम्बन्ध है। अतः राष्ट्रवाद को अपनाने के लिए परम्परा का समर्थन जरूरी होगा। उसने अनुभव किया कि लोगों के मन में अपने राष्ट्र की परम्पराओं के प्रति अगाधानुराग होता है अतः इन्हें बढ़ावा देकर ही जनता का दिल जीता जा सकता है।

25.4.4 आदर्शवाद— फासीवादी विचारधारा का सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व सर्वाधिकारवादी राज्य की धारणा है। जो निश्चित रूप से आदर्शवाद से ही प्रेरित है। फासीवाद भी आदर्शवाद के समान राज्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है। इसीलिए जोड़ आदर्शवादी विचारकों (काण्ट, फिक्टे व हीगल) को फासीवाद व नाजीवाद का आध्यात्मिक पूर्वज कहता है। वैयक्तिक स्वतंत्रता, नैतिकता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों इत्यादि फासीवादी विचारों पर आदर्शवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इन्हीं प्रभावों के कारण फासीवाद को बहुत अधिक सीमा तक हीगल के आदर्शवाद का राजनीतिक शिशु कहा जाता है।

25.5 फासीवाद की मूल मान्यता है या विशेषताएं — विचारकों को मानना था कि फासीवाद कुछ बेमेल विचारों तथा मान्यताओं का समुच्चय था जिन्हें प्रथम विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में इटली के राष्ट्रवादी नेता मुसोलिनी ने सम्पूर्ण राष्ट्र को अनुशासित रखने हेतु बढ़ावा दिया। फासीवाद की निम्न मुख्य मान्यताएं या सिद्धान्त हैं—

(i) **उग्र राष्ट्रवाद**— फासीवाद के अनुसार राष्ट्र एक सजीव संगठन है। यह एक आध्यात्मिक स्थायी व शाश्वत सत्ता है। मुसोलिनी के शब्दों में "राष्ट्र स्वयं में एक आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्व है।" फासिस्टों के अनुसार राष्ट्र एक आध्यात्मिक अवयव है जिसमें व्यक्तियों कावहीं स्थान है जो शरीर में अंगों का। फासीवाद राष्ट्र के प्रति नागरिकों में प्रेम ही नहीं भरता बरन् अहंकार व अभिमान भी भरता है। फासिस्टों की मान्यता है कि राष्ट्र के सम्पूर्ण साधन राष्ट्र को गौरवान्वित बनाने के लिए प्रयुक्त होने चाहिए।

(ii) **राज्य सर्वोच्च साध्य है व उसका स्वरूप समग्र अधिकारवादी है।**— फासीवाद के अनुसार राज्य साध्य है और व्यक्ति केवल साधन मात्र है। राज्य सब व्यक्तियों व समुदायों से सर्वोपरि है। **मुसोलिनी** के अनुसार "प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत एवं राज्य के लिए है, राज्य के बाहर या उसके विरुद्ध कोई नहीं हो सकता है।" उनके अनुसार राज्य सर्वव्यापी है, इससे बाहर किसी भी मानवीय या आध्यात्मिक मूल्य वाली वस्तु की न तो कोई सत्ता है और न ही कोई महत्त्व। फासीवाद व्यक्ति के सामाजिक नियंत्रण रखता है। इसी आधार पर इटली में विज्ञान, साहित्य, कला संगीत, सिनेमा तथा विद्यालय तक पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया गया।

(iii) **वैयक्तिक स्वतंत्रता व समानता का विरोधी**— फासीवाद राज्य व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं पर नियंत्रण रखता है यह विचारधारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता व समानता की घोर विरोधी है। फासीवाद के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है राज्य के आदेश व अनुशासन का पालन करना है इसी प्रकार यह सिद्धान्त समानता के सिद्धान्त का विरोध करते हुए श्रेणीतंत्र की स्थापना करता है जिसका सर्वोच्च पद अधिनायक के अधिकार में रहेगा और उसी की ईच्छा कानून मानी जायेगी।

(iv) **लोकतंत्र का विरोध**— फासीवाद लोकतंत्र का घोर निन्दक है। उनका मानना है कि सच्चा लोकतंत्र संख्यात्मक न होकर गुणात्मक होना चाहिए। मुसोलिनी का मानना था अशिक्षित जनता में शासन करने की किंचित मात्र भी योग्यता नहीं होती। फासिस्टों के अनुसार लोकतंत्र सड़ने वाली लाश के समान है तथा संसद बातुनी लोगों की दुकान के समान है। लोकतंत्र के 'स्वतन्त्रता, समानता व बंधुत्व के आदर्श के स्थान पर फासीवाद उत्तरदायित्व, अनुशासन व पद सोपान व्यवस्था के आदर्शों का अनुमोदन करता है।

(अ) **यथार्थवादी विचारधारा**— फासीवाद एक अनुभववादी यथार्थवादी विचारधारा है। स्वयं **मुसोलिनी** ने कहा था कि "फासीवाद यथार्थवाद पर आधारित है जबकि बोल्शेविक वाद का आधार सिद्धान्त है।" इसी संदर्भ में **मुसोलिनी** ने घोषणा की थी कि "मेरा कार्यक्रम कार्य है बातचीत नहीं" अतः इस प्रकार फासीवादी के नेताओं की दार्शनिक सिद्धान्त में कोई रुचि नहीं थी इन विचारों में भावनात्मक अपील अधिक थी वह विवेक का अभाव था इसमें बौद्धिक ईमानदारी का अभाव था तथा कार्य साधक का इसका विशिष्ट लक्षण था यही कारण था कि इसके सिद्धान्त स्थाई ना होकर आवश्यक प्रस्तुति के अनुरूप परिवर्तनशील थे

(vi) **विवेक विरोधी दर्शन** — जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि फासीवाद भावनात्मक अपील अधिक तथा इसमें विवेक का अभाव था। वास्तविकता यह थी कि फासीवादी दर्शन विशुद्ध दर्शन की विशेषताओं से बहुत दूर था। यह निपट, कोरी व कठोर यथार्थ पर आधारित दर्शन था जिसमें विवेक स्थान पर अवसरवादी ता को ग्रहण किया गया था।

(vii) **हिंसा व शक्ति में विश्वास**— फासीवाद शक्ति व हिंसा का दर्शन या विचारधारा है। इसका शांति या नैतिकता में कोई विश्वास या आस्था नहीं है। देश में और देश से बाहर हिंसा मुसोलिनी के शासन की पूर्ण विशेषता रही है। यह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय शांतिपूर्ण साधनों से न कर युद्ध के द्वारा करने के पक्ष में है। हिंसा का समर्थन करते हुए मुसोलिनी ने कहा था "अड़तालीस घण्टों तक हिंसा का व्यवस्थित रूप से प्रयोग पर हमें वे परिणाम प्राप्त हुए हैं जिन्हें हम प्रचार तथा उपदेश देकर अड़तालीस वर्षों में भी प्राप्त नहीं सकें।

(viii) **निगमात्मक राज्य की स्थापना** — फासीवाद व्यक्तिमूलक राज्य की धारणा के स्थान निगमनात्मक राज्य की स्थापना करने पर बल देता है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य व्यक्तियों का निर्जीव समूह मात्र न होकर विभिन्न आर्थिक नियमों का समूह है। ये निगम व्यावसाय के आधार पर बनते जिनमें मजदूर व मालिक परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। इन सब निगमों से मिलकर राज्य का निर्माण होता है। समस्त निगम व्यवस्था की देख-देख निगम मंत्रालय द्वारा होती थी जिसका चेयरमैन स्वयं **मुसोलिनी** था। निगमनात्मक राज्य की अवधारणा फासीवाद की विशिष्ट देन थी। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति किसी ने किसी निगम या समुदाय का सदस्य होगा और ये निगम अपना प्रतिनिधित्व राष्ट्रीय संसद में औद्योगिक या व्यावसायिक आधार पर पाते हैं न कि भौगोलिक आधार पर। इस विचारधारा का मानना था कि जिस प्रकार जड़ पदार्थ का निर्माण इलेक्ट्रॉनों तथा प्रोटोनों के समूह द्वारा किया जाता है। उसी प्रकार राष्ट्र का निर्माण जटिल व्यावसायिक निगमों या समुदायों द्वारा किया जाता है।

(ix) **अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विरोधी व युद्ध का समर्थक** — हिंसा व शक्ति का समर्थक होने के कारण फासीवादी विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद व शांति की विरोधी है। उनके अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय शांति कार्यों का स्वप्न है।" फासीवाद का विश्वास है कि सार्वभौम शांति न तो सम्भव है और न ही उपयोगी। युद्ध ही मानवीय शक्ति को उच्चतम शिखर तक पहुँचाता है। जैसा कि मुसोलिनी ने कहा था कि "पुरुष के लिए युद्ध उसी प्रकार स्वाभाविक है जैसा कि स्त्री के लिए मातृत्व होता है।" फासीवाद राष्ट्र-राज्य को सर्वोच्च मानते हुए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का भी विरोध करता है और युद्ध को राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक मानता है। इन्हीं विचारों का आश्रय लेकर मुसोलिनी ने 1936 में एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। मुसोलिनी का नारा था कि "इटली का विस्तार इटली के जीवन-मरण का प्रश्न है यदि इटली का विस्तार नहीं होगा तो वह बरबाद हो जायेगा।" अतः इस प्रकार फासीवाद के इन घोर विध्वंसकारी मान्यताओं व सिद्धान्तों के कारण इटली व जर्मनी दूसरे विश्व युद्ध के कारण बने।

25.6 फासीवाद की आलोचना—

- फासीवादी दर्शन एक विवेक विरोधी दर्शन है, जो जाति राष्ट्र, रक्त की शुद्धता तथा राष्ट्रीयता परंपरा इत्यादि कल्पनाओं पर आधारित है।
- व्यक्ति के निजी हितों को फासीवादी दर्शन में सर्वशक्तिमान एवं सोपानतंत्रीय राष्ट्रीय की वेदी पर समर्पित किया जाता है।

- फासीवाद युद्ध व हिंसा का पुजारी है। यह शांति व शांतिवाद का घोर आलोचक है। अंतर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शांतिपूर्ण साधनों द्वारा न करके युद्ध के द्वारा करने का समर्थक है।
- फासीवाद नागरिकों के कर्तव्य को उनके अधिकारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानता है। यह राज्य की वेदी पर व्यक्ति के बलिदान को प्रशंसनीय मानता है। फासीवादी दर्शन में यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध कुछ भी अधिकार हो सकते हैं।
- फासीवाद निरंकुश सर्वाधिकारवादी राज्य की स्थापना करता है। जिसके अंतर्गत व्यक्ति के जीवन केनी किसी भी डायरो को राजनीतिक सत्ता के दायरे से बाहर नहीं माना जा सकता। इस प्रकार फासीवादी निरपेक्ष राज्य की धारणा में आस्था रखता है।
- फासीवाद विश्व की सर्वाधिक मान्यता प्राप्त शासन व्यवस्था लोकतंत्र का घोर विरोधी है। यह स्वतंत्रता व समानता का विरोध करता है। उसका मानना है कि व्यक्ति की सच्ची स्वतंत्रता राज्य की विधियों के आज्ञा पालन में निहित है। यह लोकतंत्र को सड़ी हुई लाश व संसद के बातों की दुकान कहकर लोकतंत्र की भर्त्सना करता है।

25.7 निष्कर्ष—उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि फासीवाद संप्रभु राज्य, उग्र राष्ट्रवाद, निरंकुश सरकार व हिंसा पर आधारित दर्शन था। जिसने अपनी विस्तारवादी प्रवृत्ति व शुद्ध रक्त की अवधारणा से द्वितीय विश्वयुद्ध को आमंत्रित किया अतः इस प्रकार फासीवाद एक घोर निकृष्ट अधिनायकवादी दक्षिणपंथी विचारधारा है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. फासीवाद का अर्थ व मान्यताओं की विवेचना कीजिए?
2. फासीवाद के मूल प्रेरणा स्रोत कौन-कौन से थे?
3. फासीवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए?

लघुतरात्मक प्रश्न

1. फासीवाद विचारधारा की विवेचना कीजिए?
2. फासीवाद की प्रमुख विशेषताएं क्या थीं?
3. फासीवाद विश्व शांति का विरोधी है स्पष्ट कीजिए?

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. फासीवाद से क्या तात्पर्य है?
2. फासीवाद का प्रेरणा स्रोत कौन है?
3. सामाजिक डार्विनवाद से क्या तात्पर्य है?

26.1 उद्देश्य**26.2 प्रस्तावना****26.3 नारीवाद का अर्थ व विकास****26.3.1 नारीवाद के विचारणीय विशेष या मुद्दे****26.3.1.1 सार्वजनिक निजी विभाजन****26.3.1.2 सेक्स व लैंगिकता****26.3.1.3 समानता विभेद****26.3.1.4 पितृसत्तात्मक****26.4 नारीवादी आंदोलन की शाखाएं****26.4.1 उदारवादी नारीवाद****26.4.2 समाजवादी नारीवाद****26.4.3 उग्र नारीवाद****26.5 निष्कर्ष**

26.1 उद्देश्य – प्रस्तुत इकाई में समकालीन राजनीति सिद्धांत की एक ज्वलंत एवं महत्वपूर्ण अवधारणा का अध्ययन किया गया है इसका अध्ययन करने के पश्चात अध्ययन कर्ता—

- नारीवाद के अर्थ व विकास को समझ पाएंगे।
- नारीवाद से जुड़े महत्वपूर्ण मुद्दों को जान पाएंगे।
- नारीवाद की विभिन्न शाखाएं किस प्रकार नारीवाद आंदोलन को एक समुद्र आंदोलन या विचारधारा के रूप में संगठित कर पायी।

26.2 प्रस्तावना— समकालीन विश्व में नारीवाद एक सशक्त विचारधारा के रूप में विकसित हुआ। सही अर्थों में नारीवाद केवल विचारधारा नहीं है वरन् यह क्रांति है, चेतना है, विश्वास है तथा आस्था है। यह उन सभी व्यवस्थाओं के विरुद्ध प्रहार है जो पुरुषों की संकीर्ण मानसिकता की देन है। यह एक तरफ पुरुष प्रधान समाज के विरुद्ध शंखनाद है वहीं दूसरी तरफ नारी उद्धार के लिए रचनात्मक प्रयास है। यह नारियों के ऊपर परंपरा से आरोपित तृतीय बंधनों से महिलाओं को मुक्त करने तथा उन्हें अपने व्यक्तिगत एवं व्यवसायिक नियति के निर्धारण के लिए बनाने के लिए समर्थ बनाने के लिए प्रयत्नशील है। इस आंदोलन के निम्न प्रमुख प्रतिपादन या विचारक हैं शीला रोबोथम, शुलामिथ फायरस्टोन, जर्मन गिर्येक, कैट मिलेट, साइमन डी बुआ और मेरी वॉलस्टोनक्राफ्ट इत्यादि।

26.3 नारीवाद का अर्थ व विकास— एक अवधारणा के रूप में नारीवाद मुख्य पुरुष के मुकाबले नारी की स्थिति, भूमिका और अधिकारों से गहरा सरोकार रखना है, नारी की पराधीनता और नारी के प्रति होने वाले अन्याय पर अपना ध्यान केंद्रित करना और इनके प्रतिकार के उपायों पर विचार करना है। वस्तुतः नारीवाद पितृतंत्र के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया एवं विद्रोह है, पुरुष प्रभुत्व के विरुद्ध अवधारणा है तथा इस विचार का खण्डन है कि महिलाएं पुरुषों के लिए ऐश का साधन हैं। तथा एक विचारधारा के रूप में नारीवाद महिलाओं के साथ हुए शोषण का अंत चाहता है तथा इस विचार का विरोध है कि महिलाएं सम्पूर्ण मानवीय स्वरूप से निम्न हैं।

एक आंदोलन के रूप में नारीवाद का उदय 1970 के दशकों से माना जा सकता है परन्तु स्त्री-पुरुष की सापेक्ष स्थिति का प्रश्न चिरकाल से उठता रहा है प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने यद्यपि संरक्षक वर्ग के अंतर्गत स्त्री पुरुष को समान माना किन्तु उन्हीं के शिष्य अरस्तु ने पुरुषों को तुलना में स्त्रियों की हीनता पर बल देने हुए उन्हें दासों के समकक्ष माना। आधुनिक काल में नारीवाद पर पहली रचना “A vindication of the Rights of women” (1792) थी जिसकी रचना मेरी वालस्टोनक्राफ्ट द्वारा की गयी। इस पुस्तक में स्त्रियों को कानूनी, राजनीतिक तथा शैक्षिक क्षेत्रों में

समानता प्रदान करने के लिए शानदार पैरवी की गयी। वॉल्टनक्राफ्ट ने विशेष रूप से स्त्री पुरुष के लिए पृथक-पृथक सदगुणों की प्रचलित धारणाओं का खण्डन करते हुए सामाजिक जीवन में स्त्री-पुरुष की एक जैसी स्थिति व भूमिका की मांग की। इसी प्रकार **जॉन स्टुअर्ट मिल** ने अपनी महत्वपूर्ण कृति **"The subjection of women"** (1869) के अन्तर्गत तर्क दिया कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मैत्री पर आधारित होने चाहिए न की प्रभुत्व पर। मिल ने विशेष रूप से विवाह कानून में सुधार व स्त्री मताधिकार पर बल देते हुए स्त्रियों को समान अवसर प्रदान करने की वकालत की।

नारीवाद की मुख्यतः तीन लहरें अर्थात् चरण बताये जाते हैं—

(क) **पहला चरण** 1830 के दशक के आस-पास आरम्भ हुआ। इसके तहत महिलाओं के लिए मताधिकार की मांग पर जोर दिया गया तथा 1920 तक आते-आते महिला मताधिकार की मांग को स्वीकार कर लिया गया। इसी काल में अमेरिका में 1840 के दशक में के दशक में **"सैनेका फॉल्स कन्वेंशन"** आयोजित किया गया जिसे अमेरिका की स्त्रियों के अधिकार के आंदोलन की शुरुआत मानी जाती है। इसके बाद स्त्रियों के वोट देने अधिकार की मांग लगभग सभी विकसित देशों में उठने लगी। इसमें पहली सफलता 1893 के दशक में न्यूजीलैण्ड में मिली जब स्त्री मताधिकार को पहली बार स्वीकृति मिली। अमेरिका में 1920 में संविधान के 19वें संशोधन द्वारा स्त्रियों को मतदान का अवसर मिला। स्त्रियों को वोट देने के अधिकार के साथ ही स्त्रियों का आन्दोलन भी कुछ वर्षों के लिए कमजोर पड़ गया।

(ख) **दूसरे चरण** की शुरुआत 1960 से मानी जाती है। 1963 में बेट्टी फ्रीडन की पुस्तक **"The feminine Mystique"** के प्रकाशन ने नारीवादी आन्दोलन के चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की। इस पुस्तक द्वारा बेट्टी फ्रीडन ने प्रतिपादित किया कि स्त्रियों की निराशा व कुण्डा का समाधान केवल राजनीतिक व कानूनी अधिकार दिये जाने से नहीं हो सकता। कैट मिलिट की पुस्तक **"The sexual politics"** (1970) एवं जर्मेन ग्रियर की पुस्तक **"The female Eunuch"** (1970) ने नारीवाद के राजनीतिक कारणों को हाशिए पर रखकर व्यक्तिगत, मानसिक एवं लैंगिक पक्ष पर अधिक बल दिया। इस चरण में मांग की गयी कि महिलाओं को पुरुषों के बराबर 'समान कार्य समान वेतन' का अधिकार हो, गर्भपात की अनुमति हो, बच्चे हो या न हो यह निश्चित करने का अधिकार केवल महिलाओं को हो इत्यादि। अब नारवाद केवल राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं चाहता अपितु वह स्त्रियों की सम्पूर्ण स्वतंत्रता की वकालत कर रहा था।

(ग) **तीसरा चरण** 1980 के दशक से माना जाता है। इस चरण को स्त्रियों की स्वतंत्र पहचान की मांग के रूप में देखा जा सकता है। जो की वर्तमान तक जारी है।

26.3.1 नारीवाद के विचारणीय विशेष या मुद्दे— यद्यपि नारीवाद आंतरिक रूप से तीन धाराओं या दृष्टिकोणों में विभाजित है तथापि एक विचारधारा के रूप में इसके प्रमुख विचारणीय विषय या बिन्दु निम्न हैं जो इसे अन्य सभी स्थापित राजनीतिक विचारधाराओं से अलग करती हैं—

26.3.1.1 सार्वजनिक निजी विभाजन— परम्परागत रूप से राजनीति को सार्वजनिक क्षेत्र में माना जाता था क्योंकि यह सार्वजनिक बहस में परिलक्षित होती थी व परिवार तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों को निजी क्षेत्र में माना जाता था। नारीवादी इस विभाजन को स्वीकार नहीं करते। परम्परागत रूप से राजनीति व्यवसाय, कला, साहित्य को सार्वजनिक क्षेत्र में स्वीकार करते हुए पुरुषों के लिए उपयुक्त माना गया जबकि स्त्रियों को निजी क्षेत्र के लिए उपयुक्त मानते हुए उन्हें घरेलू जिम्मेदारियों के लिए छोड़ दिया गया। प्रसिद्ध नारीवादी विचारक **ज्यां बी एलेस्टीन** ने अपनी पुस्तक **"Public Man private woman"** में इस विषय का विशद वर्णन किया। इन विचारकों का मानना है की यह विभाजन स्त्रियों को घरों तक सीमित रखने का एक माध्यम है। यह विभाजन गलत है क्योंकि यह स्त्रियों को शिक्षा, कार्य व राजनीतिक जीवन में पहुंच को सीमित करता है।

26.3.1.2 सेक्स व लैंगिकता :— नारीवाद के विरुद्ध सबसे प्रमुख तर्क ही यह दिया जाता है कि समाज में लिंग पर आधारित विभाजन प्राकृतिक है। स्त्री और पुरुष दोनों ही समाज में वह भूमिका निभाते हैं जो प्रकृति ने उनको प्रदान की है। नारीवादी इन तर्कों को स्वीकार नहं करते। एक स्त्री का मस्तिष्क चाहे पुरुष के मस्तिष्क से आकार में छोटा हो लेकिन उसके शरीर के प्रतिशत से बड़ा है जो उसको बुद्धिमान बनाता है। स्त्रियां शारीरिक रूप से पुरुषों की तुलना में निर्बल हो किन्तु शारीरिक क्षमता कृषि प्रधान या उद्योग प्रधान समाजों में महत्व रखती थी किन्तु आज के कम्प्यूटर जनित विश्व में शारीरिक क्षमता अधिक महत्त्व नहीं रखती। इस प्रकार नारीवादी शारीरिक बनावट को भाग्य मानने से इन्कार करते हैं। इसी प्रकार वे सेक्स और जेंडर में भी अंतर करते हैं। उनका मानना है कि सेक्स के अनुसार स्त्री व पुरुष में भेद होता है। और यह प्राकृतिक भी है जिसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता किन्तु जेंडर एक सांस्कृतिक अवधारणा है जो समाज में स्त्री व पुरुष की भूमिकाओं को निर्धारित करता है। इसी कारण प्रसिद्ध नारीवादी विचारक **सीमान डी बुआ** ने लिखा है कि "स्त्रियां बनाई जाती हैं पैदा नहीं होती।"

26.3.1.3 समानता विभेद :— नारीवाद का मूल लक्ष्य या उद्देश्य पितृसत्तात्मक समाज को समाप्त करना है। नारीवाद में पुरुष समानता के लिए आन्दोलन किये गये। इसके अनुसार स्त्री व पुरुष में यद्यपि सेक्स की समानता नहीं हो सकती लेकिन राजनीतिक व कानूनी रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में दोनों के कार्य करने और उनके अवसरों को प्राप्त करने की

समानता होना चाहिए। उदार नारीवादी इसका समर्थन करते हैं। समाजवादी नारीवादी आर्थिक शक्ति के रूप में स्त्री व पुरुष की समानता पर बल देते हैं वहीं अतिवादी नारीवादी परिवार व निजी जीवन में समानता पर बल देता है। उनके अनुसार बच्चों की देखभाल करने एवं अन्य घरेलू कार्यों में स्त्री-पुरुष में समानता होना चाहिए।

26.3.1.4 पितृसत्तात्मकः- नारीवादी पितृसत्तात्मकता को स्त्री व पुरुष के मध्य के सम्बन्धों को निरूपित करने वाली एक महत्वपूर्ण अवधारणा मानते हैं। उनके अनुसार पितृसत्तात्मकता का अर्थ है पुरुष द्वारा प्रमुखता की भूमिका निभाना। परिवार में पिता की भूमिका पुरुष की शक्ति, सत्ता और अधिकार को प्रदर्शित करती है और अगर हम समाज को परिवार मानें तो समाज में भी इसी प्रकार का व्यवहार होता है। नारीवादियों के अनुसार पितृसत्तात्मकता एक पद सोपानिय व्यवस्था को जन्म देता है जिसमें पीढ़ियों के आधार पर और लिंग के आधार पर अधिपत्य स्वीकार किया जाता है। इनके अनुसार पितृसत्तात्मकता एक विचार है न की ऐतिहासिक सच्चाई जिसके द्वारा स्त्रियों पर अधिपत्य जमाया जाता है उनका शोषण किया जाता है अधिकांश नारीवादी विचारक अधिकारों के असमान वितरण तथा आर्थिक असमानता को इसका महत्वपूर्ण कारण मानते हैं।

26.4 नारीवादी आंदोलन की शाखाएं – नारीवाद एक संगठित राजनीतिक विचारधारा का रूप नहीं ले पाया और इसकी कई शाखाएं कालखण्ड अनुसार विकसित हुईं जो निम्नवत हैं:-

26.4.1 उदारवादी नारीवाद :- मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट के चिंतन में उदारवादी नारीवाद के मूल्य व विचारों के आरम्भिक संकेत मिलते हैं। उदारवादी नारीवाद मुख्यतः एक सुधारवादी आन्दोलन है। यह सार्वजनिक क्षेत्र को स्त्री व पुरुष दोनों के लिए समान प्रतिस्पर्धा वाला क्षेत्र बनाना चाहता है। यद्यपि यह निजी व सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर को बनाए रखना चाहता है तथापि सार्वजनिक क्षेत्र को सभी प्रकार की श्रेणी से अलग एक समान अवसर वाला क्षेत्र बनाना चाहता है। मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट बेटी फ्रीडन इस शाखा की प्रमुख नारीवाद विचारक मानी जाती हैं। मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट ने स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया वहीं जे.एस. मिल ने स्त्रियों के समान नागरिक व राजनीतिक अधिकारों का पक्षपोषण किया। बेटी फ्रीडन ने स्त्रियों के सार्वजनिक क्षेत्र में बढ़ते प्रभाव को प्रतिबंधित करने वाली कानून बाधाओं को दूर करने का प्रयास किया। नारीवाद के पहले और दूसरे चरण में इस शाखा का प्रभाव अधिक देखा गया। उदारवादी नारीवादी दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं-

- नारी व पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं।
- नारियों को वैधानिक व राजनीतिक अधिकार मिलने चाहिए।
- नारी को केवल नारी मानकर किसी अधिकार से वंचित करना त्रुटिपूर्ण है।

26.4.2 समाजवादी नारीवाद:- समाजवादी नारीवाद स्त्रियों के शोषण का मूल कारण पूंजीवादी व्यवस्था को मानते हैं। इनका मानना है कि स्त्री पुरुष असमानता सामाजिक आर्थिक संरचना का परिणाम है जो एक सामाजिक क्रांति के बिना समाप्त नहीं हो सकती। प्रमुख समाजवादी विचारक **फ्रेडरिक एंजिल्स** ने अपनी पुस्तक "The Origin of family, Private Property and the state" (1884) में स्पष्ट किया है कि स्त्रियों की स्थिति में गिरावट पूंजीवाद के विकास व निजी सम्पत्ति की संस्था के आगमन से हुई है। पूंजीवाद के आगमन के साथ निजी सम्पत्ति पर पुरुषों ने अपना स्वामित्व जमाया और स्त्रियों के अधिकारों को समाप्त कर दिया। एक बुर्जुवा परिवार पितृ सत्तात्मक होता है क्योंकि उसमें पुरुष अपनी सारी सम्पत्ति अपने बेटों को हस्तांतरित करना चाहता है कुछ समाजवादी नारीवादियों का मानना था कि घरेलू कार्य चूंकि अवैतनिक होते हैं इसलिए उसको करने वाला स्त्रियों का महत्व समाज में कम होता है। 70 के दशक में मुख्य रूप से इंग्लैंड में घरेलू कार्यों के लिए वेतन देने का आन्दोलन चलाया गया। इसी प्रकार शीला रोबाथम का मानना है कि स्त्रियों की पराधीनता के कारण मिले जुले हैं। इसका एक कारण जीव वैज्ञानिक नियम है जो अनन्त काल से प्रचलित है, दूसरा कारण आर्थिक दृष्टि से पुरुष प्रधान समाज है जिसमें पुरुष को सारी सम्पत्ति का मालिक माना जाता है तथा यहां तक कि स्त्री को भी पुरुष की सम्पत्ति का हिस्सा माना जात है और तीसरा कारण पूंजीवादी व्यवस्था है जिसमें स्त्री को श्रम का स्रोत मानते हुए उसका शोषण किया जाता है। नारीवाद का यह रूप प्रजनन क्रिया को भी उत्पादन क्रिया का अंग मानता है। नारीवाद की समाजवादी धारा के अनुसार इस समस्या का समाधान यह होगा कि एक ओर लिंग आधारित श्रम विभाजन व मूल परिवार की धारणाओं को समाप्त किया जाये व दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था समाप्त कर समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित की जाये। इस शाखा की मुख्य प्रतिनिधी शीला रोबाथम हैं। समाजवादी नारीवाद की मान्यताएं निम्न हैं

- नारी का शोषण पूंजीवाद की देन है।
- पैतृकतावाद और पूंजीवाद एक दूसरे के पूरक हैं।
- सत्ता से पुरुषों को पदमुक्त करके ही समानता पर आधारित समाज स्थापित हो सकता है।

- आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करके ही नारी को मुक्ति मिल सकती है।

26.4.3 उग्र नारीवादः— नारीवाद का यह रूप नारी मुक्ति आन्दोलन के रूप में व्यक्त हुआ। इनके अनुसार जेंडर विभेद सबसे महत्वपूर्ण विभेद है जो समाज में कृत्रिम रूप से उत्पन्न हुआ है तथा यौन-दमन अन्याय का सबसे मुखरित रूप है। सीमन डी बुआ ने अपनी पुस्तक “The second Sex” में इस तरह के विचारों को दृढ़तापूर्वक रखकर लोकप्रिय बनाया। इसी प्रकार जर्मन ग्रियर ने अपनी पुस्तक “The female Eunuch” में यह प्रतिपादित किया कि स्त्रियाँ निष्क्रिय यौन भूमिका निभाने के लिए प्रतिबन्धित कर दी गयी है जिससे उनकी वास्तविक यौन इच्छाएं व व्यक्तित्व के क्रियाशील तत्त्व दमित रहते हैं। **केट मिलेट** व **शुलामिथ फायरस्टोन** जैसे नारिवादियों ने इस शाखा को आगे बढ़ाया। ये विचारक इस बात पर सहमत हैं कि स्त्रियों की खराब स्थिति के लिए पुरुष जिम्मेदार हैं और इसलिए उन्हें अपने शत्रु के रूप में देखा जा सकता है। इनका मानना है कि स्त्री-पुरुष की अलग-अलग प्रकार की भूमिकाएं बचपन से एक विशेष प्रकार के अनुबन्धन की प्रक्रिया द्वारा तय कर दी जाती हैं यह प्रक्रिया मुख्य रूप से परिवार के अन्तर्गत तय की जाती है जो कि पितृसत्तात्मक विचार की एक प्रमुख संस्था है यह केवल परिवार तक ही सीमित नहीं रहती अपितु साहित्य, कला, अर्थव्यवस्था व सार्वजनिक जीवन में भी इसे देखा जा सकता है इस विचारधार के अनुसार स्त्री के शोषण के अंत के लिए न केवल लिंग आधारित श्रम विभाजन को समाप्त किया जाए और कई अतिवादी विचारकों ने स्त्रियों की ऐसी स्वायत्त बस्तियां बसाने की हिमायत की जिनमें उत्पीड़न के मूल स्रोत ‘पुरुष’ के लिए कोई स्थान न हो।

26.5 निष्कर्ष — अतः इस प्रकार नारीवाद अस्तित्वबोध की अभिव्यक्ति है यह अपेक्षाकृत आधुनिक प्रत्य है और महिलाओं के लिए समस्त अधिकार की राजनीतिक का बोध है। ऐतिहासिक विश्लेषण से विदित होता है कि इस विचारधारा अथवा आंदोलन के संक्षेप में निम्न मुद्दे रहे हैं—

- स्त्रियों के अधिकारों को मानव अधिकारों की सामान्य श्रेणी के रूप में मान्यता दी जाए।
- संपूर्ण सामाजिक संदर्भ में स्त्री-पुरुष की समानता को स्वीकार किया जाए।
- स्त्री को परंपरागत परार्थीनता से मुक्ति प्रदान करने के लिए स्त्रीत्व को नई परिभाषा दी जाए।
-

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. नारीवाद क्या है? इसका विकास किस प्रकार हुआ?
2. नारीवाद को स्पष्ट करते हुए इसके प्रमुख विचारणीय मुद्दों की विवेचना कीजिए?
3. नारीवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके विविध रूप बताइए?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नारीवाद की अवधारणा क्या है?
2. उग्र नारीवाद क्या था?
3. नारीवाद के महत्वपूर्ण विषय क्या थे?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नारीवाद को परिभाषित कीजिए?
2. “स्त्री पैदा नहीं होती बनाई जाती है” स्पष्ट कीजिए?
3. प्रमुख उदारवादी नारी वादी विचारक बताइए?
4. प्रमुख समाजवादी नारीवादी विचारक बताइए?

गाँधीवाद व शांतिवाद

27.1 उद्देश्य

27.2 प्रस्तावना

27.3 गाँधीवाद का अर्थ

27.4 शांतिवाद का अर्थ

27.5 अहिंसा की अवधारणा

27.5.1 अहिंसा की विशेषताएँ

27.6 रामराज्य की अवधारणा

27.7 निष्कर्ष

27.1 उद्देश्य— प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आधुनिक हिंसक व तनावपूर्ण माहौल को शांतिपूर्ण किस प्रकार बनाया जा सकता है, के संदर्भ में एक विकल्प प्रस्तुत करता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात अध्ययनकर्ता जान पायेंगे कि —

- अहिंसा व सत्याग्रह क्या है और क्यों आवश्यक है।
- रामराज्य की अवधारणा क्या है।
- वर्तमान में भी गाँधी व उनके विचार क्यों प्रासंगिक हैं।

27.2 प्रस्तावना — गाँधी चिन्तन को समसामयिक चिन्तन के संदर्भ में समझना आवश्यक है। गाँधी मानते थे कि प्रत्येक सभ्यता में व्यक्तियों के प्रति विशिष्ट प्रकार का दृष्टिकोण होता है जिसके आधार पर वह अपना स्वरूप निर्धारित करती है। अगर वह दृष्टिकोण असंगत था अनुचित है तो सभ्यता अपना नैतिक आधार खोकर दिशाहीन हो जाती है। आधुनिक सभ्यता व्यक्ति में आत्मा के अस्तित्व को नकारती है और उसके शारीरिक पक्ष को ही एक मात्र पक्ष मानती है। इसलिए शरीर से सम्बन्धित विकास जिसमें सुख-सुविधाएँ और अपने इन्द्रियसुख को बढ़ाने के उपकरण इत्यादि को ही विकास का मापदण्ड माना जाता है। इसलिए आधुनिक सभ्यता व्यक्ति में स्वार्थीपन एवं अनियंत्रित आत्म विलास को बढ़ावा देती है। यह अपनी प्रकृति में भौतिकवादी है तथा केवल अर्थ को ही केन्द्र मानती है। ऐसे तत्त्वों पर आधारित आधुनिक सभ्यता ही युद्ध, संघर्ष, हिंसा व तनाव को जन्म देती है, इसीलिए गाँधी ने राजनीतिक संस्थाओं के आध्यात्मिकरण करने की आवश्यकता पर बल दिया। गाँधी के अनुसार राजनीति समाज में अमूलचूल परिवर्तन करने की एक विद्या है इसलिए यदि राजनीति का आधार धर्म व नैतिक को बना दिया जाए तो अहिंसक समाज व राज्य की स्थापना की जा सकती है। इस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था को वे 'रामराज्य' का नाम देते हैं। इस प्रकार गाँधी का मानना था कि "आधुनिक शैतानी सभ्यता" का विकल्प केवल अहिंसक रामराज्य है जिसे सत्याग्रह को तकनीकों से स्थापित किया जा सकता है।

27.3 गाँधीवाद का अर्थ — गाँधी हमारी राष्ट्रीय धरोहर में महत्त्वपूर्ण अंग हैं। समय बीतने के साथ गाँधी व उनका दर्शन न केवल प्रासंगिक होता जा रहा है अपितु अलौकिक भी। गाँधी निसंदेह एक इतिहास पुरुष थे, राजनीति में निरन्तर लिप्त रहने के बावजूद गाँधी को एक धार्मिक व्यक्ति माना जा सकता है। गाँधी ने कभी भी अपने चिन्तन को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने स्वयं लिखा है "गाँधीवाद के नाम से कोई समुदाय नहीं है और न ही मैं अपने पीछे कोई वाद छोड़ना चाहता हूँ। मैं यह दावा नहीं करता कि मैंने कोई नया विचार या सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। मैंने केवल अपने ढंग से मानव-जीवन को दैनिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की है। अगर इसे दर्शन कहा जाए तो यही मेरा दर्शन है।"

गाँधी का अध्ययन कई तरह से किया गया है, बहुत से व्याख्याकारों ने गाँधी के अहिंसा के सिद्धान्त पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है, कुछ व्याख्याकारों ने उन्हें आधुनिकता व आधुनिकीकरण में एक महान आलोचक के रूप में प्रस्तुत किया लेकिन दूसरे व्याख्याकारों ने गाँधी को आधुनिक चिन्तन का पोषक भी माना है। गाँधी का लेखन आधुनिक चिन्तन का पोषक भी माना है। गाँधी का लेखन बहुत साधारण है तथा अधिकतर 'यंग इण्डिया' तथा 'हरिजन' जैसे पत्र में लेख के रूप में प्रकाशित हुआ है। जॉन बोदुरा ने गाँधी की अवधारणाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(1) गाँधी के उद्देश्य जिनमें स्वराज्य व सर्वोदय सम्मिलित हैं। (2) गाँधी के सिद्धान्त जिसमें, सत्य व श्रम की महानता सम्मिलित है, (3) गाँधी के साधन जिनमें सत्याग्रह, भूदान व नई तालीम सम्मिलित हैं। विचारकों का मानना है कि सत्याग्रह वह सबसे

महत्त्वपूर्ण प्रयोग है जिसमें गांधी के लगभग सभी अवधारणाएं सम्मिलित हैं, इसलिए सत्याग्रह का अध्ययन गांधीवाद का अध्ययन है।

27.4 शांतिवाद का अर्थ— शांतिवाद सामान्यतः एक विचारधारा या दर्शन है जो किसी भी तरह के संघर्षों को हल करने के एक वफादार व सहिष्णु तरीके को अपनाये जाने पर बल देता है। शांतिवाद गंभीर परिस्थितियों में मानवता की रक्षा को अपना ध्येय मानता है तथा हर स्थिति में युद्ध को मूर्खता मानता है। भारतीय धर्मों में अहिंसा का जो दर्शन है वहीं शांतिवाद है। आधुनिक युग में फ्रांस के एमाइल अर्नाद ने 1909 में इस शब्द का प्रयोग किया। गांधीवाद के अंतर्गत भी कुछ ऐसी अवधारणाओं व संकल्पनाओं को विकास किया गया जिनसे शांतिवाद की अवधारणा को स्थापित किया जा सके।

गांधी के शांतिपूर्ण तरीकों द्वारा बड़े राजनीतिक सामाजिक परिवर्तन करने के सफल प्रयोग के साथ-साथ शांतिवादी को पुनर्भाषित करने में योगदान किया है। वे न केवल एक आदर्शवादी थे जिसका उद्देश्य एक आदर्श अहिंसक समाज की स्थापना करना था अपितु वे यथार्थवादी विचारक भी थे जिन्होंने यथार्थ में स्थापित राज्यों में गैर क्रांतिकारी तरीके से सुधार करने के सफल प्रयास किये। उन्होंने राजनीतिक दायित्व व राजनीतिक शक्ति के मध्य के संबंधों को भी सही प्रकार से पुनर्भाषित किया। गांधीजी का मानना था कि आधुनिक विज्ञान ने हिंसा की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। गांधी आधुनिक सभ्यता को उचित सभ्यता नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यह “शैतानी सभ्यता” है और अंधे युग का प्रतिनिधित्व करती है। गांधी के अनुसार एक आदर्श सभ्यता का आधार व्यक्ति में स्थित देवत्व के गुण हैं। चूंकि व्यक्ति के देवत्व के गुण उसको अन्य जीवों से अलग करते हैं। इसलिए गांधी का मानना था कि एक आदर्श सभ्यता वह होनी चाहिए जो व्यक्तियों को इस देवत्व को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हो। गांधी के हिन्दु स्वराज्य में लिखा है कि आधुनिक सभ्यता का आधार हिंसा है और इसलिए जब तक आधुनिक सभ्यता मनुष्य के भाग्य का निर्धारण करेगी, हिंसा आवश्यक रूप से मौजूद रहेगी इसलिए हिंसा का शासन स्थापित करने के लिए आधुनिक सभ्यता को समाप्त करना आवश्यक है।

27.5 अहिंसा की अवधारणा— राजनीतिक चिन्तन में गांधी की सबसे बड़ी देन अहिंसा के सिद्धान्त को राजनीति की मूलधारा में प्रवेश कराना था। गांधी अहिंसा को एक आत्मिक शक्ति मानते हैं तथा उनका यह दृढ़ विश्वास था कि यह आत्मिक शक्ति किसी भी शारीरिक शक्ति से बेहतर है। अहिंसा का अर्थ है—हिंसा न करना अर्थात् मन, वचन तथा कर्म से किसी को दुःख न देना अहिंसा है। लेकिन साथ ही गांधी यह भी मानते थे कि अहिंसा सकारात्मक करुणा व प्रेम का पर्याय है। इसमें दूसरे के लिए पीड़ा सहन करने में सुख एवं आनन्द की अनुभूति का विकास करना भी निहित है। अहिंसा विनम्रता की पराकाष्ठा है। गांधी ने लिखा है कि “अहिंसा तभी अहिंसा होती है जब हम उससे प्रेम करें जो हमें घृणा करते हो।” गांधी का मत था कि अहिंसा उपयोगी सामाजिक परिवर्तन के निमित्त एक निश्चयात्मक प्रक्रिया है। गांधी के अनुसार अहिंसा का सार शाश्वत प्रेम में समाविष्ट है। उन्होंने स्पष्ट किया कि अपने मित्रों व संबंधियों से प्रेम करना सहज भाव है। सच्चा अहिंसक दृष्टिकोण वह है, जो व्यक्ति को अपने विरोधियों व शत्रुओं से भी प्रेम करने के लिए प्रेरित करें। गांधी ने अहिंसा की तीन श्रेणियों को स्वीकार किया है—

(क) **बहादुरों की अहिंसा** अर्थात् अहिंसा का सर्वोच्च रूप। बहादुरों की अहिंसा लाचारी या विवशना के कारण नहीं बरन् अहिंसा के प्रति नैतिक आस्था के कारण अपनाई जाती है।

(ख) **व्यावहारिक अहिंसा**, इस श्रेणी को अहिंसा का पालन इसके अनुमानियों के द्वारा एक नीति के रूप में किया जाता है। इस श्रेणी को अपनाने वाले व्यक्ति में अहिंसा के प्रति कोई स्वाभाविक आस्था नहीं होती है। अतः ऐसा व्यक्ति जब कभी सुविधा जनक समझे हिंसा को अपना सकता है। 1946-47 में हुए हिन्दु-मुस्लिम दंगों ने गांधी को यह मानने के लिए प्रेरित किया कि भारतवासियों ने स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान जो हिंसा अपनायी वह इसी श्रेणी में अहिंसा थी।

(ग) **कायरों की अहिंसा**, यह अहिंसा का निकृष्टतम रूप है। इसमें व्यक्ति अपने शत्रु से घृणा करता है उसे अधिकतम क्षति भी पहुँचाना चाहता है किन्तु वह अपने शत्रु के विरुद्ध हिंसा करने में सक्षम नहीं है। इसलिए निष्क्रियता धारण कर लेता है और इस निष्क्रियता को अहिंसा का नाम देता है।

27.5.1 अहिंसा की विशेषताएँ—

1. अहिंसा गांधी के अनुसार सर्वोच्च मूल्य की द्योतक है। अहिंसा अपने आपस में एक अलग सद्गुण नहीं है। अपितु यह प्रेम, शक्ति, साहस तथा ब्रह्मचर्य का सम्मिलित रूप है। अहिंसा का कोई अस्तित्व नहीं है।
2. अहिंसा, शरीर श्रम का पर्याय भी है। गांधी ने शरीर श्रम का सिद्धान्त रस्किन व टॉलस्टॉय से लिखा था। गांधी के अनुसार बिना शारीरिक श्रम किए भोजन प्राप्त करना चोरी कि समकक्ष है और यह वहीं कर सकता है जो हिसक प्रवृत्ति का हो। श्रम से प्राप्त रोटी मनुष्य में अहिंसा का भाव जगाती है। श्रम व्यक्ति को नैतिकता सिखलाता है।
3. अहिंसा जीवन को उच्चतर मूल्यों की तरफ ले जाती है। गांधी का मानना है कि अहिंसा के मार्ग पर चलते रहना मनुष्य अपने जीवन में उच्च स्तर की तरफ अग्रसित होता है।

4. अहिंसा कायरता से उत्पन्न प्रतिरोध नहीं है। गाँधी के अनुसार अहिंसा के अनुसार कायरता से समर्पण करने से तो हिंसा ही बेहतर है किन्तु मनुष्य को अपनी आत्मिक शक्ति बढ़ाकर अहिंसक प्रतिरोध करने की क्षमता को विकसित करना चाहिए। कोई द्वेष की भावना नहीं रहती वरन् इसका आधार विरोधियों के प्रति प्रेम का भाव होना चाहिए। गाँधी को सत्याग्रह की अवधारणा में मुख्य रूप से तीन सूत्र निहित हैं—

(क) अन्याय के प्रतिरोध के रूप में असहयोग

(ख) सविनय अवज्ञा

(ग) रचनात्मक कार्यक्रम के माध्यम से विकल्प का निर्माण

गाँधी का मानना था कि सत्याग्रह अहिंसा की विजय में अहंकार नहीं होता। इसलिए युद्ध के बाद की कटुता से मुक्त वातावरण में सहयोग व सद्भावना का उदय होता है। सत्याग्रह हेतु परिस्थितियों के अनुरूप असहयोग, सविनय अवज्ञा, हिंजरत, उपवास, सामाजिक बहिष्कार जैसे साधनों का प्रयोग अपेक्षित है। सत्याग्रह की सफलता इन साधनों की प्रभावोत्पादकता पर नहीं अपितु इन्हें प्रयुक्त करने वालों के आत्मबल पर अवालम्बित होती है।

27.6 रामराज्य की अवधारणा— गाँधी ने अपने आदर्श राज्य को 'रामराज्य' की संज्ञा दी। ऐसे राज्य में शासक मर्यादा में रहकर राज्य सत्ता का प्रयोग लोक कल्याण के लिए करेगा। गाँधी जी का रामराज्य ग्रामीण एवं कृषि प्रधान व्यवस्था का परिचायक है। उनका मानना था कि रामराज्य राज्य-हीन समाज है क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार की राजनीतिक शक्ति का अभाव होगा। गाँधी जिस समाज की परिकल्पना करते हैं वह समाज राजकीय नियमों से शासित नहीं होता बल्कि आत्म अनुशासन से संचालित होगा। रामराज्य विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होगा क्योंकि शक्तियों का केन्द्रीकरण हिंसा को जन्म देता है। अपने विकेन्द्रीकृत समाज व्यवस्था के आदर्श की स्थापना के लिए गाँधी स्वायत्ततापूर्ण ग्राम समुदाय का समर्थन करते हैं। गाँधी का दावा है कि अहिंसा पर आधारित समाज की रचना केवल गाँधी में बसे उन समुदायों द्वारा हो सकती है जो गौरवयुक्त शांतिपूर्ण अस्तित्व के लिए स्वेच्छा से सहयोग की शर्त को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गाँधी का रामराज्य या अहिंसात्मक राज्य विकेन्द्रीकरण, समाजवाद, न्यासिता, जीविका के लिए श्रम, सामाजिक नियंत्रण जैसे सिद्धान्तों पर आधारित होगा।

27.7 निष्कर्ष : अतः इस प्रकार गाँधीवाद व शांतिवाद दोनों मूलतः एक ही साध्य पर आधारित अवधारणा हैं। दोनों ही विचारधाराएँ हिंसा, युद्ध व संघर्ष की स्थिति को समाप्त करने का प्रयास करती हैं। गाँधी का मानना था कि यदि हिंसा से युक्त अहिंसक समाज की स्थापना की जायेगी तो राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध व संघर्ष की स्थिति को समाप्त किया जा सकता है। गाँधी द्वारा साध्य व साधन दोनों की पवित्रता पर बल दिया गया है। अतः उन्होंने श्रेष्ठ व पवित्र साधन सत्याग्रह को अपनाये जाने पर बल दिया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "गाँधीवाद, शांतिवाद का उपकरण है" स्पष्ट कीजिए ?
2. गाँधी की अहिंसा की अवधारणा को विवेचना कीजिए।
3. अहिंसा, सत्याग्रह व रामराज्य की अवधारणा पर गाँधी जी के विचार बताइये।

लघुात्मक प्रश्न

1. शांतिवाद की अवधारणा क्या है?
2. अहिंसा के प्रकार भेद बताइये?
3. सत्याग्रह को अवधारणा स्पष्ट कीजिए?

अतिलघुत्तरात्मक

1. शांतिवाद से क्या तात्पर्य है ?
2. गाँधीवाद क्या है ?
3. अहिंसा के प्रकार भेद बताइये ?
4. सत्याग्रह की तकनीकें बताइये ?

समुदायवाद व नागरिक गणतंत्रवाद

28.1 उद्देश्य

28.2 प्रस्तावना

28.3 समुदायवाद का अर्थ व स्वरूप

28.3.1 समुदायवाद द्वारा उदारवाद की आलोचना

28.3.2 समुदायवाद की मान्यताएं

28.4 गणतंत्रवाद अर्थ व परिचय

28.4.1 गणतंत्रवाद स्वतंत्रता की अवधारणा

28.4.2 गणतंत्रवाद सरकार की अवधारणा

28.5 समुदायवाद वह गणतंत्रवाद में परस्पर संबंध

28.6 निष्कर्ष

28.1 उद्देश्य— प्रस्तुत इकाई में राजनीतिक सिद्धांत की दो समकालीन अवधारणाओं समुदायवाद वह नागरिक गणतंत्रवाद को समझाने का प्रयास किया गया है जिसका उद्देश्य है कि—

- समुदायवाद क्या है और यह उदारवाद से किस प्रकार भिन्न है?
- समुदायवाद की प्रमुख मान्यताएं क्या हैं?
- गणतंत्रवाद व समुदायवाद में परस्पर संबंध क्या है?

28.2 प्रस्तावना— समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में समुदायवाद व गणतंत्रवाद दोनों ही सामान्य या समुदायिक हित को बढ़ावा देते हैं। यह दोनों अवधारणाएं उदारवादी-व्यक्तिवाद के विकल्प के रूप में उभरी व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति विवेक युक्त है स्वतंत्र है तथा आत्म निर्णय करने में सक्षम है। जबकि समुदायवादियों का मानना है कि व्यक्ति व उसके अधिकार से पहले समुदाय का सामाजिक कल्याण है। राजनीतिक सिद्धांत में व्यक्तिवाद एवं समुदायवाद के बीच विवाद का मुख्य आधार यह है कि “राजनीतिक विश्लेषण की मौलिक इकाई व्यक्ति है या समुदाय।” व्यक्ति को मौलिक इकाई माननीय तात्पर्य है उसे समुदाय से पृथक् एक इकाई मानना तथा व्यक्ति को सामाजिक प्राणी मानने का तात्पर्य है उसे समाज व समुदाय में विलीन कर देना। व्यक्तिवादी व्यक्ति को स्वतंत्र व अधिकार संपन्न मानना है लेकिन समुदायवादी व्यक्ति का अस्तित्व समाज में देखता है।

28.3 समुदायवाद का अर्थ व स्वरूप— समुदायवाद वह सिद्धान्त है जो समुदाय के जीवन से जुड़े मूल्यों को सार्वजनिक नीति का उपयुक्त आधार मानता है। इसके अनुसार व्यक्ति का ‘शुभ’ समुदाय के ‘सामान्य शुभ’ का अभिन्न अंग है। विचारकों ने समाज वैज्ञानिक दृष्टि से समुदाय को उन लोगों का समूह कहा है जो एक दूसरे को निकट से जानते हो, मिलजुल कर रहते हो तथा उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय को लेकर एक जैसी मान्यताओं को स्वीकार करते हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समुदाय व साहचर्य (Association) में अन्तर होता है। समुदाय (community) में उच्च कोटि की सामाजिक बन्धनता होती है अर्थात् समुदाय के भीतर विभिन्न आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक समूहों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध पाए जाते हैं, वे अपने समुदाय के बुनियादी मूल्यों व मानकों के बारे में एक मत होते हैं। समुदाय में प्रचलित सामाजिक बन्धन स्वभाविक रूप से अस्तित्व में आते हैं, स्वेच्छा से या सोच समझकर स्थापित नहीं किये जाते।

वहीं साहचर्य ऐसा समूह है जिसमें कोई भी सामाजिक बन्धन परस्पर लाभ की संभावना के आधार पर सोच विचार कर कृत्रिम रूप से स्थापित किये जाते हैं। समुदायवाद का मानना है कि दो या दो से अधिक व्यक्ति समुदाय के निर्माण में योगदान देने वाले समझे जा सकते हैं, यदि वह सामान्य अच्छाई से जुड़े एक जैसे विचार रखते हो तथा यह मानते हो कि वह अच्छाई या भलाई उनकी पहचान व अस्तित्व का एक अंश है। समुदायवादियों का विश्वास है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व, अपने कौशल तथा अपनी योग्यताओं को समुदाय से प्राप्त करता है। क्योंकि व्यक्ति का स्वरूप समुदाय द्वारा निर्धारित व निश्चित होता है।

1980 के दशक में माइकल सैण्डल की रचना “लिबरलिज्म एण्ड लिमिट्स ऑफ जस्टिस” के साथ राजनीतिक सिद्धान्त में समुदायवाद की अवधारणा का संकेत देखा गया। इस रचना में सैण्डल द्वारा उदारवाद के विरुद्ध एक सशक्त आलोचना प्रस्तुत की गयी। दूसरे विचारक जिन्होंने समुदायवादी अवधारणा के विकास में अपना योगदान किया वे हैं—

एल्सडैयर मैकटाइट, माइकल वाल्जर, चार्ल्स टेलर तथा विमकिमलीका। समुदायवाद मुख्यतः उदारवादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध की चुनौति के रूप में उभरा। साथ ही समुदायवाद मार्क्स द्वारा प्रतिपादित अकेलापन व अलगाव की समस्या का भी हल ढूँढने का प्रयत्न करता है। इसका मानना है कि आधुनिक युग में सब लोग उपभोक्तावादी संस्कृति, के कारण अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति में व्यस्त हो गये हैं जिसमें उनमें को हार्दिक सम्बन्ध नहीं रह गया है, उनके जीवन में अकेलापन, निराशा और कुण्ठा छा गयी है। समाज को इस संकट में उबारने के लिए समुदायवाद लोगों के मन में फिर से सामुदायिक भावना (Community Sentiment) के संचार पर बल देता है। समुदायवाद में समर्थक तर्क देते हैं कि सामुदायिक भावना के संचार से सदस्यों में परस्पर सौहार्द, नैतिक प्रतिबद्धता का विकास तथा सामाजिक सुदृढ़ता बढ़ेगी। इस प्रकार संक्षेप में जहाँ उदारवाद और समाजवाद क्रमशः स्वतंत्रता व समानता के विचार पर आधारित है। वहीं समुदायवाद मुख्यतः बंधुत्व या भ्रातृभावना (Fraternity) के विचार का समर्थन करता है।

28.3.1 समुदाय वाद द्वारा उदारवाद की आलोचना— समुदायवाद का मानना था कि व्यक्ति अपने समुदाय के संदर्भ में ही अपनी अस्मिता, अपनी पहचान और अपने जीवन के लक्ष्य को विकसित करता है इसलिए राज्य को भी समुदाय से सरोकार रखना चाहिए पृथक-पृथक व्यक्ति से नहीं। इन्हीं विचारों को समझने के लिए आवश्यक है कि समुदायवादियों द्वारा उदारवाद की आलोचना किन-किन आधारों पर की गयी को समझा जाए:-

- (क) उदारवाद व्यक्ति को एक स्वायत्त इकाई के रूप में देखता है इसका मानना है कि व्यक्ति को सारी क्षमताएँ प्रकृति को देन है तथा इनकी सहायता से वह स्वयं निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए स्वतंत्र है। चूंकि मैं क्षमताएँ समाज को देन नहीं है, इसलिए वह इनके लिए समाज का ऋणी बिल्कुल नहीं है। उदारवादी सिद्धान्त की इस मान्यता को **सी.बी. मैक्सन** ने 'स्वतन्त्रमूलक व्यक्तिवाद' (Possisive Individualism) की संज्ञा दी। दूसरी ओर समुदायवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को समुदाय की देन मानता है। इसलिए समुदाय से भिन्न व्यक्ति का कोई स्वहित हो ही नहीं सकता।
- (ख) उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता, उसके हितों व अधिकारों पर बल देता है। उदारवाद का मानना है कि व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों के साथ, समाज में प्रचलित परम्पराओं, प्रथाओं इत्यादि के साथ प्रतिबद्धता का अनुभव नहीं करना चाहिए। यह व्यक्ति के ध्येय या लक्ष्य को समाज के ध्येय से पहले रखता है। जबकि समुदायवाद मानता है कि व्यक्ति की पहचान उसकी सामाजिक स्थिति के प्रति विशेष प्रतिबद्धता से बनती है।
- (ग) उदारवादी यह मानते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था केवल उचित का निर्णय करती है, उसमें भीतर अपने शुभा का निर्णय करना व उसकी सिद्धि करना व्यक्ति का काम है जबकि समुदायिकता का मानना है कि राजनीतिक व्यवस्था उचित व शुभ दोनों के निर्णय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और वह नागरिकों को उनके शुभ की सिद्धि में सहायता भी करती है।
- (घ) उदारवादियों के अनुसार 'सामान्य शुभ' सब व्यक्तियों में 'व्यक्तिगत शुभ' का जोड़ है, जो परस्पर विरोधी हितों के सामंजस्य के रूप में सार्थक होता है वहीं दूसरी ओर समुदायवादियों के अनुसार 'सामान्य शुभ' वहां सार्थक होता है जहां सब व्यक्तियों के व्यक्तिगत शुभ एकाकार हो जाते हैं। उनका मानना है कि सरकार को ऐसे सुसंगठित समाज का सृजन करना चाहिए जिसकी गतिविधियों में भाग लेकर नागरिक अपने जीवन को संवार सके।

28.3.2 समुदायवाद की मान्यताएं— सामान्यतः समुदायवाद उदारवाद का आलोचक विचार है। यह उदारवाद का ऐसा विकल्प प्रस्तुत करता है जिससे यह सामाजिक प्रगति के लिए अधिक सार्थक माना जा सकता है। सामान्यतः समुदायवाद की निम्न मान्यताएँ हैं:-

1. समुदायवाद स्वतंत्रता व समानता के स्थान पर सामुदायिक जीवन के लिए आवश्यक व सामुदायिक जीवन से जुड़े मूल्यों पर अधिक बल देता है।
2. व्यक्ति की तत्कालीन उन सरोकारों, मान्यताओं, लक्ष्यों, आँकाक्षाओं व परम्पराओं के साथ जुड़ी है, जो उसके सामाजिक जीवन में रची-बसी है। अर्थात् व्यक्ति का विवेक व तत्कालीन समाज की देन है। अतः व्यक्ति को समाज का ऋणी होना चाहिए।
3. राज्य का कार्य उन सांस्कृतिक परम्पराओं व सामाजिक भूमिकाओं को संरक्षण प्रदान करना है जिनके माध्यम से सब नागरिकों में शुभ की सिद्धि की जा सके। समुदायवादियों का मानना है कि राज्य द्वारा ऐसे सामान्य शुभ की रचना करना होना चाहिए जिसमें न केवल सब नागरिकों का शुभ निहित हो वरन् जिसका पालन करना सभी नागरिकों का कर्तव्य भी हो।
4. समुदायवादी राज्य के तटस्थ विचारके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया देता है। इनका मानना है कि एक स्वतंत्र व न्याय पर आधारित राज्य जनकल्याण के साथ गहराई से जुड़ा है। समुदायवादियों का मानना है कि किसी भी

राजनीतिक समाज को अपनी वैधता स्थापित करने के लिए सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से अपना औचित्य स्थापित करना होगा, पृथक-पृथक व्यक्तियों की दृष्टि से नहीं।

28.4 गणतंत्रवाद अर्थ व परिचय— गणतंत्रवाद की संकल्पना मूलतः प्राचीन रोम के चिन्तन की देन है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि सार्वजनिक मामले सार्वजनिक सरोकार का विषय होने चाहिए। अर्थात् राज्य का प्रबंध सक्रिय नागरिकों का कर्तव्य है, सम्राटों, अभिजातवर्ग या राजनीतिक दलों का नहीं। इस कल्पना का मानना है कि जब नागरिक स्वयं राजनीति में हिस्सा लेते हैं तो उनके निर्णय सार्वजनिक होते हैं इस परम्परा का सम्बन्ध अरस्तु, सिसरो, मैकियावेली व रूसो तथा 18वीं शताब्दी के कामनवेल्थ सिद्धान्तकारों से रहा है। आधुनिक समय में इस परम्परा को **हन्ना ओरेन्ट, जॉन पोकोक, स्कीनर, फिलिप पैटिट** आदि की ओर से समर्थन प्राप्त हुआ।

गणतंत्रवाद शब्द को राजतंत्र अथवा सम्राटों के किसी शासन के विपरीत की स्थिति को परिभाषित करने के लिए किया जाता है जहाँ राजतंत्र में एक राजा अपनी प्रजा पर वैयक्तिक शासन करना है तथा वैयक्तिक हितों की पूर्ति हेतु अधिकांशतः शक्ति का प्रयोग करना है जबकि गणतंत्रवाद नागरिकों द्वारा किया गया शासन है तथा शासन है तथा शासन सामान्य हित में किया जाता है।

अतः गणतंत्रवाद का विचार “व्यक्ति के शासन” को कानून के शासन में परिवर्तन करने का एक प्रयास है। समकालीन विश्व में गणतंत्रवाद की मांग यह है कि—

- नागरिकता का अधिकार समुदाय के सब सदस्यों को समान रूप से प्राप्त हो।
- सार्वजनिक निर्णय की प्रक्रिया में सब नागरिकों की सहभागिता को बढ़ावा दिया जाए। इस दृष्टि से गणतंत्रवाद निरे लोकतंत्र का पर्याय नहीं है बल्कि सहभागितामूलक लोकतंत्र के अधिक निकट आता है।

अतः इस प्रकार सिद्धान्त को दृष्टि से गणतंत्रवाद का सिद्धान्त राजतंत्र व अभिजाततंत्र दोनों का विरोध करता है। गणतंत्रवाद यह मांग करता है कि कानून बनाने तथा बदलने का कार्य सक्रिय नागरिकों द्वारा मिलजुलकर किया जाना चाहिए अर्थात् राज्य के सारे नियम, नीतियाँ, निर्णय और कार्यक्रम निर्धारित करने में नागरिकों सक्रिय सहयोग अनिवार्य है।

28.4.1 गणतंत्रवाद: स्वतंत्रता की अवधारणा— गणतंत्रवाद की अवधारणा स्वतंत्रता की संकल्पना के साथ जुड़ी हुई है। लेकिन गणतंत्रवाद स्वतंत्रता के विचार उदारवाद की स्वतंत्रता की संकल्पना से भिन्न प्रकार के है। उदारवादी विचारक **आइडिया बलिन** ने अपनी रचना “जूब ब्दबमचजे वी स्पइमतजल” में स्वतंत्रता की दो भिन्न संकल्पनाओं का वर्णन किया था— नकरात्मक व सकारात्मक स्वतंत्रता। नकरात्मक स्वतंत्रता से आशय था—अन्यों द्वारा हस्तक्षेप का अभाव, दूसरी ओर स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना का आशय है—स्व स्वामित्व की उपस्थिति तथा स्व स्वामित्व संकल्पना का आशय है—व्यक्ति का अपने विवेक द्वारा अपने आवेगों पर नियंत्रण। गणतंत्रवादी विचारक ‘गणतंत्रीय स्वतंत्रता के रूप में स्वतंत्रता के एक ओर अधिक समृद्ध एवं वैध रूप का लेखा देने का प्रयास करते हैं। जैसा कि पैटिट ने कहा है—“स्वतंत्रता स्व स्वामित्व की उपस्थिति में नहीं है और न ही अन्यों में स्वामित्व के अभाव में प्रभुत्वता के अभाव में है अपितु अन्यों के स्वामित्व के अभाव में है, समप्रभुत्वता के अभाव में निहित होती है..... अर्थात् स्वतंत्रता अप्रभुत्वता है।”

अतः इस प्रकार गणतंत्रवादी स्वतंत्रता को अप्रभुत्वता के रूप में लेते हैं या स्वतंत्रता का विचार प्रभुत्वता का अभाव है के रूप में लेते हैं। इनका मानना है कि प्रभुत्वता प्रायः सांस्कृतिक रूप से श्रेणीबद्ध वर्गों से जुड़ी संकल्पना है—लिंग, नस्ल, धर्म, वर्ग आदि। जबकि अप्रभुत्वता के रूप में स्वतंत्रता का आनन्द तथा उसकी सुरक्षा तब होती है जब ऐसी स्वतंत्रता का आनन्द सभी ओर विशेष रूप से कमजोर वर्गों के लोग ले सकें। इस संदर्भ में पैटिट ने तर्क दिया कि जब अहस्तक्षेप के रूप में स्वतंत्रता को जगह अप्रभुत्वता के रूप में स्वतंत्रता ले लेगी तब राजनीतिक सिद्धान्त में नारीवाद, बहुसंस्कृतिवाद तथा पर्यावरण रूपी संघों को मान्यता व समर्थन मिल जायेगा। गणतंत्रवादियों की आस्था है कि अप्रभुत्वता रूपी स्वतंत्रता तभी प्राप्त हो सकती है, जब प्रत्येक नागरिक दूसरों की शक्ति द्वारा शासित अथवा दूसरों की शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं होगा। इस प्रकार गणतंत्रीय स्वतंत्रता शासन करने की इच्छा नहीं है परन्तु दूसरों द्वारा शासित न होने की इच्छा भी है।

28.4.2 गणतंत्रवाद: सरकार की अवधारणा— गणतंत्रवादी सरकार या शासन को अवधारणा में नागरिक गुण का सिद्धान्त, सामान्य हित का विचार तथा सक्रिय नागरिक भागीदारी की धारणा को शामिल करते हैं। नागरिक गुण के विचार से गणतंत्रवादियों का अभिप्राय है, सामान्य हित को अपने अथवा अपने परिवार के हित में ऊपर रखना। समुदायवादियों के समान गणतंत्रवादियों का भी मानना है कि नागरिकों के रूप में लोगों के सामान्य हित को वैयक्तिक हितों के ऊपर रखना चाहिए।

इसी प्रकार गणतंत्रवादियों का मानना था कि राज्य के सरकारी कर्मचारी शक्ति के मनमाने प्रयोग द्वारा लोगों को गणतंत्रीय स्वतंत्रता से वंचित कर सकते हैं। इसलिए गणतंत्रवादी सुझाव देते हैं कि सक्रिय सहायता से नागरिक सरकार व उसके कर्मचारियों पर सतत चौकसी रख सकते हैं। अतः इस प्रकार गणतंत्रवादी नागरिक गुण, सामान्य हित, सक्रिय,

नागरिक सहभागिता, मिश्रित संविधान व शक्तियों के पृथक्करण इत्यादि सब तत्वों को मिलाकर गणतंत्रीय सरकार के विचार को साकार करते हैं।

28.5 समुदायवाद व गणतंत्रवाद में परस्पर संबंध— समुदायवाद तथा नागरिक गणतंत्रवाद में समानता यह है कि दोनों परिप्रेक्ष्यों ने उदारवादी व्यक्तिवादी धारणा के विरुद्ध एक सशक्त समीक्षा प्रस्तुत की है तथा उस धारणा के विरुद्ध विकल्प प्रदान किए हैं।

- दोनों का यह मत है कि मनुष्य सामाजिक व राजनीतिक प्राणी है और इस कारण से व्यक्ति अच्छे जीवन तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए संघ या समुदायों में एक दूसरे के साथ रहते हैं।
- दोनों उदारवादी व्यक्तिवादी धारणा के इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते कि स्वयं, अपने साध्यों से अलग तथा असंबंधित होता है। समुदायवादियों के अनुसार, उदारवादी व्यक्तिवादी ऐसे सोच अवास्तविक है, गणतंत्रवादियों के अनुसार ऐसी सोच एक अच्छे तथा स्वतंत्र राज्यतंत्र की स्थापना के लिए वांछनीय नहीं है।
- समुदायवादी तथा नागरिक गणतंत्रवादी राज्य को नकारात्मक भूमिका न देते हुए उसकी सकारात्मक भूमिका की बात करते हैं। दोनों के अनुसार, एक न्यायुक्त राज्य तटस्थ न होकर एक ऐसा राज्य होता है जो सामान्य हित की सुरक्षा तथा उसको प्रोत्साहन देता है।
- समुदायवाद तथा नागरिक, गणतंत्रवाद, दोनों समुदाय तथा सांस्कृतिक सदस्यता को सार्वजनिक क्षेत्र में प्राथमिकताओं को सुनिश्चित करने के लिए अनिवार्य समझते हैं, समुदायवादी सामुदायिक सदस्यता को केन्द्रीय महत्व देते हैं, जबकि नागरिक गणतंत्रवादी अप्रभुत्वता के रूप में स्वतंत्रता पर अधिक बल देते हैं।

समुदायवाद तथा नागरिक गणतंत्रवाद में मुख्य भेद यह है कि जहाँ समुदायवादी तटस्थ राज्य की संभावना का खण्डन करते हैं, वहाँ नागरिक गणतंत्रवादी ऐसे राज्य की संभावना की कामना करते हैं जो अपने क्षेत्र को धार्मिक तथा उससे भी संबंधित मुद्दों तक बढ़ा देता है।

समुदायवाद तथा नागरिक गणतंत्रवाद दोनों, यद्यपि भिन्न-भिन्न तरीकों से राजनीतिक सिद्धान्त में अपना अपना विशेष योगदान देते हैं। समुदायवादी योगदान इस प्रकार रहा है, व्यक्ति तथा समुदाय के सम्बन्ध में समुदायवादी सूझ-बूझ, लोगों द्वारा चयन में सामुदायिक सदस्यता तथा मूल्यों का महत्व, राज्य तटस्थता के विचार की समालोचन करते हैं। इसी प्रकार नागरिक गणतंत्रवादियों का योगदान है कि अप्रभुत्वता के रूप में स्वतंत्रता का विचार, प्रभुत्वता तथा हस्तक्षेप के बीच सूक्ष्म भेद तथा नागरिक गुण व सहभागिता पर बल आदि।

28.6 निष्कर्ष— उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों ही संघ समकालीन संकल्पना उदारवादी व्यक्तिवाद के विकल्प के रूप में उभरी तथा दोनों एक ही ध्येय मनुष्य को सामाजिक व राजनीतिक प्राणी के रूप में स्थापित करना था अपने उद्देश्यों को लेकर क्योंकि दोनों संकल्पना ही प्रासंगिक है इसलिए उन्हें वैकल्पिक सिद्धांतों के रूप में वर्तमान राजनीतिक व्यवहार में लाना अपेक्षित है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. समुदायवाद की अवधारणा को समझाइए?
2. समुदायवाद द्वारा उदारवादी व्यक्तिवादों की गई आलोचनाएं बताइए?
3. गणतंत्रवाद क्या है? गणतंत्रवाद को स्वतंत्रता की धारणा का विवेचन कीजिए ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. समुदायवाद का महत्व बताइए?
2. समुदायवाद की मान्यताएं बताइए ?
3. गणतंत्रवाद की संकल्पना क्या है ?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. समुदायवाद वाद की परिभाषा ?
2. गणतंत्रवाद का अर्थ?

भूमंडलीकरण विश्व में राजनीतिक सिद्धान्त

29.1 उद्देश्य

29.2 प्रस्तावना

29.3 भूमंडलीकरण की अवधारणा

29.4 राजनीतिक सिद्धान्त का विकास

29.5 भूमंडलीकरण व राजनीतिक सिद्धान्त

29.6 निष्कर्ष

29.1 उद्देश्य— उद्देश्य प्रस्तुति कार्य का उद्देश्य यह है कि—

- यह जाना जा सके कि भूमंडलीकरण की अवधारणा क्या है तथा इसमें क्या क्या परिवर्तन हो रहे हैं?
- भूमंडलीकरण विश्व में राजनीतिक सिद्धान्त का विकास किस प्रकार हो रहा है?
- दोनों के मध्यम परस्पर क्या संबंध है?

29.2 प्रस्तावना— भूमंडलीकरण बाजार विश्व को एकीकृत करने का एक प्रयास है। समय परिवर्तन के साथ विश्व की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई दे रहा है आधुनिक विश्व उदारीकरण निजीकरण जैसी नीतियों से संचालित हो रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में समाजवाद पर उदारवाद की, एक एक दलीय शासन पर, लोकतंत्र की तथा केंद्रीकृत अर्थव्यवस्था पर मुक्त व्यापार अर्थव्यवस्था की जीत हुई है। यह परिवर्तन किसी न किसी प्रकार से राजनीतिक सिद्धान्त पर भी न केवल प्रभाव डाल रहे हैं वरन् उसे विकसित भी कर रहे हैं।

29.3 भूमंडलीकरण की अवधारणा— भूमंडलीकरण की अवधारणा का विकास 1980 के दशक में विशेष लोकप्रिय हुआ। यह अवधारणा उदारीकरण व निजीकरण में ताकिक परिणाम को व्यक्त करती है। उदारीकरण में अन्तर्गत आर्थिक गतिविधि की कार्य कुशलता और उससे मिलने वाले लाभ की अधिकतम वृद्धि में लिए उस पर से सरकारी प्रतिबंध व नियंत्रण हटा लिये जाने हैं वही निजीकृत के अन्तर्गत राज्य में बोझ को कम करने के लिए किन्हीं विशेष वस्तुओं और सेवाओं में उत्पादन या वितरण को सार्वजनिक, था। सरकारी स्वामित्व से निकाल कर गैर सरकार निजी क्षेत्र में अधिकार में रख दिया जाता है। अतः भूमंडलीकरण उदारीकरण व निजीकरण का अगला कदम या चरण है जिसमें विश्व में व्यक्तियों व समुदायों के जीवन में विश्वव्यापी आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभाव के दायरे में ला दिया। भूमंडलीकरण के कारण अब व्यक्तियों व समुदायों की उन्नति के लिए राष्ट्र राज्य की सीमाएँ कोई बाधाएँ नहीं रह गयी हैं। भूमंडलीकृत बाजार व्यवस्था विश्व को समेट कर एकीकृत कर रही है। समय में परिवर्तन के साथ विश्व में सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण बदलाव आ रहे हैं। ये परिवर्तन किसी न किसी प्रकार से राजनीतिक सिद्धान्त में नए विचारों को जन्म देते हैं और उन्हें विकसित करते हैं।

29.4 राजनीतिक सिद्धान्त का विकास— किसी भी काल का विचारक अपने समय की समस्त स्थितियों के प्रति संवेदनशील होता है। वह कभी शून्य में नहीं लिखता अपितु अपने समय की समस्याओं को देखता है, महसूस करता है, तब वह समाज की बुराइयों के निराकरण के उपाय ढूँढना चाहता है। राजनीतिक विचारक सामाजिक त्रुटियों एवं बुराइयों के लिए आंदोलित होते हैं अतः वे उन्हें दूर करने के प्रयास के साथ में विकल्प प्रस्तुत करते हैं। प्लेटो एथेंस में सड़ी-गली राज्य व्यवस्था में रहते थे। उन्हें आभास हुआ कि यूनानी नगरों के राजा भ्रष्ट अयोग्य थे। अतएव उन्होंने आदर्श राज्य की परिकल्पना की और सड़े-गले राज्यों के प्रति प्रतिक्रिया थी। उन्होंने तर्क व वर्चस्व के साथ दार्शनिक राजा के शासन का सुझाव दिया।

थॉमस हॉब्स ने 16वीं एवं 17वीं शती के इंग्लैंड में हिंसा एवं कानूनविहीनता को देखा। राजाओं के दैवी अधिकारों की अप्रासंगिकता को देखा। राजाओं के दैवी अधिकारों की अप्रासंगिकता ने उन्हें सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की वकालत करने को प्रेरित किया।

मार्क्स 19वीं शताब्दी के यूरोप में पूँजीवादियों द्वारा मजदूरों के शोषण की दयनीय हालत से चिंतित थे। अतः उन्होंने मजदूर वर्ग को विद्रोह करके पूँजीवाद का उन्मूलन करने के लिए प्रोत्साहित किया, जिससे शोषण समाप्त हो।

गौधीजी ने औद्योगिकरण की प्रकृति पर अमानवीय प्रभावों का अनुभव किया। साथ ही भौतिकवाद तथा उपभोक्तावाद की बुराइयों को भी देखा। इस कारण उन्होंने सत्य व अहिंसा पर आधारित मानवीय राजनीतिक व्यवस्था एवं आध्यात्मिकता व समुदायवाद पर आधारित एक सामाजिक व्यवस्था लाने पर जोर दिया। उपयुक्त उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध होता है कि इतिहास में प्रत्येक युग का राजनीतिक सिद्धान्त प्रचलित राजनीतिक व सामाजिक दशाओं के प्रति राजनीतिक विचारक की प्रतिक्रिया रहा है।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त की दो प्रमुख राजनीतिक विचारधाराएँ हैं:

1. उदारवाद
2. मार्क्सवाद

- (i) **उदारवाद**— उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त लोकतांत्रिक शासन को प्राथमिकता देता है। वह सार्वभौमिक मानवाधिकारों का पक्षधर है। उदारवाद में सामान्य हित प्रधान होता है।
- (ii) **मार्क्सवाद**— मार्क्सवाद राजनीतिक सिद्धान्त समाज में दो वर्गों के अस्तित्व को मानता है मानव समाज वर्गों में बँटे होते हैं—शोषक वर्ग (पूँजीवादी) एवं शोषित वर्ग (श्रमिक) दोनों वर्गों में संघर्ष रहता है। मार्क्सवाद के अनुसार वर्ग—संघर्ष क्रांति में शोषित वर्ग की जीत के साथ समाप्त होगा।

29.5 भूमंडलीकरण व राजनीतिक सिद्धान्त—

- **उत्तर-आधुनिकवाद का उदय**— उदारवाद एवं मार्क्सवाद सिद्धान्तों के विकल्प के रूप में हुआ है। उत्तर-आधुनिकवादी महिला, अश्वेत, आदिवादी इत्यादि लोगों के विशिष्ट समूहों के अधिकारों की बात करते हैं। नवीन सामाजिक आन्दोलनों का महत्वपूर्ण तत्व 'पहचान-राजनीति' है। यह लिंग, जाति, रंग व नस्ल पर आधारित सामाजिक आधिपत्य के विशिष्ट समूहों को चुनौती देते हैं। पहचान राजनीतिक मानती है कि व्यक्ति अपने किसी सांस्कृतिक समूह से संबंधित होते हैं। ये सांस्कृतिक समूह विशेषाधिकारी एवं शक्तिशाली समूहों द्वारा उत्पीड़ित होता है, क्योंकि वर्चस्वशाली समूह पुरुषों, ऊँची जाति, सफेद नस्ल या साम्राज्यवादी देशों का होता है, जबकि सांस्कृतिक समूह कमजोर होता है। यह राजनीतिक सिद्धान्त स्थानीय संघर्षों को मानता है तथा विशेष सांस्कृतिक समूहों के सशक्तिकरण पर बल देता है।
- **भूमण्डलीकरण तथा पहचान राजनीति**— पहचान राजनीति का मानना है कि व्यक्तिगण स्वयं को एक सुस्पष्ट, सांस्कृतिक समूह से संबंधित होने के रूप में परिभाषित करते हैं। पहचान राजनीति के दो प्रमुख पहलू हैं:
 - (i) पहचानें अनेक हैं। उत्तर-आधुनिकवादी नारी की लिंग पहचान को अन्य पहचानों से अधिक प्रधानता देंगे। नारी की लिंग पहचान एक जाति, धर्म, समुदाय, क्षेत्र भाषाई समूहों से संबंधित होती है। क्योंकि ये सभी पहचानें भी नारी की ही हैं। भूमण्डलीकरण के काल में इन सब में से कौन-सी पहचान पहत्वपूर्ण होगी या कौन-सी तुच्छ—यह राजनीति की प्रासंगिकता को दिशा देगी।
 - (ii) भूमण्डलीकरण के समय में जिस प्रकार से पहचानें बनेंगी, उसी पर राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति निर्भर करेगी। क्योंकि सभी पहचानें राज्य में समाज द्वारा निर्मित होती हैं और समाज राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति का निर्णायक तत्व है। अतः पहचानें भूमण्डलीकृत राज्य में सिद्धान्तों की प्रकृति का निर्धारण करेंगी।

राजनीति सिद्धान्त में मिश्रण— भूमण्डलीकरण के दौर में जो राजनीति सिद्धान्त होगा, वह उदारवाद एवं मार्क्सवाद की मिली-जुली विचारधाराओं के अनुरूप होगा। तात्पर्य यह है कि भूमण्डलीकरण के युग का राजनीतिक सिद्धान्त एक स्तर पर उदारवाद तथा मार्क्सवाद का मिश्रण होगा और दूसरे स्तर पर उत्तर-आधुनिकवादी तथा आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों की प्रवृत्तियों का मिश्रण होगा। इस प्रकार भूमण्डलीकरण के दौर में राजनीतिक सिद्धान्त की कोई विशेष प्रकृति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वह विभिन्न रूझानों एवं प्रवृत्तियों के मिश्रण का युग होगा, जिसमें राजनीतिक-सिद्धान्त की प्रकृति विभिन्न स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों पर निर्भर करेगी। सामाजिक न्याय का मुद्दा समाज में बढ़ती गरीबी एवं असमानता को लेकर चलता है। भूमण्डलीकरण काल में यह असमानता एवं गरीबी के बीच केन्द्रीय स्थान ले सकता है। लोकतंत्र की भागीदारी विस्तृत हो जाएगी। राजनीतिक सिद्धान्त व्यवस्था तथा अव्यवस्था और सार्वभौम तथा विशिष्ट—इनका सम्मिश्रण होगा। इस प्रकार कुछ आयामों पर राज्य कमजोर हो सकता है, परन्तु अन्य पर शक्तिशाली साबित होगा।

कल्याणकारी राज्य बनाम न्यूनतम राज्य— भूमण्डलीकरण के दौर में आधुनिक कल्याणकारी राज्य का कार्यक्षेत्र घट जाएगा। वर्तमान राज्य एक अधिकतम राज्य बन गया है। परन्तु यदि उसके कल्याणकारी कार्य कम हो जाएँगे, तो वह एक न्यूनतम राज्य बन जाएगा। भविष्य का राज्य विनियमन संबंधी कार्यों का यथावत् करता रहेगा, परन्तु वितरण संबंधी कार्य सीमित हो जाएँगे। आधुनिक कल्याणकारी राज्य का आधार अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख का उपयोगितावादी

दर्शन रहा है। लेकिन भविष्य के राज्य में ऐसा नहीं होगा। राज्य का निर्देशक सिद्धान्त नहीं रहेगा, लेकिन समय-समय पर चुनाव होते रहेंगे, जिससे राज्य को वैधीकरण प्राप्त होता रहेगा। इस प्रकार राज्य कल्याणकारी कार्यों को करता रहेगा। भूमण्डलीकरण के युग में आधुनिक राज्य की दो विरोधी संरचनाएँ उभरेंगी—

राज्य आंतरिक रूप से सर्वोच्च तथा बाहरी रूप से स्वतंत्र होता है। राज्य का यह गुण उसकी सम्प्रभुता कहलाता है। भूमण्डलीकरण के दौर में आशा की जाती है कि राज्य की सम्प्रभुता का बाहरी रूप या तो समझौता कर लेगा अथवा वह एक मिथ बन जाएगा। राज्य को विश्व संगठनों के अनुरूप स्वयं का ढालना होगा। विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र संघ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे विश्व संगठनों एवं भूमण्डलीय गठबंधनों के अपने विशेष नियम होते हैं। भविष्य का राज्य इनसे अलग नहीं जा सकता है। अतः उसे भूमण्डलीय आधार पर निर्धारित नियमों के अनुसार ही अपना व्यवहार बनाना होगा।

राज्य बनाम नागरिक समाज—नागरिक समाज की भूमिका लोकतांत्रिक सिद्धान्त के युग में महत्वपूर्ण होती जा रही है। समूह सरकार के निर्णयों में पारदर्शिता चाह रहे हैं। जैसे मेधा पाटकर तथा अरुंधती राय के नेतृत्व में “नर्मदा बचाओ आंदोलन”, सुन्दरलाल बहुगुणा का “चिपको आंदोलन” आदि का काम सरकार के विभिन्न अंगों को उचित मर्यादाओं में रखना है। ये लोकहित मुकदमे सरकार के कार्यकलापों पर दृष्टि रख रहे हैं। भूमण्डलीय गरमाहट, ओजोन पर्त में छिद्र की समस्या सभी सरकारों के लिए चिंता का कारण बना हुआ है। राजनीतिक सिद्धान्त अब इनके उत्तर देने की जिम्मेदारी से मुख नहीं मोड़ सकता।

सरकारी व्यापार संगठन, बहुराष्ट्रीय संगठन तथा गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका—बहुराष्ट्रियों की बढ़ती भूमिका के कारण राज्य की भूमिका संकट में है। राज्य आंतरिक सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि विश्व-व्यापार संगठन तथा विश्व बैंक के अंतर्गत विभिन्न राज्यों को अब संरचनात्मक सुधारों के लिए मजबूर किया जा रहा है। भूमण्डलीकरण में प्रत्येक राज्य को इन सुधारों एवं परिवर्तनों को मानना होगा। सामूहिक सुरक्षा, मानव सुरक्षा तथा मानव अधिकारों के मामलों में आधुनिक राज्य गैर-सरकारी संगठनों के आदेशों का भी पालन करना पड़ रहा है। राज्य आन्तरिक क्षेत्र में अपने नागरिकों के विरुद्ध भी हिंसा प्रयोग के लिए स्वतंत्र नहीं है। सूचना एवं विकास के अधिकार मौलिक अधिकारों की श्रेणी में आ जाएंगे। पारिस्थितिक संतुलन व पर्यावरण विषय अत्यंत प्रासंगिक हो जायेंगे।

29.6 निष्कर्ष—अतः इस प्रकार से उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि भूमण्डलीकरण के युग में राजनीतिक सिद्धान्त की सर्व प्रमुख संकल्पना राज्य की प्रभुता धुंधला ने लगी है। राजनीतिक व्यवस्था पर विश्व संगठनों यथा विश्व बैंक संयुक्त राष्ट्र संघ अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष अधिक का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इस कारण राज्य की वाइफ सम्प्रभुता स्वतंत्र न होकर सीमित होती जा रही है। भूमण्डलीकरण के इस युग में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष का विचार पीछे रह गया है लेकिन इसके स्थान पर जातीय संघर्ष न स्थलीय गिरना तथा वैमनस्य बढ़ता जा रहा है राजनीति में नैतिकता अपना स्थान खो रही है अरस्तु द्वारा प्रतिपादित सामाजिक राजनीतिक मनुष्य केवल अधिक प्राणी के रूप में एक उपभोक्ता मात्र बनकर रह गया है। अतः इस प्रकार भूमण्डलीकरण पूंजीवाद का नया रूप है जिसने संपूर्ण राजनीतिक संकल्पनाओं में न्यूनाधिक परिवर्तन किया है

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. भूमण्डलीकरण की अवधारणा को समझाते हुए राजनीतिक सिद्धान्त पर इसके प्रभाव को स्पष्ट कीजिए?
2. भूमण्डलीकरण के दौर में राजनीति सिद्धान्त के प्रमुख विचलनों को बताइए?